उत्तर प्रदेश में भूमि सुधार और कुलक वर्ग

चरण सिंह

1986

उत्तर प्रदेश में भूमि सुधार और कुलक वर्ग

चरण सिंह
किसान ट्रस्ट

चरण सिंह अभिलेखागार
www.charansingh.org
info@charansingh.org

प्रकाशनाधिकार © चरण सिंह अभिलेखागार

प्रथम संस्करण १९८६, किसान ट्रस्ट

अगस्त २०२४
चरण सिंह अभिलेखागार द्वारा प्रकाशित
www.charansingh.com
info@charansingh.org

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन को केवल पूर्व अनुमति के साथ
पुनः प्रस्तुत, वितरित या प्रसारित किया जा सकता है।
अनुमति के लिए कृपया लिखें info@charansingh.org

अक्षर तथा आवरण संयोजन राम दास लाल
सौरभ प्रिंटर्स प्राइवेट लिमिटेड, ग्रेटर नोएडा, भारत द्वारा मुद्रित।

मीर सिंह और नेत्र कौर। १९५०
चरण सिंह के माता–पिता

5 बच्चों में सबसे बड़े चरण सिंह का जन्म १९०२ में संयुक्त प्रान्त आगरा एवं अवध के नूरपुर गाँव, ज़िला बुलन्दशहर के एक गरीब बटाईदार परिवार में हुआ था। आधुनिक दृष्टि से अशिक्षित, मीर सिंह और नेत्र कौर एक मेहनती किसान समुदाय से थे जिन्हे अपने हाथों से खेती करने का गहन पीढ़ीगत ज्ञान था।

"[मैं]... एक साधारण किसान के घर में कच्ची मिट्टी की दीवारों पर टिकी हुई फूस की छत के नीचे पैदा हुआ था... जहां पीने के पानी और सिंचाई के लिए एक कच्चा कुआँ था।" चरण सिंह, १९८२

गरीबी में जन्मा यह शिशु आगे चलकर १९४७ की आजादी के बाद एक स्वदेशी सामाजिक, आर्थिक और विकासात्मक विश्वदृष्टिकोण की सबसे प्रमुख राजनीतिक आवाज बना। चरण सिंह के दृष्टिकोण की जड़ें भारत की संस्कृति से जीवन लेती हैं–स्व–काश्त किसानों के एकीकृत गाँव, भूमिहीन हस्तकरघा कारीगरों के लिए भरपूर व्यवसाय, और जाति, गरीबी, असमानता, बेरोजगारी और भ्रष्टाचार से मुक्त नैतिक और उन्नत समाज।

प्रकाशक की ओर से

'लैण्ड रिफॉर्म्स इन यू० पी० एण्ड दि कुलक्स' नामक पुस्तक चौधरी चरण सिंह ने 'सर्वनाम शैली' में लिखी है। इसमें राजस्व मंत्री चौधरी चरण सिंह द्वारा उत्तर प्रदेश में किये गये भूमि सुधारों के विषय में लेखक चौधरी चरण सिंह ने विस्तृत जानकारी दी है। कुछ राजनेताओं–पत्रकारों द्वारा चौधरी चरण सिंह पर कुलक वर्ग (धनी किसानों) का पक्षधर होने का आरोप लगाया जाता रहा है, परन्तु यह आरोप कितना निराधार है, इसकी जानकारी इस पुस्तक में उल्लेखित उनके द्वारा किये गये भूमि सुधारों से स्वतः ही मिल जाती है। वस्तुतः उनके द्वारा खेतिहर मजदूरों और छोटे किसानों के पक्ष में अनवरत तीन दशकों (1936–1966) तक किये गये संघर्ष के विषय में जानकर पूर्वाग्रह–मुक्त कोई भी व्यक्ति यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि चौधरी साहब को 'कुलकों का हिमायती' कहना उनके साथ कितनी बड़ी नाइंसाफी है।

इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए किसान ट्रस्ट 1986 में अंग्रेजी में प्रकाशित उक्त पुस्तक का हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत कर रहा है। उत्तर प्रदेश में भूमि–सुधारों को लेकर चौधरी साहब पर धनी किसानों का पक्षधर होने के जो आरोप लगाये गये हैं, उनको निराधार प्रमाणित करने में यह पुस्तक सहायक सिद्ध होगी, ऐसा किसान ट्रस्ट का विश्वास है।

आमुख

भारत को ब्रिटिश हुकूमत से 'जमींदारी' नामक एक सामंती या जमींदार–रैय्यत वाली प्रथा विरासत में मिली, जिसके तहत भूमि का स्वामित्व मुट्ठी भर लोगों के हाथ में सिमट गया, जबकि भूमि पर दिन–रात मेहनत करने वाले विशाल बहु–संख्यक लोग महज रैय्यत होकर रह गये।

जमींदारों का आर्थिक गतिविधियों में कोई योगदान नहीं थाः जो ज़मीनें रैय्यतों द्वारा जोती जाती थीं, वे तब भी कम पैदावार नहीं देतीं अगर जमींदार होते ही नहीं। जो लगान वे पाते थे, उसके बदले में वे किसी तरह का सेवा कार्य नहीं करते थे तथा सही अर्थ में वे परजीवी कीड़े या 'सार्वजनिक छत्ते में निठल्ले पड़े रहने वाले विलासी नर–मधुमक्खी' थे।

सम्मानित अपवाद की तरह वे गैर–खेतिहर भू–स्वामी बिना कमाई के मिले पैसे अंधाधुंध खर्च करते हुए अपना विलासितापूर्ण जीवन बड़े ठाठ से बसर करते थे। अपने देशवासियों के लिए वे उदात्त जीवन के आदर्श नहीं थे और इस तरह राष्ट्रीय चरित्र की गरिमा को घटाने का ही काम करते थे।

इन तथा अन्य कई कारणों से देश के राष्ट्रीय नेतृत्व ने निश्चय किया कि अगर सामाजिक और आर्थिक सुधार के लिए तथा राजनीतिक स्थिरता के लिए रुकावटें साफ की जानी हैं, तो जमींदार–रैय्यत वाली सामंती प्रथा को खत्म होना ही है।

संसदीय सचिव और राजस्व मंत्री दोनों ही रूपों में चरण सिंह ने भारतीय संघ के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश में इस दूषित प्रथा के उन्मूलन में प्रमुख भूमिका निभाई, इससे ऐसे सारे लोगों के अनेक सच्चे मित्रों को मार्गदर्शन मिला, जो अधिक प्रतिदान पाये बिना धरती माता को रिझाने के लिए दिन–रात मेहनत कर रहे थे। फिर भी, जनता की नजर में चरण सिंह को लांछित करने के लिए अनेक पत्रकारों और राजनीतिज्ञों ने उन्हें 'कुलकों' या धनी किसानों का मित्र कहते हुए उनकी निन्दा की। अब इस एकालाप के पाठक ही तय करेंगे कि यह आरोप कहां तक सही है तथा यह सच्चाई और जनहित की भावना से प्रेरित है या ऐसे अभिप्रायों से जो किसी भी देश के सार्वजनिक जीवन के उद्देश्यों से मेल नहीं खाते।

रूसी भाषा में, 1917 की क्रांति से पहले, 'कुलक' शब्द से एक ऐसे बेईमान देहाती व्यापारी का बोध होता था जो अपने श्रम से नहीं,

किसी और के श्रम से धनवान होता था—सूदखोरी के जरिए, दलाली का धंधा करते हुए। फिर भी, इसी के फलस्वरूप 1930 से, अलेक्जेंडर सोल्झेनित्सिन के अनुसार, "कृषक वर्ग की ताकत को नष्ट करने के लिए 'कुलक' शब्द का प्रयोग बदले हुए अर्थ में किया जाने लगा, जबकि भूमि सम्बंधी महान राज्यादेश जारी हुए सिर्फ बारह ही वर्ष बीते थे वही राज्यादेश जिसके बिना किसान बोलशेविकों का साथ देने से इंकार कर देते और जिसके बिना क्रांति विफल हो गई होती। ईर्ष्या—जलन और अपमान का हिसाब चुकता करने के लिए यह सही समय था। एक वर्ग के तौर पर इन सारे नये शिकारों के लिए एक नये शब्द की जरूरत थी और उसने जन्म लिया। इसमें अब तक एक अपूर्व ध्वनि आ गई थीः 'पॉडकुल्कनिक' 'कुलकों' का मददगार व्यक्ति। दूसरे शब्दों में, 'मैं तुम्हें शत्रुओं का साथी समझता हूं' और वह आपको खत्म कर देता है। ग्रामीण क्षेत्र के किसी फटेहाल भूमिहीन श्रमिक को आसानी से 'पॉडकुल्कनिक' की संज्ञा दी जा सकती थी।*

भारत में यह 'कुलक' शब्द गाली के अर्थ में प्रयुक्त होने के लिए आया है। हालांकि लोकदल के आलोचक अगर इस शब्द के जरिए यह जताना चाहते हैं कि इस दल का नेता छोटा किसान वह छोटा किसान जो जिस भूमि पर श्रम करता है, उसका स्वामी है या जिसे स्वामी बनाया जाना चाहिए, या कम—से—कम जिसे उसके उपभोग का स्थायी अधिकार प्रदान किया जाना चाहिए का अडिग पक्षधर है, तो उन अति 'सुधारवादियों' या दलितों के बंधुओं के साथ कोई विवाद नहीं हो सकता, जो यही पसंद करेंगे कि कृषक वर्ग को सामूहिक फार्मों में धकेल दिया जाए और इस तरह उनकी स्वाधीनता छीन ली जाए या उन्हें महानगरीय झोपड़पट्टियों में शरण लेने को बाध्य कर दिया जाए।

उत्तर प्रदेश में लागू किये गये भूमि सुधार अपने स्वरूप में बड़े क्रांतिकारी थे। बिना किसी भय या विरोधाभास के यह दावा किया जा सकता है कि विश्व में कहीं भी लोकतंत्र के अन्तर्गत शोषितों की सहायता के लिए इस तरह के दूरगामी उपाय नहीं किये गये हैं। इस राज्य में 'जमींदारी' या जमींदार रैय्यत वाली प्रथा जड़मूल समेत समाप्त कर दी गई है। इस कठिनतम—काश्तकारी की हैरान कर देने वाली जटिलता और राज्य का आकार विशाल होने के कारण कठिनतम कार्य को पूरा करने का सारा श्रेय हर मायने में निर्विवाद रूप से चरण सिंह को जाता है।

इन सुधारों ने राज्य मंत्रिमंडल में और उसके बाहर भी जिस तीखे

---

* अलेक्जंडर सोल्झेनित्सिन, 'गुलग आर्किपेलागो', अध्याय—II, पृष्ठ—55।

विरोध को जन्म दिया, उसकी एक लम्बी कहानी है जो आगे के पृष्ठों में संक्षिप्त रूप से वर्णित है, विरोध में तो कुछ ऐसे लोग भी खड़े थे जिन्हें बाहर की दुनिया समाज–वादी या प्रगतिशील के रूप में जानती थी।

चरण सिंह ने, चाहे संसदीय सचिव रहे या मंत्री, हमेशा दृढ़संकल्पी रुख दिखाया, हालांकि कभी–कभी इस्तीफा देने के बिन्दु तक जा पहुंचे क्योंकि वह मानते थे कि प्रदत्त स्थितियों में छोटे फार्म बड़े फार्मों की अपेक्षा एकड़–प्रति–एकड़ ज्यादा उपज देते थे, कि वे बड़े फार्मों की अपेक्षा ज्यादा रोजगार जुटाते थे, कि वे देहाती क्षेत्रों में आय की घोर विषमता को दूर करते थे और यह कि जो व्यक्ति अपने हल के नीचे छोटे–से–छोटे भूखण्ड का स्वामी था, वह अपने अन्य किसी भी देशवासी की अपेक्षा लोकतंत्र का बड़ा प्रहरी था।

अब इसे केवल इतिहास की अदालत और सच्चाई को जानने में रुचि रखने वाले वर्तमान पीढ़ी के सदस्यों के विवेक पर छोड़ा जा सकता है, यह बताने के लिए कि 'पॉडुकुल्कनिक'–शत्रु का साथी–की संज्ञा उस व्यक्ति को दी जा सकती है जो इन सुधारों के लिए जिम्मेवार था, या बड़े पैमाने पर की जाने वाली खेती के समर्थक को।

पचास के दशक में यद्यपि तीन राज्यों यानी बिहार, पश्चिम बंगाल और मध्य प्रदेश के राजस्व मंत्रियों ने भूमि सुधारों के प्रत्यक्ष अध्ययन के लिए उत्तर प्रदेश का दौरा करना जरूरी समझा था, लेकिन आम तौर पर राज्य से बाहर के लोग–यहां तक कि सार्वजनिक मामलों में रुचि रखने वाले भी–उनके बारे में आज भी अगर जानते हैं तो बहुत कम जानते हैं। इसका कारण इस तथ्य में निहित है कि न तो योजना आयोग के भूमि सुधार प्रभाग ने और न ही नई दिल्ली में राजनीतिक सत्ता की बागडोर थामे रखने वालों ने इन सुधारों के वास्तविक स्वरूप को कभी स्वीकारा। शायद इसलिए कि वे अपने सपनों और प्रस्तावों से आगे, बहुत दूर आगे चले गये थे।

इस एकालाप का कोई भी निष्पक्ष पाठक इस निष्कर्ष पर पहुंचे बिना नहीं रह सकता कि चरण सिंह स्वयं 'कुलक' होने के बजाए कमजोरों और पद–दलितों के हित में पूरे तीन दशक (1936–66) तक लगातार संघर्षरत रहे, उन लोगों के विरुद्ध जो खुद सही अर्थ में इस नामोपाधि के उपयुक्त पात्र थे।

–लेखक

चौधरी चरण सिंह: आरम्भिक जीवन

चौधरी चरण सिंह के पूर्वज सन् 1857 के विद्रोह के प्रमुख स्वतंत्रता सेनानी, हरियाणा के फरीदाबाद ज़िलांतर्गत बल्लभगढ़ के उस राजा नाहर सिंह के परिजन थे, जिन्हें दिल्ली के चांदनी चौक में फांसी दे दी गई थी। राजा के अनुयायियों पर ब्रिटिश हुकूमत ने दमनचक्र जारी किया तो उससे बचने के लिए चरण सिंह के दादा चौधरी बादाम सिंह अपने परिवार के साथ यमुना नदी से बहुत दूर आगे भटौना नामक गांव में चले गये, जो अब उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर ज़िले में है। किसी आदमी के तौर–तरीके, दृष्टिकोण और आचार–विचार काफी हद तक उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि की देन होते हैं। चरण सिंह के साथ बिल्कुल यही बात है। चौधरी चरण सिंह का जन्म उत्तर प्रदेश के मेरठ ज़िले के नूरपुर गांव में, एक किसान के कच्ची मिट्टी की दीवारों और फूस के छप्पर वाले घर में 23 दिसम्बर 1902 को हुआ था। परिवार के आवासीय अहाते के सामने ही एक कच्चा कुआं था, जिसका उपयोग पीने के पानी के साथ–साथ सिंचाई के लिए भी होता था। उनके पिता पांच भाइयों में सबसे छोटे थे, जो निकटवर्ती गांव कुचेसर के बड़े जमींदार या भू–स्वामी की रैय्यत के रूप में अपने हल से ज़मीन जोतते थे। फिर भी, उनके जन्म के छह महीने के भीतर ही उनके पिता भूपगढ़ी और उसके बाद भदौला गांव में जा बसे, जो उसी ज़िले में तकरीबन सैंतीस मील की दूरी पर था और जहां परिवार ने लगभग दस एकड़ ज़मीन खरीदी थी। उनके दो छोटे चाचा ब्रिटिश भारतीय सेना में रह चुके थे और 1899–1902 के दौरान दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेज़ों द्वारा डचों के विरुद्ध जारी 'बोअर युद्ध' में उन्होंने भाग लिया था।

चौधरी चरण सिंह ने 'बैचलर ऑफ साइंस' की डिग्री 1923 में, एम० ए० (इतिहास) की डिग्री 1925 में और क़ानून की डिग्री 1927 में प्राप्त की। स्वतंत्र रूप से वकालत उन्होंने गाजियाबाद में 1928 में शुरू की। नमक क़ानून तोड़ने पर 1930 में उन्हें छह महीने के लिए जेल भेज दिया गया था। अगस्त 1940 में उन पर एक झूठा आरोप लगाते हुए मुकदमा चलाया गया, लेकिन मजिस्ट्रेट ने उन्हें बरी कर दिया। तीन महीने बाद नवम्बर 1940 में व्यक्तिगत–सत्याग्रह आन्दोलन के सिलसिले में उन्हें एक वर्ष कैद की सज़ा दी गई। फिर अगस्त 1942 में डी० आई० आर० के तहत उन्हें गिरफ्तार किया गया और नवम्बर 1943 में रिहा किया गया।

अपने एक मित्र श्री गोपीनाथ 'अमन' के साथ, जो बाद में दिल्ली जाकर प्रसिद्ध उर्दू दैनिक 'तेज' के सम्पादकीय विभाग के एक सदस्य हो गए, मिलकर उन्होंने 1929 में गाजियाबाद नगर कांग्रेस कमेटी की स्थापना की थी, जिसके विभिन्न पदों पर वह 1939 तक कार्यरत रहे। उसी वर्ष वह मेरठ जाकर रहने लगे थे। मेरठ में 1939 से 1946 तक वह ज़िला कांग्रेस कमेटी के या तो अध्यक्ष रहे या महामंत्री।

फरवरी 1937 में 34 साल की उम्र में वह पहली बार उत्तर प्रदेश की विधान सभा के लिए निर्वाचित हुए थे।

सामान्य सदस्य की हैसियत से 1938 में उन्होंने एक कृषि उत्पाद बाजार विधेयक विधान सभा में पेश किया। उन्होंने 'एग्रीकल्चरल मार्केटिंग' (कृषि–बाजार–व्यवस्था) शीर्षक से एक लेख लिखा जो दिल्ली से प्रकाशित 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के 31 मार्च और 1 अप्रैल 1938 के अंकों में प्रकाशित हुआ। विधेयक का उद्देश्य व्यापारियों की लोलुपता से उत्पादकों के हितों को सुरक्षा प्रदान करना था, जिसे ज्यादातर राज्यों द्वारा अपनाया गया–1940 में वैसा कर दिखाने वाला पहला राज्य पंजाब रहा। लेकिन यह 1964 में ही संभव हुआ कि इसे मूलतः राज्य की विधि–पुस्तिका में दर्ज किया जा सका। इस लम्बी अवधि के दौरान चरण सिंह के प्रयासों को विफल किया जाता रहा, उन निहित स्वार्थों के प्रतिनिधियों द्वारा जो कांग्रेस और कांग्रेस की सरकार दोनों में ऊंची जगहों पर मोर्चाबंदी किये हुए थे। श्री सी० बी० गुप्ता द्वारा यह दलील दी जा रही थी कि किसान चूंकि समृद्ध और शिक्षित हो चले हैं, इसलिए व्यापारियों के विरुद्ध वे खुद खड़े हो सकते हैं तथा यह भी कि यह एक नियंत्रणकारी उपाय था–और नियंत्रणों को जनता पसंद नहीं करती। इसलिए कृषि उत्पाद बाजार विधेयक न केवल अनावश्यक बल्कि नुकसानदेह भी था। हालांकि यह भुला दिया गया कि इस तरह के क़ानून आर्थिक रूप से विकसित उन देशों में भी बनाने पड़े थे, जहां व्यापक साक्षरता थी तथा यह कि इसका उद्देश्य बेची या खरीदी जाने वाली सामग्री की कीमत या तादाद पर नियंत्रण नहीं, बल्कि दो पक्षों में से एक ज्यादा चालाक पक्ष द्वारा किये जाने वाले अनाचार पर नियंत्रण था।

यह 5 अप्रैल 1939 की बात थी, जब कांग्रेस विधायक दल की कार्यकारिणी समिति के समक्ष वह एक प्रस्ताव यह कहते हुए ले आये कि एक अच्छी सरकार का हित चूंकि इसमें है कि उसके कर्मचारियों की जीवन–शैली और आचार–विचार उन लोगों के अनुरूप हों जिनके मामले निपटाने की उनसे अपेक्षा की जाती है, इसलिए कम से कम 50 प्रतिशत सरकारी नियुक्तियां उन खेतिहरों या कृषकों के पुत्रों और आश्रितों के लिए

आरक्षित होनी चाहिए जिनसे हमारी जनता का विशाल समूह बनता है। लेकिन पार्टी को इतना वक्त नहीं मिला कि वह उस प्रस्ताव पर विचार करती जो छह महीने बाद ही यानी अक्टूबर 1939 में विधायिका से पार्टी के इस्तीफा देने के साथ ही खत्म हो गया। राज्य के कांग्रेसी नेतृत्व ने भी उसका स्वागत नहीं किया था। अपने विवेक की तुष्टि उसने बस एक आदेश जारी कर की कि जब भी लोकसेवा आयोग से चयन के लिए कहा जाए, तब राज्य की राजपत्रित लोकसेवा में एक स्थान किसी 'रैय्यत' के पुत्र के लिए आरक्षित रखा जाए।

ऋण मुक्ति विधेयक (1939) को तैयार करने और अंतिम रूप देने में उन्होंने प्रमुख भूमिका निभाई थी जिससे किसानों को बड़ी राहत मिली थी। अगस्त 1939 में उन्होंने एक लेख लिखा जो लखनऊ के 'नेशनल हेराल्ड' में प्रकाशित हुआ था। उसमें विधेयक के प्रावधानों की व्याख्या करते हुए उन्होंने साहूकारों की लॉबी द्वारा की गई आलोचना के उत्तर दिये थे। पार्टी की कार्य–कारिणी समिति की बैठक में बहस के दौरान कांग्रेस–समाजवादी पार्टी के कुछ प्रमुख स्तम्भों की मानसिकता देख उन्हें भारी निराशा हुई, जिनमें उदाहरण के तौर पर सार्वजनिक मंच से किसानों और मजदूरों के प्रति बहुत ही हमदर्दी दिखाने वाले आचार्य नरेन्द्र देव भी शामिल थे, जिन्होंने जोरदार ढंग से साहूकारों के पक्षधर जैसा रवैया अख्तियार किया।

भूमि और कृषि पर कांग्रेसी घोषणा–पत्र के मसौदे को, जिसमें जमींदारी का उन्मूलन निहित था और जिसे चरण सिंह द्वारा 9 सितम्बर 1945 को तैयार किया गया था, नवम्बर 1945 के अंतिम सप्ताह में आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में किसान कार्यकर्ताओं की बनारस में आयोजित बैठक द्वारा अपना लिया गया। यही वह घोषणा पत्र था जो इस विषय से सम्बंधित उस प्रस्ताव का आधार बना, जिसे अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने दिसम्बर 1945 में हुई कलकत्ता की अपनी बैठक में स्वीकार किया था।

बनारस में किसान संगठन द्वारा स्वीकृत मसौदा घोषणा–पत्र में एक धारा यह भी थी जो कहती थी कि "धरती जोतने वालों को देश के प्रशासन में उनकी उचित भागीदारी प्रदान की जाएगी और लोक सेवाओं में उनके बेटों की लगातार बढ़ती संख्या में नियुक्ति की जाएगी।" मार्च 1947 में चरण सिंह ने उपर्युक्त विचारों पर (देखें परिशिष्ट) रोशनी डालने के लिए एक लम्बा और तर्कपूर्ण लेख लिखा तथा उसकी प्रतियां कांग्रेसी विधायकों के साथ–साथ सार्वजनिक मामलों में रुचि रखने वाले अन्य व्यक्तियों के बीच भी वितरित करवाई। फिर भी, इससे सम्बंधित उनके

प्रयास का कुछ भी नतीजा नहीं निकला। सार्वजनिक जीवन और प्रशासन पर गैर कृषकों की इतनी तगड़ी पकड़ थी कि 1961 में किये गये सर्वेक्षण के अनुसार आई० सी० एस० और आई० ए० एस० के कुल 1347 सदस्यों में सिर्फ 155 (11.5 प्रतिशत) ही ऐसे थे जो कृषक–परिवारों से आये थे।

विषय सूची

प्रकाशक की ओर से		v
आमुख		vii
चौधरी चरण सिंह: आरम्भिक जीवन		xi
1	मैदानी भागों में जमींदारी उन्मूलन	1
2	विरोधी आलोचकों को जवाब	20
3	भूमि के रिकार्ड और पटवारी	39
4	भूमि पुनर्ग्रहण की मांग से इंकार	50
5	विरोधियों के साथ संघर्ष	58
6	अधिवासियों की समस्या पर टिप्पणी	66
7	कमजोर और पिछड़े वर्गों को भूमि सुधारों से लाभ	95
8	जोतों की चकबंदी	102
9	केरल की स्थिति के साथ तुलना	107
10	पर्वतीय क्षेत्रों में जमींदारी प्रथा कैसे समाप्त हुई	111
11	सहकारी कृषि	115
12	हदबंदी का लागू होना और भूमि का पुनर्वितरण	127
13	भूमि-कर में वृद्धि का विरोध	155
14	श्रीमती सुचेता कृपलानी का दौर	198
15	सारांशत:	205
परिशिष्ट		212
चौधरी चरण सिंह: एक परिचय		229

१

मैदानी भागों में जमींदारी उन्मूलन

चौधरी चरण सिंह 1946 में राज्य सरकार के संसदीय सचिव नियुक्त हुए और पहले राजस्व मंत्री के साथ, फिर स्वास्थ्य, स्थानीय स्वायत्त शासन मंत्री तथा अन्त में स्वयं मुख्यमंत्री के साथ सम्बद्ध हुए। उन्हें जून 1951 में पूर्ण कैबिनेट मंत्री का दर्जा देकर विधि और न्याय विभाग का स्वतंत्र प्रभारी बनाया गया। फिर भी उनकी मुख्य रुचि राजस्व विभाग में थी, जो उन्हें मई 1952 में सौंपा गया। वह 1946 से पांच वर्षों तक यद्यपि संसदीय सचिव रहे, फिर भी जहां तक राजस्व विभाग का सवाल था, उस अवधि में भी उन्होंने लगभग मंत्री के पूरे अधिकारों का उपभोग किया क्योंकि राज्य का कांग्रेस विधायक दल भूमि सुधार सम्बन्धी उनकी अवधारणा के पक्ष में था तथा विशेष रूप से उनकी योग्यता और कठोर श्रम करने की क्षमता के कारण मुख्यमंत्री पंडित गोविन्द बल्लभ पंत का उन पर पूरा विश्वास था।

संसदीय सचिव या राजस्व और कृषि मंत्री (थोड़े–थोड़े समय के लिए यातायात, बिजली और सिंचाई, गृह, वित्त, वन और स्थानीय स्वायत्त शासन तथा अन्य विभागों के मंत्री भी) के रूप में उन्होंने जो–जो कार्य किए तथा उत्तर प्रदेश की जनता के हित में सार्वजनिक मुद्दों पर जिस तरह संघर्ष किए, उनका पूरा लेखा–जोखा कई पृष्ठों में समा सकता है लेकिन यहां इस पुस्तक में सिर्फ भूमि–सुधार के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों का विवरण प्रस्तुत करना ही अभीष्ट है।

जो बात अक्सर भुला दी जाती है और जिसे ज्यादा उजागर करने की जरूरत है, वह यह कि उत्तर प्रदेश ने भूमि सुधार के मामले में पूरे देश को नेतृत्व दिया। इस राज्य में जमींदारी या भूस्वामी–रैयत प्रथा जड़–मूल से समाप्त कर दी गई है। भूमि सुधारों के दायरे में क़ानून के हर अंश का मसौदा इतनी अच्छी तरह से सोच–विचार कर तैयार किया गया था कि न्यायपालिका एक को भी रद्द नहीं कर पाई, जबकि दूसरे कई राज्यों में ऐसा हुआ। जो–जो महत्त्वपूर्ण कदम उठाए गए थे, उनकी व्याख्या करते हुए चरण सिंह ने समाचार पत्रों में बीसियों लेख लिखे, रेडियो पर बीसियों वार्ताएं दीं या भाषण प्रसारित करवाए। साथ–ही–साथ इस बड़े राज्य के हर क्षेत्र में जाकर सैकड़ों बड़ी जनसभाओं को सम्बोधित किया।

उत्तर प्रदेश की विधान सभा ने 8 अगस्त 1946 को निम्नांकित प्रस्ताव पास कियाः

> "यह विधान सभा इस प्रदेश में जमींदारी प्रथा के उन्मूलन को सिद्धांततः स्वीकार करती है जिसके अन्तर्गत राज्य और काश्तकारों के बीच बिचौलिए आते हैं, तथा निश्चय करती है कि ऐसे बिचौलियों के अधिकार न्यायसंगत मुआवज़े के भुगतान द्वारा अधिगृहीत किए जाएं और इस उद्देश्य से योजना तैयार करने के लिए सरकार को चाहिए कि वह एक समिति नियुक्त करे।"

राज्य सरकार ने इसका अनुसरण करते हुए राज्य की भू–स्वामी–रैय्यत प्रथा के उन्मूलन की योजना तैयार करने के लिए प्रीमियर (जैसा कि उन दिनों मुख्यमंत्री को कहा जाता था) की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की।

राज्य सरकार ने इसके फौरन बाद ही 1 सितम्बर 1946 को आदेश जारी कर काश्तकारों और छोटे काश्तकारों के कब्जे में जो ज़मीन थी, उसकी बेदखली पर रोक लगा दी। यू० पी० टेनेन्सी एक्ट 1939 में आवश्यक संशोधन करके इन आदेशों को विधिसम्मत बनाया गया। इसके अलावा 1947 के एक्ट संख्या × के संशोधन विधेयक द्वारा बेदखली के स्थगन को क़ानूनी रूप दिया गया, जो इस प्रावधान के साथ कि जिन काश्तकारों और छोटे काश्तकारों को पहली जनवरी 1940 को या उसके बाद अपनी जोतों से बेदखल किया गया उन्हें फिर से कब्जा दिलाया जाए, 14 जून 1947 से लागू हो गया।

जमींदारी उन्मूलन समिति अपने काम में लगी हुई थी कि इसी बीच गांव के सारे निवासी (जमींदार या भूस्वामियों को छोड़कर, जो अपने अधिकारों का उपयोग पहले से ही कर रहे थे), चाहे वे किसी भी प्रकार के काश्तकार, खेत–मजदूर या और कुछ हों, अपनी–अपनी जोतों के स्वामी घोषित कर दिए गए। उत्तर प्रदेश ग्रामीण आबादी एक्ट के तहत, जिसे गवर्नर ने मंजूरी दी थी, उन्हें अधिकार भी दिया गया कि वे अपने कच्चे मकानों को पक्का कर सकते हैं तथा सहन, दरवाजों और घर के साथ लगी हुई ज़मीन को सुधार–संवार सकते हैं। यह क़ानून अनुसूचित जातियों के लिए वरदान साबित हुआ, क्योंकि अपनी आवासीय झोपड़ियों पर उनका स्वामित्व नहीं रहने के कारण जमींदार लोग बेदखली की धमकी देकर उनसे बेगारी करवाते थे और मुफ्त काम करने के लिए बाध्य करते थे। इस क़ानून को आगे चलकर जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार

एक्ट, 1950 में समाहित किया गया, जिसमें यह भी जोड़ दिया गया कि प्रत्येक ग्रामवासी घर के साथ लगी ज़मीन पर लगाए गए पेड़ों और कुएं या कुओं का भी स्वामी होगा। इस अधिकार के लिए उन्हें कोई मुआवज़ा नहीं देना था।

सेंसस ऑफ इंडिया, 1951, भाग IIः उत्तर प्रदेश (खण्ड I–ए रिपोर्ट) के अनुसार 1951 में उत्तर प्रदेश की जनसंख्या 6 करोड़ 30 लाख से अधिक थी। इनमें से 5 करोड़ 40 लाख 60 हजार (85 प्रतिशत) लोग 'ग्रामीण' के रूप में सूचीबद्ध थे। वे 1,10,000 गांवों और 2,57,500 छोटी–छोटी बस्तियों में रहते थे। पूरी आबादी में से 4 करोड़ 60 लाख 90 हजार (74.2 प्रतिशत) लोग सीधे कृषि पर निर्भर थे और 2 करोड़ से ज्यादा लोग सक्रिय या अर्द्ध–सक्रिय तौर पर कृषि से जुड़े मजदूर थे। कृषि योग्य भूमि लगभग 2 एकड़ प्रति खेत–मजदूर थी और कृषि पर सीधे निर्भर लोगों में यह 0.8 एकड़ प्रति व्यक्ति थी।

कृषि योग्य भूमि पर आबादी के दबाव का खुलासा इस तथ्य से भी होता है कि जमींदारी उन्मूलन समिति की रिपोर्ट 1948 के अनुसार कुल पंजीकृत काश्तकारों में 21 प्रतिशत से अधिक ऐसे लोग हैं जिनके पास 0.5 एकड़ से कम ज़मीन है। कृषि भूमि के कुल क्षेत्रफल की चौथाई से कम में दो तिहाई से अधिक किसानों की जोतें हैं। दरअसल ये आंकड़े जितना बताते हैं, वास्तविक जोतें उनसे भी कम हैं क्योंकि इनमें ऐसे तकरीबन 3 करोड़ 60 लाख किसानों की 4 करोड़ 10 लाख एकड़ भूमि भी शामिल है, जिन्हें जमींदारी उन्मूलन समिति की रिपोर्ट, भाग–II, पृष्ठ 8 पर शिकमी (छोटे) काश्तकार के रूप में सूचीबद्ध किया गया है।

जमींदारी उन्मूलन समिति ने अपनी रिपोर्ट 1948 के अन्त में पेश की। समिति के एक सदस्य की हैसियत से चरण सिंह ने 1947 में एक ज्ञापन प्रस्तुत किया था, लेकिन उस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इसका कारण यह भी था कि समिति के अधिकांश अन्य सदस्यों की सामाजिक पृष्ठभूमि भिन्न थी, अतः ग्रामीण समस्याओं पर चरण सिंह के विचारों और समिति के अधिकांश सदस्यों की वैचारिकता में ज़मीन आसमान का फर्क था। अपना असहमति–पत्र प्रस्तुत करने के बजाए उन्होंने मुख्यमंत्री को सीधे लिखना उचित समझा। अपने 18 अक्टूबर, 1948 के नोट में उन्होंने मुख्यमंत्री से आग्रह किया कि समिति की कम–से–कम उन सात सिफारिशों को तो तत्काल रद्द किया ही जाए, जिनके आधार पर योजना तैयार की गई है। इस पर मुख्यमंत्री ने विधेयक का बेहतर मसौदा तैयार करने के लिए उन्हीं की अध्यक्षता में राजस्व अधिकारियों और क़ानून अधिकारियों की एक समिति गठित कर दी।

यहां पर 18 अक्टूबर 1948 में की गई यह टिप्पणी प्रासंगिक है:

पहली: जमींदारी उन्मूलन समिति ने प्रस्तावित किया है कि मुआवज़े का भुगतान सरकार 40 वर्षों में देय बांडों के रूप में करे। हालांकि 90 प्रतिशत अधिक मूल्य के बांड बेचे–खरीदे जा सकेंगे। मेरा सुझाव है कि निम्नांकित कारणों से इस परामर्श पर फिर से विचार किया जाना चाहिए।

दूसरी: मेरी राय में भूमि के क्रय मूल्य पर कोई सीमाबंदी नहीं होनी चाहिए। दलील सिर्फ यह पेश की जाती है कि खरीददार अगर बाजार मूल्य चुकाने पर बाध्य होगा तो ठीक ढंग से खेती करने के लिए उसके पास बहुत कम पूंजी रह जाएगी। यह प्रस्ताव यूरोपीय और रूसी कृषि साहित्य से उधार लिया गया है, जहां 'पूंजी' शब्द का इस्तेमाल लगभग पूरी तरह मशीनरी के अर्थ में होता है। यहां, अपने देश में कुल नहीं तो सौ में से निन्यानवे मामलों में किसान को चाहिए सिर्फ एक जोड़ा बैल।

इस पर कठोर वास्तविकता यह है कि घोर आर्थिक दबाव में भी ज़मीन की वास्तविक कीमत क्षेत्रीय दर के मुकाबले 40 से 50 गुना तक अधिक होती है, जबकि समिति का प्रस्ताव है कि उस दर से सिर्फ 12 गुना अधिक मूल्य चुकाया जाए। आज यह गुणवत्ता बढ़कर कम–से–कम 175 हो गई है और कई मामलों में तो और भी ऊंची चली गई है। भूमि का अत्यधिक मूल्य ह्रास सौ तरह की चालबाजियों और क़ानून को झांसा देने की प्रवृत्तियों को जन्म देगा। उदाहरण के लिए, लोग ज़मीन को बिक्रीनामा के बजाए दान पत्र के जरिए खरीदने वाले के नाम कर देना चाहेंगे। हम सम्भावित दान–उपहार को नियंत्रित या प्रतिबंधित तो नहीं कर सकते, न ही किसी तरह बीच में पंचायत को ला सकते हैं।

तीसरी: इसी प्रकार पट्टे की रकम की सीमाबंदी नहीं होनी चाहिए। शोषण से बचाव की दृष्टि से समिति ने यह सीमाबंदी की है कि पट्टा देने वाला सरकार को चुकाए जाने वाले भूमि–कर और उसके 50 प्रतिशत से अधिक किराये की रकम नहीं प्राप्त करेगा, लेकिन हमें भूलना नहीं चाहिए कि विधवाएं, नाबालिग तथा अन्य अक्षम लोग ही पट्टा देने के अधिकारी होंगे और वे ऐसा इसलिए नहीं करेंगे कि दूसरों के श्रम का शोषण करना चाहते हैं, बल्कि इसलिए कि अपने खेतों की जुताई खुद करने में वे शारीरिक दृष्टि से अक्षम हैं। पट्टा देने के अधिकार की सीमाबंदी ऐसे पट्टादाताओं के लिए व्यावहारिक और लाभप्रद नहीं होगी।

चौथी: इन पाबंदियों के हटा लिए जाने पर पंचायत का किसी व्यक्ति की भूमि से कुछ लेना–देना नहीं रहेगा (सार्वजनिक कचरे को ठिकाने लगाने, आबादी, आम रास्ते, तालाब आदि की देखरेख का दायित्व तो पंचायत पर रहेगा ही) और ऐसा ही होना भी चाहिए। अच्छी से अच्छी

ज़मीन को काफी गिरे हुए मूल्य पर बेचने पर अधिकार, चाहे स्थायी तौर पर या सीमित अवधि के लिए, एक बहुत बड़ी आर्थिक ताकत है। इसे हमारे ग्रामीण समाज की मौजूदा परिस्थितियों में किसी निर्वाचित निकाय को सौंप देने से काफी भ्रष्टाचार और विवाद पैदा होंगे।

पांचवींः जमींदारी उन्मूलन समिति कहती है कि स्वामित्व या संयुक्त हिस्सेदारी का दर्जा सभी शिकमी काश्तकारों को भी दिया जाना चाहिए, अपने कृषि क्षेत्र के लिहाज से वे चाहे काश्तकार के अधीन हों या जोतदार (मुखिया) के अधीन।

छठीः बड़े फार्मों पर खेती चाहे भूस्वामी के अधीन होती हो या काश्तकार के अधीन, उन्हें तोड़ दिया जाना चाहिए और 50 एकड़ से अधिक जो भी ज़मीन हो, उसे पहले तो लाभकारी बनाने के उद्देश्य से अलाभकार जोतों में तथा फिर लाभकारी क्षेत्र के भूमिहीनों में वितरित किया जाना चाहिए। रिपोर्ट में इस सुझाव पर चर्चा की गई और फिर इस आधार पर उसे रद्द कर दिया गयाः (क) इससे बहुत सारे किसानों में विरोध की भावना पनपेगी, (ख) जमींदारों पर भारी मुसीबत आएगी, जिनकी आमदनी में जमींदारी उन्मूलन के द्वारा हम कटौती कर ही रहे हैं, (ग) उपलब्ध क्षेत्र की लघुता के लिहाज से यह व्यवहारतः उपयोगी नहीं है, (घ) इससे बड़ी संख्या में कृषि मजदूर विस्थापित हो जाएंगे, जिनके लिए उपयुक्त समय के भीतर वैकल्पिक रोजगार ढूंढ पाना सम्भव नहीं होगा।

बड़े फार्मों से निकले कृषि मजदूरों की बे रोजगारी वाली यह आखिरी दलील मन को नहीं के बराबर छूती है। अन्ततः यह पूंजीवादी कृषि व्यवस्था को जारी रखने की चिरौरी जैसी प्रतीत होती है, जिसे शायद कोई नहीं चाहता। दुनिया भर के कृषि अर्थशास्त्री इस बात से सहमत हैं कि बड़ी जोतों की अपेक्षा छोटी जोतें प्रति एकड़ उपज ज्यादा देती ही हैं, रोजगार भी ज्यादा देती हैं। अतः बड़े फार्मों का टूटना रोजगार की दृष्टि से हानिप्रद होने के बजाए लाभप्रद ही होगा। यह मानवीय श्रम के शोषण का भी अन्त करेगा, जो बड़े पैमाने पर निजी खेतीबाड़ी की देन है। अतएव राष्ट्रीय हित का यह स्पष्ट तकाजा है कि बड़े फार्मों को कूच कर जाना चाहिए।

सातवींः एक सुझाव कहता है कि 10 एकड़ से कम क्षेत्र की जोत अविभाज्य होगी। तो फिर, जो जोतें 10 एकड़ या इससे ज्यादा क्षेत्र में फैली हुई हैं, उनके बारे में क्या कहा जाए? अगर वे विभाजन योग्य हैं तो इसका मतलब है कि अलाभकर जोतें आगे भी अस्तित्व में आती रहेंगी, क्योंकि समिति के अनुसार 10 एकड़ से कम क्षेत्र की सभी

जोतें अलाभकर हैं। ऐसी स्थिति में तो सुधार का उद्देश्य ही विफल हो जाएगा। मैंने सवा छः एकड़ की न्यूनतम सीमा रखी है। ('भिन्न' अंक पर मैं बल देता हूं, क्योंकि सवा छः एकड़ 10 मानक बीघे के बराबर होता है। इसे हमारे किसान समझते हैं)। इसलिए 12.5 एकड़ से कम की जोत के अविभाज्य रहने से आगे सभी जोतें सवा छः और साड़े बारह एकड़ के बीच अलग–अलग आकार की होंगी। तो फिर अविभाज्यता की दृष्टि से कह सकते हैं कि मैंने समिति से ज्यादा ऊंचे आंकड़े दिए हैं। फिर भी ये आंकड़े मनमाने ढंग से नहीं दिए हैं। मैं "लाभकर" जोत उसे मानता हूं जो उत्पादन के किसी अविभाज्य तत्व के लिए रोजगार उपलब्ध करता हो, जैसे न्यूनतम कृषि उपकरण, यानी एक जोड़ा बैल, जिन्हें हर स्थिति में किसान रखेगा ही तथा एक औसत किसान परिवार के लिए काम। तथ्यतः सवा छः एकड़ अच्छी कृषि भूमि ऐसे परिवार को पूरा रोजगार दे सकती है, ठीक जैसे साधारण भूमि के मामले में साढ़े बारह एकड़ कृषि भूमि दे सकती है। फिर सवा छः एकड़ की निचली सीमा हस्तांतरण के मामले में कम ही लोगों की स्वतंत्रता को सीमित कर सकती है।

अन्त में, सरकारी खेती पर जिस रिपोर्ट में विचार किया गया है, उसके बारे में मैं फिर से बहुत संशयशील हूं, हालांकि इसकी स्वैच्छिक प्रकृति को देखते हुए मैं इसका विरोध नहीं करता, क्योंकि प्रयोग करने में आखिर कोई हानि नहीं।

राज्य मंत्रिमंडल ने प्रस्ताव समिति द्वारा तैयार किए गए जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक को मई 1949 में स्वीकृति दी तथा 7 जुलाई को विधान सभा में पेश किए जाने के बाद उसे 12 जुलाई को विधान मंडल के दोनों सदनों की संयुक्त प्रवर समिति को सौंप दिया गया। प्रवर समिति का प्रतिवेदन 9 जनवरी 1950 को विधान सभा में प्रस्तुत किया गया। विधेयक अंततः जब दोनों सदनों में पारित हो गया और गवर्नर ने उस पर स्वीकृति की मुहर लगा दी, तब उसे भारतीय संघ के राष्ट्रपति के पास भेजा गया जिस पर 24 जनवरी 1951 को उनकी स्वीकृति मिल गई। फिर भी जमींदारों द्वारा, जिनकी अंततः छुट्टी कर दी गई थी, मुकदमा दायर किए जाने के कारण 24 जुलाई 1952 तक उसका लागू किया जाना रुका रहा।

इस क़ानूनी विधेयक ने बिचौलियों के अधिकार को या तो खत्म कर दिया या खत्म कर देने का प्रस्ताव किया और सारी कृषि भूमि राज्य के हवाले कर दी। राज्य के विशाल क्षेत्र और आबादी में प्रचलित 46 प्रकार की भूमि काश्तकारियों वाले विस्मयकारी ढांचे को सरल बनाते हुए

इसने भूमि सेवियों की सिर्फ चार श्रेणियां निर्धारित की—भूमिधर (भूमि का धारक), सीरदार (जोतने वाला), आसामी (स्वामित्व रहित) और अधिवासी* (दखलकार) जिसे सिर्फ अस्थायी या शिकमी काश्तकारी का हक हो।

भूमिधर

उपर्युक्त विधेयक के क़ानूनी रूप ग्रहण करते ही निम्नलिखित सारे लोग स्वतः भूमिधर हो गएः

(क) सीर, खुदकाश्त और बगीचों के (वार्षिक 250 रुपये से अधिक राजस्व के साथ पट्टे पर दिए गए सीर को छोड़कर) या जहां ऐसी सीर या खुदकाश्त वाली भूमि जोत के लिहाज से उनके हित में समानुपाती थी, वहां पट्टा दवामी या इस्तमरारी (स्थायी पट्टा) द्वारा बिक्री अधिकार के साथ काश्तकार को दिए गए सीर से जुड़े बिचौलिये, जो जमींदार कहलाते थे।

(ख) सीर या खुदकाश्त वाली भूमि के वे बिचौलिये जो अपाहिज हों चाहे वे भू राजस्व जितना भी चुकाते रहे हों; तथा

(ग) निर्धारित दर वाले काश्तकार, शिकमी भूस्वामी और अधीनस्थ भूस्वामी तथा लगानमुक्त अनुदानग्राही।

सीरदार

उक्त क़ानून के तहत निम्नांकित लोग सीरदार हुएः

स्वामित्व रहित काश्तकार, दखलकार, बगीचाधारक, पुश्तैनी काश्तकार, पट्टा दवामी या इस्तमरारी वाले काश्तकार और जमींदारों की सीर व खुदकाश्त ज़मीनों के वे काश्तकार जो 250 रुपये से अधिक भूराजस्व चुकाते रहे हों।

सीरदारों को अब वही लगान (जिसे अब भूराजस्व कहेंगे) देना था जो वे जमींदार को देते थे—इस शर्त के साथ कि वह चौथे दशक की भू—बंदोबस्ती के दौरान निर्धारित क़ानूनी दर के दो गुना से अधिक न हो। इसीलिए कृषि उत्पाद के लिहाज से उत्तर प्रदेश में लगान किसी भी मामले में मौजूदा दरों पर जोड़े गए कृषि उत्पाद—मूल्य के 1/2 यानी बीसवें भाग से अधिक नहीं थे और अन्य राज्यों में इस तरह के देय लगानों की अपेक्षा बहुत ही कम थे। विशेष अनुग्रह के चलते जिन

---

* आदिवासी से सर्वथा भिन्न

सीरदारों का अपनी ज़मीनों पर दखल था—उन्हें खेती करने, बागवानी करने और पशुपालन के पूरे अधिकार दिए गए लेकिन बिक्री या उपभोग के अधिकार सहित गिरवी रखने यानी अंतरण के अधिकार[1] समाप्त कर दिए गए।

भूमिधरों और सीरदारों के अधिकार स्थायी और वंशगत थे, इसलिए उन्हें जो ज़मीनें क्रमशः पुराने अधिकारों के साथ मिलीं, उनकी अदला—बदली वे कर सकते थे।

आसामी

क़ानून लागू होने पर सामान्यतया ऐसे सारे लोग अब आसामी कहलाए—ऐसा व्यक्ति जिसका क़ानून लागू होने की तारीख से ठीक पहले भूमि पर अधिकार या कब्जा था। चाहे वह—

1. किसी बिचौलिये के बगीचे का बेदखल काश्तकार हो;
2. बगीचे की भूमि का शिकमी काश्तकार हो;
3. किसी काश्तकार का गिरवीदार हो;
4. ऐसा काश्तकार या ठेकेदार हो, जो किसी बिचौलिये के सीर या खुदकाश्त पर पट्टा दवामी या इस्तमरारी के आधार पर खेती कर रहा हो और सालाना भू—राजस्व 250 रुपये से अधिक नहीं हो। पट्टादार अगर पट्टा देने के समय किसी मान्यता प्राप्त संस्थान का छात्र रहा हो और उसकी उम्र 25 वर्ष से अधिक न हो, मानसिक या शारीरिक अपंगता का शिकार हो, जेल में बंदी हो या भारतीय सेना की सेवा में हो तो ऐसे किसान बेदखल भी किए जा सकते थे;

अथवा

5. गुजारेदार हो, जब तक उसे गुजारा पाने का हक हो;
6. ग्राम सभा या ज़िलाधीश द्वारा चरागाह भूमि, असमतल भूमि और अनियमित कृषि की या अन्य किसी प्रकार की भूमि का काश्तकार मान लिया गया हो।

---

[1] आगे चलकर क़ानून में संशोधन किया गया जिसके अनुसार सहकारी समितियों द्वारा दिए गए ऋणों तथा कृषि विकास आदि के लिए दिए गए तकाबी ऋणों की वसूली के लिए सीरदारों को भूमि पर क़ानूनी हक मिला। यह सीरदारों की ऋण पात्रता को बेहतर बनाने के उद्देश्य से किया गया, जिन्हें स्वेच्छा से अंतरण का अधिकार नहीं था।

आसामी को वंशानुगत अधिकार तो थे, मगर अंतरण के अधिकार नहीं थे।

अधिवासी

जो काश्तकार भूस्वामी की मर्जी और सुविधा पर ज़मीन जोत रहे थे, या फिर परम्परा या अनुबंध के अनुसार खेती कर रहे थे, उन्हें अधिवासी कहा गया तथा जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून लागू होने के साथ ही अगले पांच वर्षों की अवधि के लिए काश्तकारी के उनके हक को सुनिश्चित किया गया। उनके अधिकार वंशानुगत नहीं थे और न ही उन्हें भूमि के अंतरण या पट्टे पर उठा देने की अनुमति थी। इन सीमित अधिकारों वाले काश्तकारों की मुख्य श्रेणियां इस प्रकार थीं–

स्थायी अधिकार वाले अधीनस्थ काश्तकार, उन जमींदारों जो 250 रुपये या इससे कम सालाना भू–राजस्व चुकाते थे के सीर और खुदकाश्त (पट्टा दवामी या इस्तमरारी वाले को छोड़कर) वाले काश्तकार, लगानमुक्त अनुदानग्राहियों या कम लगान चुकाने वालों के अधीनस्थ काश्तकार और पट्टे पर भूमि जोतने वाले शिकमी काश्तकार जिनकी काश्तकारी की अवधि पांच वर्ष से अधिक नहीं थी। इस श्रेणी में वे लोग भी शामिल किए गए जो बिना इजाजत के भूमि का उपयोग कर रहे थे या पट्टा लिखाए बिना खेती कर रहे थे। ये सभी लगभग वही श्रेणियां थीं जिन्हें खतौनी के भाग–II में सूचीबद्ध किया गया था (देखें: उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन समिति का प्रतिवेदन, भाग–II, तालिका 6, पृष्ठ 8)।

सरकार द्वारा निर्धारित समय–सीमा के भीतर अधिवासियों का अधिकार था क़ानून लागू होने के पांच साल बाद, मुआवज़े की निर्धारित रकम चुका कर सीरदार या भूमिधर बन जाएं। इसमें विफल रहने पर वे अपनी जोतों से बेदखल किए जा सकते थे।

अक्टूबर 1954 में जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून में एक संशोधन करके सभी अधिवासियों को सीरदार का दर्जा दे दिया, जो संख्या में 50 लाख थे। ऐसा करते हुए इस तथ्य पर गौर नहीं किया गया कि उनके भूस्वामी सीरदार थे या भूमिधर। उन्हें इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए कोई रकम नहीं चुकानी थी। सीरदार की हैसियत से वे पिछली दरों के अनुसार लगान चुकाते रहे और लगानों के इन्हीं भुगतानों से राज्य ने जमींदारों को मुआवज़ा दिया। लेकिन जैसा कि आगे स्पष्ट हो जाएगा, चौधरी चरण सिंह द्वारा किसानों की एक और लड़ाई अभी लड़ी जानी थी। निर्धन लोगों को यही दर्जा दिलाने के लिए ही नहीं, बल्कि यह सुनिश्चित

करने के लिए भी कि भू–स्वामियों और जमींदारों को काश्तकारों की भूमि के पुनर्ग्रहण का अधिकार न मिले। अतः अब इस लड़ाई के राजनैतिक परिणाम सामने आने लगे थे।

ऊपर उल्लेखित चारों श्रेणियों के किसानों के लिए उपलब्ध क्षेत्र के आंकड़े बतायेंगे कि इनका फैलाव कहां तक था। उदाहरण के लिए, जोत की औसत मात्रा प्रति भूमिधर 3.4 एकड़ थी। वस्तुतः जमींदारों के कब्जे वाली बिना किसी को दी गई जोतें ही 250 रुपये से कम भू–राजस्व देने वालों के मामले में औसतन 3.17 एकड़ और 10,000 रुपये से अधिक भू–राजस्व देने वालों के मामले में औसतन 245 एकड़ थी। जहां तक सीरदारों का सवाल है।' उनकी जोत का औसत अंदाज 2 एकड़ था। उनमें जमींदारी उन्मूलन के पहले से औसतन 0.5 एकड़ वाले बगीचेदारों से लेकर औसतन 2.66 एकड़ वाले स्वामित्व रहित काश्तकार शामिल थे। फिर, प्रत्येक समूह के भीतर भी भिन्नताएं थीं। आसामी और अधिवासी की जोत का औसत लगभग एक एकड़ था, जिसमें लगान मुक्त अनुदान ग्राहियों के अधीनस्थ काश्तकारों के 2/3 एकड़ औसत से लेकर शिकदार काश्तकारों के एक एकड़ से कुछ अधिक का औसत भी शामिल है।

जिन सीरदारों ने अपने लगान की 10 गुना रकम सरकारी खाते में जमा कर दी, वे उस रकम में 50 प्रतिशत छूट पाने के अधिकारी हो गए जो भू–राजस्व के रूप में सरकार को अभी चुकाई जानी थी, और वे भूमिधर के स्तर में भी प्रोन्नत हो गये। भूमिधारी या जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार कोष के नाम से जानी जाने वाली यह योजना सितम्बर 1949 में जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून के अमल में आने से पहले ही चालू हुई थी। राष्ट्रीय योजना आयोग ने अन्य राज्यों द्वारा इसे अपनाए जाने की सिफारिश की थी और कई राज्यों ने इसे अपनाया भी। यह योजना कुल मिलाकर भूमि उपयोग विधेयक पर आधारित थी, जिसे चरण सिंह ने 1939 में व्यवस्थापिका सभा के एक गैर सरकारी सदस्य की हैसियत से तैयार किया था।

काश्तकार जल्द–से–जल्द लाभ उठा सकें या जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक के फलस्वरूप होने वाले लाभों से वंचित न रह जाएं, इस उद्देश्य से अग्रिम कार्रवाई के तौर पर विधायिका ने 1949 के खेतिहर काश्तकार (विशेषाधिकार अधिग्रहण) क़ानून संख्या × को पारित किया।

फिर चूंकि जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक, जो अभी विधायिका की ही कसौटी पर था, जमींदारों के हितों को पूरा करता था। ऐसी स्थिति में अनभिज्ञ लोगों को भरमाने के लिए उनकी तरफ से धुआंधार प्रचार प्रत्याशित था, इसीलिए चरण सिंह ने मुख्यमंत्री को

दिए गए अपने 22 अगस्त 1949 के नोट के अनुरूप जमींदारी उन्मूलन प्रचार अभियान का आयोजन किया। यह अभियान सार्वजनिक सभाओं, सूचना विभाग की एजेंसियों और सरकार तथा प्रदेश कांग्रेस कमेटी में मौजूद, उनके सहयोगियों की सहायता से चलाया गया। इस अभियान का उद्देश्य देहात के लोगों को जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक के प्रावधानों की, उनके अधिकारों और कर्तव्यों की तथा पूरे सामाजिक ढांचे पर पड़ने वाले इसके प्रभावों की जानकारी देना और सम्बद्ध समूहों के भ्रामक प्रचार के खिलाफ खड़े होने के लिए उन्हें तैयार करना था।

तमाम परती ज़मीनें (पेड़–पौधे सहित, मगर स्वामित्व रहित लोगों द्व ारा लगाए गए पेड़ों को छोड़कर जो उन्हीं के अधिकार में रहेंगे), आबादी की जगहें या गोचर भूमि, रास्ते या सड़कें, पोखर–तालाब या नौका घाट, खलिहान भूमि या हाट–बाजार (भूमिधर की कृषि भूमि पर लगने वाले बाजार को छोड़कर) अर्थात् बिल्कुल निजी अधिकार और उपयोग की कृषि भूमि, बाग–बगीचों, घरों या कुओं के अलावा सारी ज़मीनें राज्य ने अधिगृहीत कर लीं। पंचायत राज क़ानून के अधीन ग्राम समुदाय को कुछ न्यायिक और प्रशासनिक अधिकार पहले ही सौंप दिए गए थे। एक 'गांव समाज नियम पुस्तिका' (मैनुअल) प्रकाशित की गई जिसमें पंचायतों को सौंपी गई भूमि से सम्बन्धित उनके अधिकारों और कर्तव्यों का पूरा ब्यौरा था। यह नियम पुस्तिका दूसरे राज्यों के लिए भी आदर्श बन गई।

सरकारी रिकार्ड के अनुसार 1952 में जमींदारी प्रथा की समाप्ति के बाद निजी स्वामित्व वाली फालतू (परती) भूमि, बंजर भूमि, वन भूमि और सार्वजनिक उपयोग की 48 लाख हैक्टेयर भूमि राज्य की हो गई। इसमें से 8 लाख 80 हजार हैक्टेयर भूमि वन रोपण के लिए वन विभाग के नाम कर दी गयी। शेष 39 लाख 20 हजार हैक्टेयर भूमि वितरण के लिए गांव सभाओं को सौंपी गयी। पंचायतें, जो कि गांव सभाओं की कार्यकारिणी समितियां हैं, भूमि प्रबंधन के लिए उत्तर प्रदेश पंचायत राज क़ानून के तहत उपसमितियां गठित करती हैं। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के संवाददाता ने 13 सितम्बर 1973 के अंक में लिखा–

> "फिर भी ये उपसमितियां ब्राह्मणों और ठाकुरों के परम्परागत भू–स्वामी वर्ग के प्रतिनिधियों के प्रभुत्व और नियंत्रण में रहीं। यह ताज्जुब की बात नहीं कि भूमि के आवंटन में प्रभावशाली ब्राह्मण और ठाकुर प्रधानों और उनके समर्थकों ने हरिजनों के मुकाबले अपने रिश्तेदारों और इष्ट मित्रों को प्रमुखता दी। हरिजन प्रधान तो कहीं–कहीं और गिने चुने ही थे।"

राजस्व विभाग के अधिकारियों और भूमि प्रबन्ध उप–समितियों की मिली–भगत से ज्यादातर सामुदायिक भूमि ब्राह्मणों और ठाकुरों द्वारा हड़प ली गयी। उनके द्वारा सत्ता का दुरुपयोग इतना स्पष्ट था कि कांग्रेस मंत्रिमंडल ने 1 अक्टूबर 1964 और 30 सितम्बर 1967 के बीच दिए गए, 1,00,000 पट्टों की जांच का फैसला किया और पाया कि उनमें से 90 प्रतिशत में अनियमितता बरती गयी थी।

नागरिक आचार संहिता 1982 के तहत किसानों के घर और मकान (बैलगाड़ी आदि सहित) देशभर में पहले से ही रुपये की उगाही के लिए होने वाली कुर्की–नीलामी से मुक्त थे। उत्तर प्रदेश में अब बंधक आदेश से भी उन्हें छूट दे दी गयी।

राज्य के कुछ क्षेत्रों में, खासतौर से शहरों में, 'जेरि–चेहरुम' की एक प्रथा थी। इसके अन्तर्गत मकान मालिक या किराए पर उठाने वाले पट्टादाता को, मकान बेचे जाने की स्थिति में, यह अधिकार होता था कि वह पट्टादार–बिक्रेता या खरीददार से खरीद मूल्य का एक भाग वसूल करे, जो आमतौर पर एक चौथाई होता था। यह प्रथा बन्द कर दी गयी।

जहां तक कारखाने, स्कूल और अस्पताल के लिए या अन्य उद्देश्य से भूमि के अधिग्रहण का सवाल है, चरण सिंह ने 1949 में उत्तर प्रदेश की 'भूमि अधिग्रहण नियम पुस्तिका' में यह प्रभावी नियम शामिल करा दिया कि निर्दिष्ट स्थल से आधा मील के दायरे में अगर ऊसर या परती ज़मीन उपलब्ध हो तो कोई कृषि भूमि अधिगृहीत नहीं की जाएगी। काफी देर से यानी पन्द्रह वर्षों के बाद, भारत सरकार ने भी भूमि अधिग्रहण क़ानून में एक संशोधन करके इसी का अनुसरण किया।

पूर्व क्रय–क़ानून के अन्तर्गत भू–स्वामी को अधिकार था कि अपने भागीदार पूर्व–क्रय–क़ानून द्वारा बाहरी आदमी के हाथ बेची जाने की स्थिति में वह उसका पूर्व क्रय कर ले। इस क़ानून को भी निरस्त कर दिया गया। यह क़ानून अनेक झगड़े–फसादों और भ्रष्टाचार की जड़ था, इसके निरस्त होने से किसानों को भारी राहत मिली।

जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून के खण्ड 198 में यह प्रावधान था कि मान्यता प्राप्त शिक्षण संस्थान और कृषि सम्बन्धी जानकारी देने वाली संस्था के बाद गांव में यह पहला अधिकार भूमिहीन श्रमिकों को ही होगा कि वे भूमि प्रबंधन समिति द्वारा खण्ड 195 या 197 के तहत खेती के लिए ज़मीन प्राप्त करें। साथ ही, जहां अन्य आवेदकों और आवंटियों के लिए पुश्तैनी दरों के हिसाब से दस गुना लगान के बराबर रकम जमा करना जरूरी था, वहीं अनुसूचित जातियों के सदस्य ऐसी कोई रकम चुकाने के लिए बाध्य नहीं थे। इस खण्ड के नियमों में यह प्रावधान था

कि भूमि प्रबंधन समिति द्वारा आबादी की जगहों के आवंटन में भूमिहीन खेत मजदूरों को प्राथमिकता दी जाए। जोतों की चकबन्दी के क़ानून 1953 में भी उद्देश्यों का ब्यौरा देते समय यह प्रावधान रखा गया था कि गांव में हरिजनों और भूमिहीन खेत मजदूरों के लिए, उनकी आबादी के विस्तार के उद्देश्य से, भूमि अलग रखी जाए।

चरण सिंह की अध्यक्षता वाली प्रस्ताव समिति द्वारा मूलतः प्रस्तावित और नैनीताल में 12 से 17 मई, 1949 तक चली मंत्रिमंडल की बैठकों में स्वीकृत, जमींदारी उन्मूलन एवं भूमि सुधार विधेयक में मोटे तौर पर यह प्रावधान था कि सीर और खुदकाश्त भूमि के ऐसे किसी भी किसान को, जिसे मौजूदा क़ानून के तहत शिक्मी काश्तकार का दर्जा दिया गया हो या 250 रुपये या इससे कम भू–राजस्व चुकाने वाले जमींदारों के (बड़े जमींदार तो सीधे सीरदार घोषित किये जा चुके थे) किसी भी अधिवासी को (भले ही वह अनधिकृत हो), तथा काश्तकार के काश्तकार यानी किसी भी शिक्मी काश्तकार को भूमि से बेदखल नहीं किया जाएगा। उपर्युक्त निर्णय लेते समय मंत्रिमंडल ने इस दावे को स्वीकार कर लिया था कि 'अनधिकृत काश्तकारों' में से कम–से–कम 95 प्रतिशत वस्तुतः असली काश्तकार थे, लेकिन जमींदार और ग्राम पटवारी की सांठगांठ के चलते राजस्व के खातों में उन्हें अनधिकृत काश्तकार का दर्जा दे दिया गया था।

प्रांतीय शोषित संघ, जो पूर्वी उत्तर प्रदेश के बिल्कुल पिछड़े तबकों और हरिजन शोषितों के संगठन के रूप में तेजी से उभर रहा था, ने सीर, खुदकाश्त और शिक्मी काश्तकारों के भूमि सम्बन्धी अधिकार को सुनिश्चित करने की मांग उठाई। प्रा० शो० सं० की यही एक आर्थिक या भूमि सम्बन्धी मांग थी। जून 1949 में इलाहाबाद ज़िले के भीतरी अंचल में आयोजित एक सार्वजनिक सभा में जिसमें चरण सिंह मौजूद थे, यह घोषणा की गयी कि कांग्रेस ने सभी अधिवासियों (तथाकथित 'अनधिकृत' अधिवासी समेत) को जमींदारी उन्मूलन क़ानून लागू किए जाने के पांच वर्ष बाद भूमिधारी या सीरदारी का दर्जा दिये जाने का प्रस्ताव किया है। इस घोषणा ने बिजली की तरह असर दिखाया। परिणाम यह हुआ कि शोषित संघ तो बिल्कुल विघटित ही हो गया। संघ के कार्यकर्ताओं के लिए अब कोई शिकायत बाकी नहीं रह गयी थी तथा उनमें से काफी लोग भूमि सुधार के क्रांतिकारी स्वरूप से आकर्षित होकर कांग्रेस में शामिल हो गए। लेकिन जल्दी ही यह बात साफ हो गयी कि ऊंची जातियों से आने वाले कांग्रेसी नेताओं ने, जिनका पूरे प्रदेश संगठन पर व्यापक नियंत्रण था, इस घटनाक्रम का स्वागत नहीं किया।

जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार का जो विधेयक 7 जुलाई 1949

को विधायिका में पेश किया गया, उसमें यह प्रावधान (धारा 237) भी था कि सरकार द्वारा अधिसूचित ज़िलों में जिस बिचौलिए (जमींदार) के पास 6.25 एकड़ से कम निजी जोत भूमि होगी, उसे अधिवासी से इतनी भूमि ले लेने का अधिकार होगा जिसे मिलाने पर उसकी जोत भूमि का रकबा 6.25 एकड़ हो जाए, इस शर्त पर कि वह खाली या परती ज़मीन को (जो ग्राम समाज को सौंप दी गयी या दी जाने वाली थी) अपनी जोत भूमि में मिलाकर इस कमी को पूरा नहीं कर पाएगा।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सभी तरह के काश्तकारों की बेदखली 1946 से ही स्थगित थी। जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक के 'प्रवर समिति' को सौंपे जाने के बाद राजस्व मंत्री ठाकुर हुकुम सिंह ने यह प्रस्ताव रखा कि कम–से–कम उन्हें तो सीधे बेदखल किया ही जाए जो अनधिकृत हैं, लेकिन प्रवर समिति इससे सहमत नहीं हुई। फिर भी उनकी भावना का ख्याल रखते हुए प्रवर समिति ने, चरण सिंह की अनिच्छा के बावजूद, मान लिया कि 6.25 एकड़ की ऊपर उल्लिखित सीमा बढ़ाकर 8 एकड़ कर दी जाए। इस तरह जमींदार के बदले, बेदखल रह गये अधिवासी, जो अधिक से अधिक यही कर सकते थे कि ग्राम समाज से भूमि प्राप्त कर अपनी क्षतिपूर्ति करें।

जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक में अधिवासियों की बेदखली पर रोक और आगे के लिए ज़मीन को शिक्मी को प्रतिबंधित किये जाने से सम्बंधित जो ये दो प्रावधान थे, उनकी कुछ कांग्रेसियों द्वारा कड़ी आलोचना हुई, खासतौर से ऐसे कांग्रेसियों द्वारा जो राज्य के पूर्वी ज़िलों के थे। राज्यव्यापी कार्यक्रम के तहत अक्टूबर 1949 में जो क्षेत्रीय सम्मेलन वाराणसी में हुआ, उसमें इस मामले को लेकर चरण सिंह पर तीखे प्रहार हुए। कारण साफ था कि उस कमिश्नरी के (राज्य के अन्य अधिकांश मध्यवर्ती क्षेत्रों के भी) ज्यादातर कांग्रेसी हमारे समाज के उच्चतर वर्गों से आये थे, जो खासतौर से या तो राजपूत थे या ब्राह्मण। वे आम तौर से अपनी निजी ज़मीनों पर (जिन्हें राजस्व खातों में सीर या खुदकाश्त के रूप में दर्ज किया गया था) खुद खेती नहीं करते थे और उसे अनुसूचित या पिछड़ी जाति के लोगों को बटाई पर दे देने के आदी थे या फिर खेत मजदूरों को ज़मीन का एक या दो टुकड़ा देकर अस्थायी काश्तकार बना देते थे। राज्य के मध्यवर्ती और पूर्वी भागों से आने वाले समाजवादी दल के सदस्य तक भविष्य के लिए शिक्मी या बटाईदारी पर रोक के प्रावधान से खिन्न थे। यह बात देवरिया ज़िले के प्रजा समाजवादी विधायक श्री रामेश्वर लाल द्वारा पेश किये गए उस प्रस्ताव से स्पष्ट हो जाती है, जिसे 13 सितम्बर 1955 को कार्यसूची में शामिल किया गया

था। यह प्रस्ताव राज्य सरकार को आदेश करता था कि वह एक नया क़ानून बनाये या मौजूदा क़ानून में ऐसा संशोधन करे कि अगर पट्टादार या बंधक दाता के पास 3.25 एकड़ से अधिक ज़मीन हो तो काश्तकार या बंधक ग्राही का ज़मीन पर कोई हक न बने।

> दस साल बाद, अर्थात 17 नवम्बर 1965 को प्रजा समाजवादी दल के नेता श्री गेंदा सिंह ने, जो कांग्रेस में शामिल हो गए थे और मुख्यमंत्री श्रीमती सुचेता कृपलानी द्वारा कृषिमंत्री नियुक्त किए गए थे, श्रीमती कृपलानी के उस प्रस्ताव का बहुत ही जोरदार समर्थन किया जिसमें सभी भूमिधरों और सीरदारों को, बिना यह विचार किए कि उनके पास कितनी ज़मीन है तथा वे किसी तरह की अपंगता के शिकार हैं या नहीं, यह अनुमति दे दी गई थी कि वे अपनी ज़मीन खेती करने के लिए दूसरों को दे सकते हैं।

इससे साफ है कि जब मनुष्य के अपने या अपने वर्ग के हित का सवाल सामने आता है तब राजनैतिक आदर्श प्रासंगिक नहीं रह जाते। यहां भूमि सुधार के मामले में दोनों तरह के हित एक–दूसरे से घुलमिल गये थे।

जमींदारी प्रथा कहीं पुनः सिर न उठाए, इस बात को दृष्टि में रखते हुए क़ानून का ढांचा इस तरह बनाया गया कि भविष्य में किसी भूखंड पर स्वामित्व और दखल को दो व्यक्तियों के बीच अलगाया नहीं जा सके। इस नये ढांचे के अन्तर्गत अगर कोई जोतदार अपनी ज़मीन बेच देता है या भू–राजस्व, तकाबी या सहकारी समिति के ऋण की, अथवा अगर वह भूमिधर है तो निजी क्षेत्र के ऋण की अदायगी नहीं होने की स्थिति में उसकी नीलामी होने देता है, तो खरीदार का उस पर दखली अधिकार भी हो जाएगा। बेचने वाले को पहले की तरह उस पर दखल या कब्जा बनाए रखने का कोई अधिकार नहीं होगा। जोतदार को यह अनुमति नहीं होगी कि वह भोगाधिकार के साथ अपनी ज़मीन गिरवी रखे अथवा न ही उसे यह अनुमति होगी कि वह ज़मीन किसी को बटाई पर दे दे, अगर वह शरीर से समर्थ और मन से स्वस्थ है। ऐसा वह तभी कर सकेगा जबकि वह भारतीय सेना में नौकरी कर रहा हो या जेल में सज़ा काट रहा हो या मान्यता प्राप्त संस्थान में शिक्षा पा रहा हो लेकिन 25 वर्ष की आयु पूरी न कर पाया हो। अगर कोई भूमिधर ऐसा करेगा तो उसका पट्टा रद्द हो जाएगा। अगर वह सीरदार हुआ तो उसे और उसके पट्टादार को ग्राम समुदाय के या ग्राम समुदाय के असफल रहने पर, कलक्टर के आदेश से बेदखल किया जा सकेगा,

फिर भी भूमिधर और सीरदार को यह अनुमति थी कि वे भागीदारी के आधार पर खेती कर सकें।

इसके अलावा यह सुनिश्चित करने के लिए कि भूमि फिर से मुट्ठी भर लोगों के हाथों में न केन्द्रित होने लगे, चरण सिंह ने बाद में यानी 1958 में जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून में संशोधन का यह प्रावधान रखा कि (प्रारम्भ में निर्धारित 30 एकड़ की जगह) कोई भी व्यक्ति अपनी पत्नी (या अपने पति) और नाबालिग बच्चे सहित भविष्य में 12.5 एकड़ या 20 मानक बीघे से अधिक ज़मीन हासिल नहीं कर सकेगा, जिसमें वह जोत भी शामिल होगी जो पहले से उसके पास थी (परिवार की इस अवधारणा को बाद में लगभग पूरे देश में अपनाया गया)।

आगे चलकर छोटे–छोटे जोत–क्षेत्र और भी टुकड़ों में न बंटते जाएं, इस उद्देश्य से जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून में 1954 के संशोधन के अनुसार यह परिवर्तन किया गया कि संयुक्त जोतदारी या उस जोत क्षेत्र को, जो आकार में 3.125 एकड़ या पांच मानक बीघे से अधिक न हो, क़ानूनी अदालत के जरिए विभाजित नहीं किया जा सकेगा। शुरू में यह 6.25 एकड़ था। अगर भागीदारों की आपस में न बने और उनमें से कोई या सभी अदालत में चले जाएं, तो उन्हीं के बीच ज़मीन की नीलामी होगी और उनमें से सिर्फ किसी एक के हाथ ज़मीन बेच दी जाएगी। जिन क्षेत्रों में जोतों की चकबंदी हो गई थी, वहां के लिए यह क़ानूनी व्यवस्था की गई कि अगर ज़मीन पड़ोसी किसान के बदले किसी और को बेची गई हो और वह बेचने वाले के उस 'चक' का हिस्सा हो जिसका आकार 3.125 एकड़ से कम हो, तो पूरे 'चक' की ही बिक्री होगी। अगर पड़ोसी किसान खरीद रहा हो तो बेची जाने वाली भूमि के रकबे पर कोई पाबंदी नहीं होगी।

जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के फलस्वरूप राजस्व की मांग जहां 9.2 करोड़ से बढ़कर 22.3 करोड़ रुपये हो गई, वहीं सरकारी खजाने पर पूर्ववर्ती जमीदारों को मुआवज़े और पुनर्वास अनुदान के भुगतान का बोझ आ पड़ा। प्रत्येक जमींदार को अपनी वास्तविक परिसम्पत्तियों के आठ गुना के बराबर मुआवज़ा राज्य द्वारा गारंटीकृत बांडों के रूप में प्राप्त करने का अधिकार था, लेकिन छोटे जमींदारों को पुनर्वास अनुदान भी दिया गया। पुनर्वास अनुदान की रकम छोटे जमींदारों द्वारा चुकाई जाने वाली भू–राजस्व की रकम के प्रतिलोमी अनुपात में अलग–अलग होती थी। बिचौलिए की कुल आय में से मूल्यांकित भू–राजस्व की रकम, अगर देय हो तो कृषि आयकर की रकम, स्थानीय करों और जमींदारी प्रथा के उन्मूलन से पहले चुकाए जाने वाले उपकरों की रकम तथा प्रबंध लागत और अप्राप्य बकाया लगान का हिसाब पूरा करने के लिए

सकल परिसम्पत्तियों के 15 प्रतिशत के बराबर की रकम घटाकर उनकी वास्तविक परिसम्पत्तियां निर्धारित की गई थीं।

लाखों जमींदारों के मुआवज़े और पुनर्वास अनुदान के निर्धारण और भुगतान के लिए एक कम खर्चीली, साफ–सुथरी और प्रभावी मशीनरी गठित की गई थी, जिसने रिकार्ड समय में अपना काम पूरा कर लिया। भू–राजस्व की वसूली के लिए भी एक मशीनरी गठित की गई थी जो तभी से बहुत कम लागत पर और बिना किसी बाधा के सुचारू रूप से अपना कार्य कर रही है।

एक टिप्पणीकार ने लिखाः

> मुआवज़ा सूचियां तैयार करना अपने आप में एक बहुत ही बड़ा काम है। अकेले उत्तर प्रदेश में ही लगभग एक करोड़ मुआवज़ा सूचियां तैयार करनी होंगी। ऐसे काम की जटिलता को कम करके नहीं आंका जाना चाहिए, जबकि पिछले दस सालों के या उससे भी पुराने रिकार्ड देखे जाने हैं। जमींदारों द्वारा किए गए संदिग्ध अनुबंधों की सरकार द्वारा जांच की जानी है। ज़मीनें काश्तकारों के नाम कर देने से सम्बन्धित काम तो और भी बड़ा काम है। ज़िला अदालतों और उच्च न्यायालयों में चूंकि हर कदम पर अपील की व्यवस्था है, इसलिए वहां शिकायतों और विवादों का तांता लगा रहेगा। प्रशासन को यह भी तय करना होगा कि जमींदारों से एक साथ निपटा जाए या फिर धीरे–धीरे (देखें–चरण सिंह, रीसेंट ट्रेंड्स इन एग्रेरियन रिफॉर्म्स, दिल्ली, आत्माराम एण्ड संस, 1962, पृ० 169)।

पूर्ववर्ती जमींदारों या बिचौलियों को (जैसा कि उन्हें जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून में कहा गया) सूदखोरों के चंगुल से छूटने में सहायता पहुंचाने के उद्देश्य से एक अलग उपाय किया गया और ऋण कटौती क़ानून के तहत उनके ऋणों में उसी अनुपात में कमी कर दी गयी, जिस अनुपात में उन्होंने मुआवज़े की रकम प्राप्त की थी। वह रकम उनकी ज़मीनों के यू० पी० एनकम्बर्ड इस्टेट्स एक्ट, 1934 के अनुसार निर्धारित मूल्य के आधार पर तय की गयी थी। अतः आम लोगों की भाषा में 60 से 80 प्रतिशत तक उनके ऋणों में कमी की गयी थी। फिर इस कम की गयी रकम की वसूली की कार्यवाही के लिए भी यह प्रावधान रखा गया कि वह पूर्व–जमींदार को भुगतान की जाने वाली मुआवज़े और पुनर्वास अनुदान की रकम के सिर्फ तीन–चौथाई भाग पर ही लागू होगी। सरकार द्वारा अधिगृहीत भू–सम्पत्ति के अनुसार निर्धारित डिग्री की रकम से ऋणदाता को अगर संतोष नहीं होता तो भी वह

पूर्व जमीदार की भूमिधारी या सीरदारी भूमि पर अपना दावा नहीं पेश कर सकता था।

फिर भी ऋण अगर आरक्षित होता और ऋणदाता अपने ऋणी के मुआवज़े या पुनर्वास पर दावा करने का निश्चय करता तो डिग्री के समायोजन के उद्देश्य से नीलाम किए गए बांड का मूल्यांकन यू० पी० एनकम्बर्ड इस्टेट्स एक्ट के तहत किया जाता, जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है। इसका अर्थ है कि डिग्री के निपटाने में बेचे गए बांडों के हर रुपये का ढाई से पांच गुना तक अधिक मूल्य आंका गया।

जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून निजी ज़मीनों की तरह सार्वजनिक न्यासों (ट्रस्टों) के स्वामित्व वाली ज़मीनों पर भी लागू हुआ, चाहे वे न्यास धर्मार्थ हों या जनसेवी। ऐसा इसलिए कि उपर्युक्त न्यासों और संस्थानों के काश्तकारों को भी निजी ज़मीनों के काश्तकारों की तरह ही भूमि सुधारों का लाभ मिले। फिर भी लोकहित की सुरक्षा की दृष्टि से राज्य सरकार ने उन संस्थानों के लिए वार्षिक अनुदान निश्चित कर दिए। जो मुआवज़ा पाने के वे अधिकारी थे, वह तो उन्हें मिला ही। वार्षिक अनुदान की रकम सम्बद्ध न्यास की सकल परिसम्पत्तियों के मूल्य में से मुआवज़े के ढाई प्रतिशत के हिसाब से जोड़ी गई रकम को घटा देने के बाद बची रकम के बराबर थी।

जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून में यह व्यवस्था भी थी कि भूमिधरों और सीरदारों द्वारा चुकाए जाने वाले भू–राजस्व अगले चालीस वर्षों तक अपरिवर्तित रहेंगे। यहां यह चर्चा अप्रासंगिक न होगी कि दस साल बाद यानी 1962 में तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री चन्द्रभानु गुप्त ने जब इसमें 50 प्रतिशत वृद्धि की पहल की तो चरण सिंह ने, जो उस समय कृषिमंत्री थे, उसका तीव्र विरोध किया तथा मुख्यमंत्री के पास 19 सितम्बर 1962 को एक गोपनीय ज्ञापन देते हुए अपने विरोध के पक्ष में बौद्धिक तर्क पेश किए। उस ज्ञापन के आरम्भिक अनुच्छेद इस प्रकार हैं: तीसरी पंचवर्षीय योजना की वित्तीय व्यवस्था के लिए राज्य सरकार ने लैंड होल्डिंग बिल पेश किया है, जिसका उद्देश्य जोतदारों द्वारा देय मौजूदा भू–राजस्व में 50 प्रतिशत की वृद्धि करना है। फिर भी यहां पांच ऐसे सबल कारण दिए जा रहे हैं कि क्यों राज्य सरकार को यह कदम नहीं उठाना चाहिए–

(क) किसानों की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं कि उन पर और वित्तीय बोझ लादने का औचित्य सिद्ध हो,

(ख) उत्तर प्रदेश में भूमि पर पहले से ही काफी कर लगे हुए हैं और ग्रामवासी या किसान अपने कर चुकाने के प्रयास में पीछे नहीं हैं,

(ग) यह कर अनावश्यक है, क्योंकि आवश्यक कोष और वांछित नतीजे अन्य उपायों से प्राप्त किए जा सकते हैं,
(घ) यह विधेयक राजनैतिक दृष्टि से कांग्रेस के लिए बहुत ही घातक कदम सिद्ध होगा तथा
(ङ) भू–राजस्व में किसी प्रकार की वृद्धि जनता को दिए गए तथा जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून, 1952 में समाहित इस आश्वासन से मुकर जाना होगा कि राज्य अगले चालीस वर्षों तक भू–राजस्व में वृद्धि नहीं करेगा।

यह मामला जल्दी ही योजना आयोग और नई दिल्ली के कांग्रेसी नेताओं तक जा पहुंचा। चरण सिंह ने 29 सितम्बर 1962 को जो नोट नई दिल्ली भेजा था, वह 45 पृष्ठों का था। उन्होंने इससे पहले श्री चन्द्रभानु गुप्त को साफ बता दिया था कि राज्य सरकार ने अगर किसानों के विश्वास को तोड़ दिया तो वे त्यागपत्र दे देंगे। आखिरकार, उस प्रस्ताव को छोड़ दिया गया।

२

विरोधी आलोचकों को जवाब

उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक अब जनता के सामने है। यद्यपि समाचार–पत्रों और जनता के मंच से इसे उत्साहपूर्ण और व्यापक समर्थन मिला है, फिर भी कुछ निहित स्वार्थ वाले या अनभिज्ञ पक्षों द्वारा इसकी आलोचना होती रही है। एक ऐसे दूरगामी कदम का, जो एक पूरे सामंती ग्रामीण ढांचे की विकृतियों को जड़ों से उखाड़ डाले, विरोध बिल्कुल प्रत्याशित है, चाहे वह अज्ञानवश हो या जान–बूझकर–सुविचारित योजना के अनुसार। अब तक जो आपत्तियां उठाई गई हैं उनका यहां उत्तर दिया जा रहा है तथा इसी क्रम में कुछ अन्य सम्बद्ध बातों का भी उल्लेख किया जा रहा है।

अब पाठक जान ही चुके होंगे कि इस विधेयक का उद्देश्य उन सभी जमींदारों को यह विचार किए बिना कि उनकी जमींदारी का आकार क्या है, बेदखल कर देना है जो महज लगान वसूलते हैं यानी जो राज्य और काश्तकारों के बीच सिर्फ बिचौलिये का काम करते हैं। साथ ही उत्तर प्रदेश में सारी भूमि का क़ानूनी स्वामित्वाधिकार राज्य को सौंपना है तथा उन सभी लोगों को भूमिधारी के अधिकार प्रदान करना है, जिनका भूमि पर काश्तकारी का क़ानूनी अधिकार है, भले ही आज उनकी काश्तकारी का दर्जा कुछ भी हो लेकिन काश्तकार या शिक्मी काश्तकार के मामले में जमींदार को चुकाए जाने वाले वार्षिक लगान की क्रमशः 10 या 15 गुना रकम के भुगतान की शर्त रहेगी। यहां यह उल्लेखनीय है कि भूमिधारी को ज़मीन किसी के नाम कर देने का, अपनी इच्छा के अनुसार उसका किसी भी तरह से उपयोग करने का तथा अपने लगान में आधी कमी लाने का अधिकार होगा। सभी प्रकार की परती ज़मीनों की देखरेख ग्राम समुदाय करेगा जिसे पंचायती राज क़ानून के तहत कुछ निश्चित न्यायिक और प्रशासनिक अधिकार पहले ही निश्चित किए जा चुके हैं। सभी जमींदारों को उनकी शुद्ध आय के आठ गुना के बराबर मुआवज़े का भुगतान किया जाएगा तथा जो जमींदार 5000 रुपये या उससे कम भू–राजस्व चुका रहे हों, उन्हें पुनर्वास अनुदान भी दिए जाएंगे, जो शुद्ध आय के दो गुना से लेकर बीस गुना तक तथा देय भू–राजस्व की रकम के प्रतिलोमी अनुपात

से अलग–अलग होंगे। पूरे राज्य में दोनों तरह के भुगतानों की कुल रकम 137.5 करोड़ रुपये तक पहुंच जाएगी।

भविष्य की काश्तकारी

खास स्थितियों में सहकारी कृषि का प्रावधान भी अनिवार्य रूप से विधेयक में रखा गया है और इस हेतु राज्य द्वारा सभी प्रकार की सम्भव सहायता व प्रोत्साहन की गारंटी दी गई है। भविष्य में फिर से ज़मीन को लेकर आदमी के द्वारा आदमी के शोषण की नौबत न आए, इसके लिए भूमि को पट्टे पर देने या शिक्मी करने या भोगाधिकार सहित बंधक रखने पर तथा संयुक्त पारिवारिक जोत के रकबे को 30 एकड़ से आगे ले जाकर उस पर पूंजीवादी खेती शुरू करने पर भी बिल्कुल रोक लगा दी गयी है। इसके उल्लंघन की स्थिति में भूमि को सीधे जब्त कर लिया जाएगा। अलाभकर जोतों की संख्या न बढ़े, इस दृष्टि से दस मानक बीघे या उससे कम रकबे की भूमि को अविभाज्य घोषित किया गया है, साथ ही बड़े आकार की जोतों को कम–से–कम दस बीघे से छोटे टुकड़ों में नहीं बांटा जा सकेगा। अगले 40 वर्षों तक राज्य द्वारा भू–राजस्व को बढ़ाने की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया जाएगा। संक्षेप में इस विधेयक के ये ही प्रमुख प्रावधान हैं, जिसमें कुल मिलाकर 310 अनुच्छेद हैं।

जिस दौरान इतने बड़े वैधानिक कदम को उठाने की तैयारियां चल रही थीं, कांग्रेस के विरोधी जोर–शोर से यह प्रचार कर रहे थे कि यह सरकार अक्षम है और इसीलिए प्रस्तावों को तैयार करने में जरूरत से ज्यादा समय लगा रही है, यानी यह संदेहास्पद है कि जमींदारी उन्मूलन के मामले में कांग्रेस सरकार ईमानदार या गम्भीर है। मगर ये आलोचक इस तथ्य को भूल गये कि हमने सिर्फ जमींदारी का उन्मूलन नहीं किया, यानी उसे सिर्फ खत्म ही नहीं किया बल्कि उसकी जगह एक टिकाऊ ढांचे का निर्माण भी किया है, जो वर्तमान की आवश्यकताओं के अनुरूप तथा आने वाले समय की कसौटी पर खरा उतरने वाला है। इस तरह के निर्माण के लिए, खासतौर से ऐसे सामाजिक आधार के निर्माण के लिए, जिससे भावी योजना प्रभावित होने वाली हो, ठोस राजनीतिक दूरदर्शिता और समझदारी की अपेक्षा अत्यावश्यक है। 'जमींदारी उन्मूलन' एक नकारात्मक नारा है, जबकि इस मामले के प्रभारियों ने एक सकारात्मक समाधान सामने रखा है–एक वैकल्पिक भूमि व्यवस्था।

रूस से तुलना

ऐसे आलोचकों के दिमाग में सोवियत रूस रहा है। लेकिन रूस में जब मौजूदा व्यवस्था को जल्दबाजी में तोड़ दिया गया, तब कोई वैकल्पिक योजना तैयार ही नहीं थी तथा विकल्प तैयार करने में उसे पूरे दस वर्ष लगे। क्रांति–वर्ष 1917 से 1927 तक, जब अंततः सामूहिकीकरण का निर्णय लिया गया, रूसियों को आधा दर्जन बार अपनी भूमि सम्बन्धी नीतियों में कई फेर–बदल करने पड़े थे। इसके चलते गरीबी और बढ़ी और अनावश्यक रूप से राष्ट्रीय क्षति भी हुई। फरवरी 1917 में सारी भूमि कम्यूनों से सम्बद्ध थी और उसे पुराने सिद्धांतों के आधार पर उनके सदस्यों में पुनर्वितरित कर दिया गया था। आठ महीनों के बाद संविधान सभा के चुनावों में किसानों का समर्थन पाने के उद्देश्य से लेनिन ने यह नारा दिया–"जो लूट लिया गया था, उसे लूट लो।" फरवरी 1918 में भूमि पर सभी तरह के निजी स्वामित्व को खत्म कर दिया गया तथा समान अधिकार के सिद्धांत के अनुसार भूमि को श्रमिकों में वितरित कर दिया गया। भूमि के हर तरह के लेन–देन की मनाही कर दी गई। एक वर्ष बाद जब कम्युनिस्टों को लगा कि राज्य सत्ता पर पूरी तरह से उनका नियंत्रण है, तब सारी भूमि मात्र राज्य की सम्पत्ति घोषित कर दी गई और भूमि पर 'सभी तरह के व्यक्तिगत अधिकार' को अलविदा कर दिया गया। विशाल सोवियत राज्य फार्मों, कम्यूनों और संयुक्त खेती के अन्य रूपों को 'समाजवादी ढंग की कृषि प्रणाली विकसित करने की दिशा में सर्वोत्तम साधन' कहा गया, लेकिन यह एक छिद्रयुक्त पतीला साबित हुआ। किसानों पर अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई। अतः मार्च 1921 में 'तथाकथित सम्पन्न किसानों की असली मानसिकता को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय अर्थ–व्यवस्था के विकास हेतु नई आर्थिक नीति की घोषणा की गई', जिनके बारे में लेनिन ने स्वीकार किया था कि 'पिछले तीन वर्षों के दौरान हम उनके इरादों और भावनाओं को बदलने में नाकामयाब रहे हैं।' इतना ही नहीं, अनाज की अनिवार्य उगाही को कम कर दिया गया, रूबल को फिर से चालू कर दिया गया और खुले बाजार में खरीद–बिक्री की अनुमति भी दे दी गई। 1924 में कम्युनिस्ट लोग और भी 'दक्षिण' की ओर झुके तथा सरकार ने अपना पूरा दृष्टिकोण ही बदल डाला। भूमि की कर उगाही नकदी आधार पर तय की गई तथा किसानों को भूमि किराये पर उठाने की, मजदूर लगाने की और कृषि मशीनरी खरीदने की भी अनुमति दे दी गई।

हमने तो यहां एक ऐसी प्रणाली विकसित करने में सिर्फ तीन ही वर्ष

लगाए, जो निश्चय ही सरकार के लिए असामान्य दबावों और तनावों के वर्ष थे। हमारे किसानों को यह प्रणाली पूरी तरह से स्वीकार्य होगी जबकि रूसी प्रणाली दो दशक से अधिक समय बीत जाने के बावजूद किसानों द्वारा आज भी रद्द की जा सकती है, अगर उन्हें इसकी स्वतंत्रता मिले।

पूंजीपति

एक और आपत्ति भी है कि जिसे उन्मूलन योजना के गुण–दोष से कुछ लेना–देना नहीं है लेकिन जो बात अक्सर कही जाती है, वह यह कि हम पूंजीपतियों के साथ पक्षपात बरत रहे हैं क्योंकि साथ–साथ ही हम उद्योगों का राष्ट्रीयकरण नहीं कर रहे हैं। इसका उत्तर यह है कि कांग्रेस यद्यपि बड़े और बुनियादी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के लिए वचनबद्ध है, फिर भी पूंजीपतियों और जमींदारों को एक ही श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। पूंजीपति कम–से–कम अधिशेष–मूल्य और अतिरिक्त उत्पादन के विकास में स्वयं भी सक्रिय भूमिका अदा करता है लेकिन जमींदार 'बिना कुछ किए धरे' उस अतिरिक्त उत्पाद और अधिशेष मूल्य में सिर्फ अपनी हिस्सेदारी बढ़ाता जाता है।

दूसरे, औद्योगिक क्षेत्र के सर्वहारा की जीवन–दशा में बुनियादी बदलाव लाने के लिए राष्ट्रीयकरण कुछ नहीं करने जा रहा है, क्योंकि इससे महज उनके मालिक बदलेंगे, निजी मालिकों की जगह राज्य ले लेगा और उन्हें उन्हीं कारखानों में पहले की भांति काम करना होगा, जबकि जमींदारी के उन्मूलन का अर्थ होगा–किसानों के जीवन में बदलाव। फिर, बड़े पैमाने पर खड़े किये गये उद्योग कृषि क्षेत्र में लगे लोगों की तुलना में कुल साढ़े बाईस लाख लोगों को ही रोजगार मुहैया कराते हैं। इसलिए राजनेताओं को आवश्यक रूप से अपना सारा जोर पहले जमींदारी को खत्म करने में लगाना है जो कि राष्ट्रीय जीवन की सबसे बड़ी बुराई है–ठीक उसी तरह जैसे डाक्टर मरीज की अन्य छोटी शिकायतों की तुलना में पहले उस व्याधि का इलाज करता है जिससे वह बुरी तरह ग्रस्त है। अंत में, जब तक हमारे पास प्रशिक्षित तकनीशियन उपलब्ध नहीं होते तथा नैतिक और प्रशासकीय क्षमता के स्तर में निश्चित वृद्धि नहीं हो जाती, तब तक तात्कालिक परिस्थितियों में, राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होने के बजाय कमी ही आने की सम्भावना है।

अब जरा उन्मूलन के तरीके पर गौर करें। इतिहास हमें तीन तरीकों की जानकारी देता है। पहला तरीका जापान ने दिया, जहां 1868 में दो सौ पचास प्रमुख सामंतों ने, जिन्हें डियाम्यो कहा जाता था, अपने

मालिकाना अधिकार, प्रशासकीय अधिकार और वंशगत उपाधियां स्वेच्छा से सम्राट को सौंप दिये। उन्हें महज उनकी पुरानी जायदादों से होने वाली आय के निश्चित प्रतिशत के भुगतान की गारंटी दी गयी। उनके उदाहरण का अनुसरण किया निम्नतर श्रेणी के सामंतों ने, जो समुराई कहलाते थे। वे संख्या में, 4,00,000 थे। उन्हें पहले राजस्व के उपभोग की स्वीकृति मिली लेकिन अनेक मामलों में वंशगत सिद्धांत को तिलांजलि दे दी गयी। इन पेंशनों के वार्षिक भुगतान की रकम लगभग 1,20,00,000 पौण्ड हो जाती थी। राष्ट्रीय कोषागार पर यह एक भारी बोझ था लेकिन इस समस्या का समाधान काफी हद तक समुराइयों ने स्वयं कर लिया। वर्ष 1873 में शाही आदेश के अनुसार समुराइयों के वंशानुगत पेंशन के क्रय के लिए छह वर्षों के राजस्व की तथा आजीवन पेंशन के क्रय के लिए चार वर्षों के राजस्व की दरें निश्चित की गईं। समुराइयों ने समय की मांग को देखते हुए स्वेच्छा से यह व्यवस्था स्वीकार कर ली तथा मान लिया कि उनकी उपयोगिता का दौर बीत चुका है। सार्वजनिक हित के लिए भूस्वामी सामंतों के ऐसे आत्मोत्सर्ग का उदाहरण कोई अन्य देश प्रस्तुत नहीं कर सकता। इसने जापान में देशभक्ति की ऐसी लहर पैदा की कि छह दशकों की अल्पावधि में ही वह विश्व समुदाय का अग्रणी राष्ट्र बन गया।

दूसरा उदाहरण 1917 की रूसी क्रांति ने प्रस्तुत किया, जहां जर्मनों के साथ युद्ध में रूसी सेनाओं के बुरी तरह मात खाने के बाद काफी तादाद में किसानों ने सशस्त्र विद्रोह कर दिया। भूस्वामियों के सम्भ्रांत वर्ग—'बोयारों' का अत्याचार अपनी सारी सीमाएं तोड़ चुका था। भूस्वामियों के विरुद्ध क्रोधोन्माद उनकी सम्पत्तियों तक जा पहुंचा। बेशकीमती समान, यहां तक कि किसानों के लिए खेती के उपयोग की मशीनें आदि भी नष्ट कर दी गयीं और मवेशियों का निर्ममता से वध कर दिया गया।

तीसरा उदाहरण आयरलैंड, डेनमार्क, जर्मनी, रूमानिया तथा अन्य यूरोपीय देशों द्वारा प्रस्तुत किया गया, जहां जमींदारी प्रथा को तलवार से नहीं बल्कि क़ानून से खत्म किया गया तथा जमींदारों को मुआवज़ा दिया गया।

पहले तरीके का दौर बीत चुका है। अगर हमारे जमींदारों ने जापान के मार्ग का अनुसरण किया होता तो कांग्रेस सरकार और पूरे देश ने उन्हें हृदय से सराहा होता। दूसरा मार्ग न तो महात्मा गांधी के विचारों की दृष्टि से वांछनीय है और न ही इस दृष्टि से आवश्यक है, क्योंकि राजनीतिक सत्ता अब स्वयं जनता के हाथ में है। तीसरा और एकमात्र उचित मार्ग हमारे सामने यही रह गया है कि जमींदारी का उन्मूलन कलम

के जरिये यानी अहिंसक तरीकों से किया जाए, और अब यही किया जा रहा है।

मुआवज़ा

अब मुआवज़े की बात करें। इस सवाल का उन्मूलन के तरीके से गहरा सम्बंध है। जापान में भूस्वामी वर्ग ने सांकेतिक मुआवज़े को स्वीकार कर लिया, क्योंकि वह देश के हित में अपने–आपको मिटाने का निश्चय पहले ही कर चुका था। रूस में मुआवज़े का सवाल उठा ही नहीं क्योंकि जमींदारी के साथ–साथ जमींदार भी खत्म हो चुके थे और ऐसा कोई बच ही नहीं पाया था जो इसका इरादा करता। जिन अन्य देशों में राज्य द्व ारा क़ानून के जरिये सामंती प्रथा को समाप्त किया गया, वहां तो मुआवज़े का भुगतान होना ही था क्योंकि क़ानून निश्चित सिद्धांतों पर टिका होता है तथा उसे सभी प्रभावित पक्षों का ध्यान रखना पड़ता है।

जो लोग जब्ती की नीति की वकालत करते हैं, वे आमतौर पर ऐसे सन्दिग्ध उपायों का हवाला देते हैं कि कैसे अतीत में कोई भूमि हथियाई गई। लेकिन पूर्वजों के पाप के लिए पोते–परपोतों को दंडित करने का औचित्य भी संदिग्ध है, क्योंकि इनमें से कुछ ने तो बाद के दौर में स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेकर अपने पूर्वजों के पापों का प्रायश्चित भी किया है।

आलोचकगण महात्मा गांधी के उन विचारों का हवाला दे सकते हैं और कभी–कभी देते भी हैं जो उन्होंने जून 1992 में श्री लुई फिशर को दी गई अपनी दो भेंट–वार्ताओं के दौरान व्यक्त किये थे। जब उनसे क्रांतिकारी उथल–पुथल के दौरान, जो वस्तुतः अगले अगस्त में ही देश में शुरू हो गयी, किसानों की अपेक्षित भूमिका के बारे में सवाल किया गया तो उन्होंने घोषणा की थी कि वे (किसान) भूमि पर कब्जा कर लेंगे, उन्हें इसकी अपेक्षा नहीं रहेगी कि कोई उनसे ऐसा करने के लिए कहे, तथा मुआवज़े का भुगतान तो बिल्कुल नहीं किया जाएगा। फिर ऐसी स्थिति में यह भुगतान क्यों किया जा रहा है? चूंकि महात्मा जी उस क्रांति की बात कर रहे थे, जिसकी ज्वाला विदेशी हुकूमत के साथ–साथ पूरे सामाजिक ढांचे को नहीं, तो कम–से–कम उस मौजूदा भूमि व्यवस्था का सर्वनाश कर ही डालती, जो विदेशियों के हित में थी। उस समय हम चूक गए और अब इसकी शिकायत हम नहीं कर सकते। फिर भी, यह महात्मा ही थे जिन्होंने दिसम्बर 1945 की बदली हुई परिस्थितियों में चुनाव घोषणा–पत्र का मसौदा तैयार किए जाते समय कांग्रेस हाई कमान को 'उचित मुआवज़े' का प्रावधान रखने की सलाह दी थी।

जहां तक दरों का सवाल है, जमींदारों की दलील है कि यह अदालत पर छोड़ दिया जाना चाहिए कि वह उचित दर के बारे में निर्णय ले लेकिन अगर अदालतें ज़मीन के हर टुकड़े पर ऐसा निर्णय देने लग जाती तो फिर जमींदारी उन्मूलन का काम दीर्घकाल तक रुका रहता। हर जगह भूमि के मामले में सारी कार्यवाही विधायिका करती है जिसमें जनता के प्रतिनिधि होते हैं, वही सिद्धांत निरूपित करती है और बताती है कि क्या उचित है।

समाजवादी आलोचक

विधेयक के समाजवादी आलोचकों को इसमें या इसकी योजनाओं के सिद्धांत में कोई बड़ा दोष दिखाई नहीं दिया तो उन्होंने प्रस्तावित मुआवज़े की विशालता पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। वे सुझाते रहे कि 'सीर, खुदकाश्त और बाग–बगीचों की ज़मीनों के मामले में अधिकारों में कटौती करते हुए' भूमि के पुनर्वितरण के आधार पर मुआवज़े का भुगतान करना चाहेंगे तथा किसी को भी एक लाख रुपये से अधिक न देने की बात करेंगे। उनके लिए यह उपयुक्त हो सकता है कि जो जी में आये कह डालें, लेकिन उन्हीं के नेता आचार्य नरेन्द्र देव ने जमींदारी उन्मूलन समिति को दिए गए अपने ज्ञापन में ऐसी कोई शर्त नहीं रखी थी। उन्होंने किसी व्यक्ति को दिए जाने वाले मुआवज़े की अधिकतम सीमा पांच लाख रुपये रखी थी तथा अनुमान लगाया था कि मुआवज़े की कुल राशि 100 करोड़ रुपये होगी। अब यह फैसला पाठकों को करना है कि क्या मुआवज़े के भुगतान के साथ बड़े फार्मों में कटौती की कोई प्रासंगिकता है तथा 100 करोड़ और 137.5 करोड़ के बीच खाई क्या इतनी बड़ी है कि इसे सैद्धांतिक विरोध का रूप देते हुए हायतौबा मचाई जाए?

अब जबकि मुआवज़े का भुगतान किया जाना है तो केवल दो ही रास्ते हमारे सामने हैंः एक–या तो राज्य किस्तवार बांडों के रूप में भुगतान करे, दूसरा या काश्तकारों को नकद भुगतान करने के लिए कहा जाए। जो लोग पहले विकल्प की वकालत करते हैं वे भूल जाते हैं कि सभी कराधान चूंकि अंतिम विश्लेषण में उत्पादक पर लागू होते हैं, इसलिए मुआवज़ा अन्ततः उन काश्तकारों से आना है जो ज़मीन जोतते हैं और बहुत बड़ी संख्या में राज्य के उत्पादक हैं। आखिर राज्य जादू के करिश्मे से तो मुआवज़े का भुगतान नहीं कर सकता।

भूमिधारी के अधिकार

विधेयक यह काश्तकारों पर छोड़ता है कि या तो वे आज ही भुगतान करके बदले में भूमिधारी के अधिकार और साथ–साथ लगान में 50 प्रतिशत छूट प्राप्त कर लें, या मौजूदा लगान को किस्तों में भुगतान करते हुए सीरदारी या सिर्फ जोत के अधिकारों से सन्तोष करें। इस सुसंगत, लेकिन महत्वपूर्ण प्रावधान की आलोचना मुख्यतः इस आधार पर की जाती है कि काश्तकारों के पास इतने–साधन नहीं कि वे भुगतान कर सकें। बहुत खूब ! अगर उनके पास साधन नहीं, तो कोई उन्हें मजबूर नहीं करेगा, लेकिन उत्तर प्रदेश सरकार मानती है कि यहां का कृषक वर्ग यद्यपि नगरवासियों या निर्माता वर्ग की तरह खुशहाल या अन्य अग्रणी देशों की तरह सम्पन्न नहीं है, फिर भी इतने साधन तो उसके पास हैं कि वह अपने लगान को दस बार में चुका सके। वर्ष 1940 में 290 करोड़ रुपये मूल्य के करेंसी नोट देश में प्रचलित थे, 1945 में यह मूल्य बढ़कर 1180 तक जा पहुंचा, और अब तो यह और भी ऊपर चला गया होगा। हालांकि सच है कि महायुद्ध के दौरान व्यापारियों और उद्योगपतियों ने खूब मुनाफा कमाया, फिर भी नकद करेंसी का एक बड़ा हिस्सा गांवों में भी पहुंच गया है। परिणामस्वरूप 1942 तक, कम–से–कम उत्तर प्रदेश में, ग्रामीण क्षेत्र की ऋण ग्रस्तता लगभग खत्म हो गई थी। यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी वे सभी लोग पुष्टि करेंगे जो देहाती मामलों से भलीभांति परिचित हैं।

फिर, आलोचक यह देख पाने में विफल रहते हैं कि किसान को भूमि की कितनी ललक रहती है, यह अनुभव करने के लिए उन्हें किसान होना पड़ेगा कि उसे भूमि का कैसा मोह होता है। भूमि सुरक्षा की भावना का संचार करती है और भविष्य के लाभ की ऐसी गारंटी देती है, जो किसी और तरह की सम्पत्ति नहीं दे सकती। यह एक जीती–जागती अचल सम्पत्ति है। रुपया–पैसा और अन्य परिसम्पत्तियां चुक जाती हैं, लेकिन भूमि वैसी की वैसी बनी रहती है। पीढ़ी–दर–पीढ़ी किसान उस दिन के सपने देखता रहा है जब वह जोती जा रही ज़मीन को अपनी ज़मीन कह सकेगा, वही सपना आज साकार होने जा रहा है। अपनी जोत भूमि पर पूरा अधिकार पा जाने से पूर्णता की जो भावना या सन्तुष्टि किसान को मिलती है, उसे क्या रुपये–पैसे या अन्य भौतिक वस्तुओं से मापा जा सकता है? नहीं, ये सब तुच्छ है। भूमिधर होने के लिए वह अपना सब कुछ त्याग सकता है, यहां तक कि अपनी पत्नी के गहने–जेवर भी।

काश्तकार के लाभ

काश्तकार के लाभ को अगर रुपयों में ही आंका जाए तो वह परिणाम की दृष्टि से निश्चित ही अधिक है। मान लीजिए, उसके पास पांच एकड़ भूमि है और वह औसतन 25 रुपये लगान के रूप में चुकाए तो एकमुश्त 250 रुपये का भुगतान कर देने पर भविष्य में उसे सालाना 12.50 रुपये ही लगान चुकाना होगा, जिसमें अगले चालीस वर्षों तक किसी भी हालत में वृद्धि नहीं होगी। इसका अर्थ है कि चालीस वर्षों में वह 500 रुपये कमा या बचा लेगा, जो कि आज भुगतान की जाने वाली रकम का दो गुना है। बैंक दर से 250 रुपये की रकम इस अवधि में सिर्फ 400 रुपये हो पाएगी। फिर, इससे बड़ी बात यह है कि वह आज अपनी भूमि को बेच नहीं सकता और न ही उसकी जमानत पर किसी तरह का ऋण ले सकता है। भूमिधारी के अधिकार प्राप्त करते ही उसकी भूमि की कीमत बढ़कर प्रति एकड़ कम से कम 500 रुपये की दर से 7,500 रुपये हो जाएगी। इस योजना से देश को या प्रदेश को भी काफी लाभ होगा।

हमारा उत्पादन आज भी लगभग वही है जो 1939 में था, लेकिन करेंसी तब से चार गुना बढ़ गयी है। अतः मांग और आपूर्ति के नियम के अनुसार कीमतें लगभग चार गुना या वस्तुतः 378 प्रतिशत हो गई हैं। देहातों में उपभोक्ता वस्तुओं की मांग है और हम उसे पूरा नहीं कर सकते।

कृषि और औद्योगिक उत्पादन को आगे बढ़ाने की हमारी योजनाओं के फलीभूत होने में तो पांच से दस साल तक लग जायेंगे। इधर क्रय शक्ति से सम्पन्न उपभोक्ता विदेशी वस्तुओं की ओर बढ़ गये थे, जिससे व्यापार सन्तुलन पर विपरीत प्रभाव पड़ा और पूरे देश को 95 करोड़ रुपये की क्षति उठानी पड़ी। फिर, किस्तवार बांडों द्वारा मुआवज़े का भुगतान होने पर अतिरिक्त 137.5 करोड़ रुपये की व्यवस्था करनी पड़ती जिससे बाजार में उल्लेखनीय तेजी आती। इसके विपरीत, किसानों द्वारा नकद भुगतान किये जाने का अर्थ होगा—रुपये का लाखों जेबों से निकलकर वस्तुतः केवल 30,000 जेबों में सिमटना, क्योंकि 250 रुपये से अधिक भू—राजस्व चुकाने वाले जमींदारों की संख्या इतनी ही है। इसका अर्थ है कि जमींदारी उन्मूलन के बाद उपभोक्ता वस्तुओं के खरीददार इतने कम रह जायेंगे कि अब मुद्रा स्फीति होगी और कीमतें भी नीचे चली जायेंगी तथा आर्थिक स्थिति बिगड़ने की जगह और भी उन्नत हो जाएगी।

बांड

भूमि बांड जारी करने का परिणाम होता–राज्य के भविष्य को चालीस वर्षों के लिए बंधक रख देना और मंदी या गिरावट इस तरह आती कि लगान में कमी किये जाने की मांग जोर पकड़ लेती, जिसे किसान मतदाताओं का भारी प्रतिशत देखते हुए दबाना सम्भव नहीं होता। इस मांग के आगे झुकने का परिणाम यह होता कि राष्ट्र निर्माण की गतिविधियों में राज्य की क्षमता घट जाती या जमींदारों के साथ किये गए वायदों से मुकर जाना पड़ता तथा उनके बांडों को अगर पूरी तरह रद्द नहीं तो उनका अवमूल्यन तो कर ही देना पड़ता।

आत्मिक संतुष्टि

इस प्रावधान से आगे चलकर जमींदारों की भावनाओं को भी संतुष्टि मिलनी चाहिए कम–से–कम बड़े जमींदारों को तो बाजार कीमत नहीं चुकाई जा रही थी। उनका तर्क था कि उन्हें मिलने वाले मुआवज़े को चार दशकों की अवधि तक खींचना उचित नहीं, जबकि उसके रद्द या अवमूल्यन किये जाने की सम्भावना भी सिर पर हो। जमींदारों की दलीलों में दम है, इसलिए उनके साथ रुखाई बरतने की जरूरत नहीं। उन्हें अब जो कुछ भी मिलेगा, नकद मिलेगा और यह इस योजना की दूसरी अच्छी बात है कि वे अब अपनी रकमें कारों, अल्सेशियन कुत्तों या रेस के घोड़ों पर बर्बाद नहीं करेंगे, बल्कि उद्योगों में लगाएंगे।

पूंजीपतियों की संख्या में वृद्धि

दूसरी आपत्ति यह उछाली जाती है वह यह है कि इस योजना के फलस्वरूप भूमिधरों के नये रूप में इतने से भी कई गुना पूंजीपति या जमींदार पैदा हो जाएंगे, जितने कि उन्मूलित किए जा रहे हैं और इस तरह शोषण का सिलसिला बदस्तूर जारी ही रहेगा। लेकिन, विधेयक पर सावधानी से गौर किया जाए तो तमाम आशंकाएं जाती रहेंगी। उन्मूलन तो जमींदारी का किया जा रहा है, और मालिक–रैयत की प्रथा का किया जा रहा है, भूमि से उनके सारे रिश्तों का नहीं। इसके अधिनियमित होने पर उत्तर प्रदेश में न कोई रैयत रह जाएगी और न ही ऐसा कोई शिकमी काश्तकार, जिसने कभी किसी तरह के अधिकार का उपभोग नहीं किया था, साथ ही जिसे किसी तरह के अधिकार के आश्वासन नहीं मिले। उन्हें

पांच वर्ष बाद भूमिधारी बन जाने का अवसर मिलेगा, क्योंकि किसी को ज़मीन को बटाई पर उठाने की अनुमति नहीं होगी (शारीरिक दृष्टि से अक्षम व्यक्तियों को छोड़कर जो अपनी अक्षमता की अवधि में ऐसा कर सकते हैं)। सिर्फ अधिकार सौंप देना भूमिधारी को शोषक बना देना नहीं है, क्योंकि वह केवल वही भूमि खरीदेगा या अपने पास रखेगा जिस पर खुद खेती करने का इरादा रखता है। समाज के लिए इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता कि 'क' किसान के रूप में 'ख' की जगह ले लेता है, सरकार को चिन्ता सिर्फ यह है कि भविष्य में कोई शोषक पैदा न हो और इसे दोहरे तौर पर सुनिश्चित किया गया है। भावी जोतों (फार्म) की अधिकतम सीमा निश्चित करके खेतों में काम करने वाले श्रमिकों तक के शोषण को काफी हद तक खत्म कर दिया गया है। उपर्युक्त बातों को देखते हुए भूमिधर को, जो अपनी ज़मीन का किसान स्वामी होगा, पूंजीपति कहना तथ्यों को तोड़ना–मरोड़ना है। पूंजी बढ़ाते जाना पूंजीपति का असली काम है जो वह नहीं करेगा। और समय–समय पर दूसरों की मदद लेने के बावजूद वह आवश्यक रूप से ज्यादातर शारीरिक श्रम खुद कर रहा होगा।

अलाभकर जोतें

विरोधियों द्वारा यह आलोचना भी बड़े जोर–शोर से की जाती है कि विधेयक में अलाभकर जोतों के समाधान का कोई प्रावधान नहीं है। पाठकों को याद होगा कि भविष्य में अलाभकर जोतें अस्तित्व में नहीं आएं, इसके लिए पूरी सावधानी बरती गई है। इसके अलावा, गांव में सहकारी खेती न होने पर अलाभकर जोत वाला किसान ही ग्राम समुदाय से ज़मीन प्राप्त करने का पहला अधिकारी होगा। फिर भी, ईमानदारी की बात यह है कि अलाभकर जोतों का अस्तित्व रहेगा ही, क्योंकि ज़मीन तो पर्याप्त है नहीं। प्रान्तीय विधान सभा में समाजवादी प्रवक्ता इसके लिए दो समाधान बताते हैं। सभी किसानों में ज़मीन बराबर–बराबर बांट दी जाए, या कम–से–कम बड़े फार्मो की, यानी पचास एकड़ से अधिक रकबे वाले फार्मों की कटौती की जाए तथा फालतू ज़मीन अलाभकर जोत वालों में आवंटित कर दी जाए।

पुनर्वितरण

प्रदेश में अभी कम–से–कम 75 लाख किसान परिवार हैं। क्या यह व्यावहारिक प्रस्ताव है कि इन सबको बेदखल कर दिया जाए और फिर

सबमें ज़मीन बराबर–बराबर बांट दी जाए? वैसे, असम्भव तो कुछ भी नहीं है, लेकिन देश अगर दृढ़ता से प्रगति के मार्ग पर बढ़ रहा हो, तब भी ऐसा करने में पचास साल लग जाएंगे और तब तक इसकी शायद जरूरत ही न रहे। फिर भी, मान लीजिए कि इस तरह का पुनर्वितरण सम्भव है और एक ही दिन में ऐसा किया जा सकता है, तो क्या ये बराबर–बराबर कर दी गई जोतें लाभकारी होंगी? आज कृषि योग्य भूमि का कुल क्षेत्रफल 413 लाख एकड़ है, जबकि लाभकर जोतों के बारे में समाजवादी स्वयं जो हिसाब लगाते हैं, उसके अनुसार प्रत्येक परिवार के पास 12.5 एकड़ भूमि होनी चाहिए। इस तरह हमें 100 करोड़ एकड़ भूमि की आवश्यकता होगी। फिर 80 लाख एकड़ को 'कृषि योग्य परती भूमि' के रूप में दर्ज किया गया जिसका दरअसल बहुत ही थोड़ा–सा भाग उपयोग में लाया जा सकता है। इस तरह लगभग 475 लाख एकड़ भूमि, जिसकी हमें जरूरत पड़ेगी, हमारे आलोचक महानुभाव कहां से ले आएंगे?

जहां तक बड़े फार्मो की कटौती का सवाल है, वहां केवल नौ हजार ऐसे जमींदार हैं जिनके पास कुल 9 लाख एकड़ 'सीर' और 'खुदकाश्त' की ज़मीन है, यानी प्रत्येक के पास औसतन 100 एकड़ ज़मीन है। इन फार्मों से 4.5 लाख एकड़ भूमि पुनर्वावतरण के लिए मिल सकती है, इतनी ही तादाद काश्तकारों के इस आकार के कर्मों की हो सकती है, लेकिन वास्तविक आंकड़े उपलब्ध नहीं है। फिर भी नौ लाख एकड़ का यह अतिरिक्त क्षेत्र कितने फार्मो को लाभकारी बनाने में सहायक हो सकता है? फिर, हमें यह भी याद रखना है कि कम–से–कम दो–तिहाई मौजूदा फार्म अलाभकर हैं। इसके अलावा, अगर हम फार्मो की कटौती का काम शुरू करने का फैसला कर भी लें तो फालतू क्षेत्र के सीमांकन और उसे प्राप्त करने के लिए उत्सुक बहुत सारे लोगों में से कुछ के नाम कर देने का लक्ष्य पूरा करने के लिए हमें अवश्य ही और पांच साल तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इसलिए मैं इस बात पर पूरी तरह निश्चित हूं कि बड़े फार्मो की कटौती का, जिससे कृषि स्थिति में उल्लेखनीय सुधार भी नहीं होता, जमींदारी प्रथा को भलीभाँति समाप्त करने के उद्देश्य से कुछ लेना–देना नहीं है, और अगर देश हित में यह आवश्यक ही हो, तो इसे सुविधाजनक ढंग से भविष्य में कभी किया जा सकता है।

भूमिहीन श्रमिक

यह आलोचना भी सुनाई पड़ती है कि इस विधेयक में भूमिहीन श्रमिकों के लिए कोई आशाजनक सन्देश नहीं है। इस बारे में जो आशंकाएं जाहिर

की गई हैं उन्हें दूर करना यहां अप्रासंगिक नहीं होगा। कहा जा रहा है कि भूमिहीन श्रमिकों की स्थिति और भी बदतर हो जाएगी, क्योंकि बटाईदारी पर लगे पूरे प्रतिबन्ध को देखते हुए कोई भी किसान अपने खेत मजदूर को मजदूरी के बदले ज़मीन का कोई टुकड़ा नहीं देगा, न ही खेती में किसी की भागीदारी कबूल करेगा। यह तर्क निराधार है। दोनों तरह के रोजगार देने की स्थिति में कोई फेरबदल नहीं किया गया है, बल्कि वही है जो पहले थी। सेवावधि भर के लिए ज़मीन किसी को देना और काम में साझीदार बनाना, इस विधेयक में ज़मीन को बटाई पर या किराये पर उठा देना नहीं माना गया है।

जहां तक भूमिहीनों के हित की दृष्टि से उठाए गए कदम की बात आती है, विधेयक में सारी परती जमीन ग्राम समुदाय को सौंप दी जाने की व्यवस्था होने से ज़मीन में उनकी निश्चित भागीदारी अब सम्भव हो गई है। फिर उन्हें अपने घरों का स्वामी घोषित किया गया है, जहां से बीते कल तक उन्हें बिलकुल मनमाने ढंग से बिना कोई मुआवज़ा दिए बेदखल किया जा सकता था।

सहयोग और अनिवार्यता

किसी बेहतर समाधान के अभाव में कुछ आलोचक अनिवार्य सहकारी खेती का सुझाव देते हैं जिसमें अलाभकर जोतों और भूमिहीनों को काम देने की समस्या से निबटा जा सके। जैसा कि हम देखेंगे, सहकारी खेती को विस्मृत नहीं किया गया है। लेकिन लोगों पर इसे बिलकुल थोपा नहीं जा सकता। क्या 'अनिवार्य सहकारी' खेती से अर्थ का खुलासा होता है? यह 'अनिवार्य सामूहिक' खेती तो हो सकती है, लेकिन कोई भी किसी तरह से इसे 'सहकारी खेती' नहीं कह सकता। फिर, अनिवार्य सामूहिकीकरण यदि सम्भव भी हो तो क्या इससे समस्या का समाधान हो जाता है? पहली बात यह कि अनिवार्यता को अमल में लाने पर किसान अपना अपेक्षित उत्साह खो बैठेंगे और उत्पादन घट जाएगा। सामूहिक खेती के क्रम में श्रम साधनों को एकत्र करने से आज के स्वतः प्रेरित किसान कल के श्रमिक हो जायेंगे, जिस स्थिति का वे अन्त तक विरोध करेंगे। दूसरे, छोटी जोतें क्यों खत्म होनी चाहिए, इसका मूल कारण यह बताया जाता है कि वर्तमान जोतदारों को वे पूरा काम नहीं दे पातीं। लेकिन क्या बड़ी इकाइयों में उनके विलय से ज्यादा काम की स्थिति पैदा होती है—सिर्फ मौजूदा दखलकारों के लिए ही नहीं, बल्कि 25 प्रतिशत अतिरिक्त हाथों के लिए भी? नहीं, बिलकुल नहीं होती। इसके अलावा, सहकारी या सामूहिक

खेती से भूमिहीनों को रोजगार उपलब्ध होने के बदले बेरोजगारी ज्यादा मिलेगी क्योंकि मवेशियों का संयुक्त स्वामित्व अव्यवहार्य होगा और मशीनों का उपयोग ज्यादा होगा जो श्रमिकों की जगह ले लेंगी।

तो, सवाल उठता है कि फिर और उपाय क्या है? वह है–सहकारी रूप से आयोजित हस्तशिल्प उद्योगों या लघु कुटीर उद्योगों तथा इनके साथ–साथ निर्माणाधीन जलविद्युत परियोजनाओं से प्राप्त बिजली से चलने वाले लघु यांत्रिक उद्योगों के देशव्यापी नेटवर्क की स्थापना। इस तरह के विकेन्द्रीकृत उद्योग तन्त्र से ही बहुसंख्यक लोगों को रोजगार मिल सकता है। ऐसे लोग राजधानी की अपेक्षा ग्रामीण भारत में ज्यादा आसानी से उपलब्ध हैं, जिनके पास या तो काम बिलकुल है ही नहीं या बहुत कम है। बड़े उद्योगों की अपेक्षा ये छोटे उद्योग, प्रत्येक इकाई पर लगाई गई पूंजी के हिसाब से, ज्यादा रोजगार मुहैया करते हैं। वह दौर काफी पहले गुजर चुका है, जब बड़े पैमाने पर होने वाले उत्पादन की लागत घटने से मांग बढ़ जाती थी, उत्पादन में वृद्धि होती थी, फलस्वरूप विस्तार होता था और इसीलिए रोजगार में वृद्धि होती थी। अब तो उस विकसित टेक्नॉलॉजी को धन्यवाद कि अतिरिक्त उत्पादन के लिए हमें अपेक्षाकृत कम लोगों की जरूरत पड़ती है, जिसका परिणाम है कि आज का उद्योग निर्माण उतने प्रतिशत को रोजगार नहीं दे पाता जितने को वह पहले देता था।

जन-शक्ति

मान लें अगर हमारी सारी जनशक्ति के लिए रोजगार जुटाने लायक ज़मीन होती भी, तो एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कारण बना ही रहता कि क्यों हमारे देशवासियों को आज कृषि की अपेक्षा औद्योगिक रोजगार को प्राथमिकता देनी चाहिए, क्योंकि देश को समृद्ध बनाने का यही एक रास्ता है। एक सही समाज में श्रमिक को उसकी संख्या और क्षमता के अनुसार पुरस्कृत किया जाना चाहिए, अर्थात् ऊर्जाखपत की मात्रा और अपेक्षित क्षमता के आधार पर उसका पारिश्रमिक होना चाहिए। इस दृष्टि से कहें तो हल चलाने वाले श्रमिक के एक घंटे का लगभग वही पारिश्रमिक होना चाहिए जो एक सामान्य कारखाने की मशीन चलाने वाले का होता है। लेकिन, हकीकत यह है कि 22 देशों से एकत्र किए गए आंकड़ों के आधार पर एक अर्थ–शास्त्री ने यह निष्कर्ष निकाला कि 'कृषि सम्बन्धी गतिविधियों की अपेक्षा मनुष्य की अन्य तमाम गतिविधियों की उत्पादकता औसतन 4.35 गुना अधिक होती है। मैं यहां इस विषमता के कारणों की

तह में जाना आवश्यक नहीं समझता, लेकिन यही वह कारण है, क्योंकि हर जगह कृषक वर्ग निर्धन हैं और हमेशा रहा है। औद्योगिक, व्यापारिक और समाज के अन्य तबकों की अपेक्षा निर्धनतर। यही कारण है कि सभी देशो में–यहां तक कि अत्यन्त कृषि प्रधान देशों में भी–ग्रामीण आबादी घटती जा रही है और जैसे–जैसे समय गुजरता है, वह पूरी आबादी में अनुपाततः न्यून से न्यूनतर होती जाती है। फिर भी हमारे देश की कहानी सबसे अलग है। यहां की आबादी में सीधे कृषि पर निर्भर लोगों का अनुपात सन् 1891 के 61 प्रतिशत से बढ़कर 1921 में 73 प्रतिशत हो गया, तथा उद्योग पर निर्भर लोगों का अनुपात 1880 के 12.3 प्रतिशत से घटकर 1931 में 9.7 प्रतिशत रह गया।

विकेन्द्रीकरण

इसलिए, यह न तो देश के हित में होगा, न ही भूमिहीन लोगों के हित में कि उन्हें कृषि–व्यवस्था में बांध दिया जाए। आज स्तरीयता और जल विद्युत की उपलब्धि ने यह सम्भव बना दिया है कि विगत शताब्दी की भांति आबादी को बड़े शहरों की ओर हांके बिना या उन्हें उनके गांव–घर से हटाए बिना कोई देश औद्योगिक राष्ट्र बन सके। अतः हमें अपनी ऊर्जाओं को विकेन्द्रीकृत उद्योग की ओर मोड़ना है, जो कि बेरोजगारी के लिए एक मात्र रामबाण है। उद्योग और कृषि के बीच सही संतुलन रखने के लिए हमें सचमुच ही अपनी कृषि पर आश्रित आबादी से अच्छे खासे प्रतिशत को उद्योगों को तरफ ले जाना होगा जो कि आज अर्द्ध–बेरोजगारी की स्थिति में है।

इस सम्बन्ध में एक और मुद्दे को सामने रखना विषयान्तर नहीं होगाः समाजवादी आलोचक ग्रामीण समाज के विकास के क्रम में दो अलग–अलग शिविरों और निकट भविष्य में दोनों के बीच निश्चित संघर्ष की बात करते हैं–एक तरफ शोषक भूमिधर और दूसरी तरफ शोषित भूमिहीन श्रमिक। उत्तर प्रदेश में 1931 की जनगणना के अनुसार काश्तकारों की संख्या जहां 13,807,157 थी, वहीं खेत मजदूरों की संख्या थी 34,19,185। अर्थात् दोनों के बीच 100:25 का अनुपात था, वहां मजदूरी के लिए गुलामी और सर्वहारा का सवाल नहीं उठता। अतएव ऐसे समाज में, जहां रोजगार के लिए उपलब्ध लोगों से कहीं ज्यादा संख्या में रोजगार देने की क्षमता रखने वाले लोग हों, वर्ग–संघर्ष का सवाल ही नहीं उठता।

उत्पादन

अब दूसरी आपत्ति को लें। ऐसे लोगों का अभाव नहीं जिन्हें शिकायत रही है कि यह उन्मूलन योजना गरीबी से छुटकारा दिलाने या उत्पादन की वृद्धि में सहायक नहीं होगी। इस सम्बन्ध में अगर कुछ कहना है तो इतना ही कि ज्यादा उत्पादन के लिए यह योजना जितने प्रोत्साहन जुटाती है, उतना सम्भवतः और कोई योजना नहीं जुटा सकती। किसान भूस्वामी एक काश्तकार या मजदूर की अपेक्षा कहीं अधिक कड़ी मेहनत करने और ज्यादा देर तक काम करने के लिए मशहूर हैं। जिन्हें इस कथन की सत्यता में सन्देह हो वे मेरठ और मुजफ्फरनगर के गांवों में जाकर देखें और अवध के गांवों से उनकी तुलना करें। दोनों जगहों की स्थितियों में ज़मीन आसमान का अन्तर है, जिसके कारण की जड़ें दोनों जगहों की काश्तकारी की स्थितियों में निहित हैं। एक जगह खेत का स्वामित्व उन्हीं हाथों में है जिनका उस पर कब्जा है, दूसरी जगह वैसी बात नहीं है।

दूसरे, ऐसा दावा कतई नहीं किया गया है कि जमींदारी तो हम खत्म करें, लेकिन उत्पादन बढ़ाने के लिए कुछ और करने की आवश्यकता नहीं। उत्पादन का चमत्कारिक कारक तत्त्व है स्वामित्व, जिसके तुरन्त बाद है—पानी, खाद, अच्छे बीज, शिक्षा और बाजार तक पहुंचाने वाली विपणन प्रणाली। ये सभी सुविधाएं जुटाने का काम पूरा करने के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने गम्भीरता के साथ कार्यक्रम बनाये हैं, लेकिन उनकी विस्तार से चर्चा यहां अनावश्यक है।

सुझाव का खण्डन

उत्तर प्रदेश के जमींदारों के एक नेता ने विधान सभा में बड़े भोलेपन से सुझाव पेश किया कि इतने बड़े विधेयक के विरोध को देखते हुए सरकार बखूबी ऐसा एक छोटा विधेयक ला सकती है कि काश्तकार अपने लगान का दस गुना जमींदार को चुका कर उसी से सीधे भूमि के स्वामित्व का अधिकार प्राप्त कर लें तथा यह कि जमींदार उसका स्वागत करेंगे।

यहां एक उल्लेख करना शायद अनुचित न होगा कि चरण सिंह ने 1939 में एक 'भूमि उपयोग विधेयक' तैयार किया था—ठीक उसी सुझाव के अनुरूप, लेकिन निम्न कारणों से उन्होंने उसे मंत्रिमंडल के विचारार्थ नहीं रखा। पहला यह कि अगर उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जाता तो ग्राम समुदाय को कोई भूमि नहीं मिल पाती, छोटे जमींदार मौजूदा योजना की अपेक्षा काफी प्राप्त कर पाते, धर्मार्थ और दातव्य

संस्थाएं अपनी वर्तमान आय से वंचित हो जातीं जिसकी कि मौजूदा विधेयक में गारण्टी दी गई है। राज्य का भूमि पर से बुनियादी हक छिन जाता जिसे अब राज्य को सौंप दिया गया है तथा जमींदार उन रैयतों के मालिक बने ही रहते जो रुपये की व्यवस्था कर पाने में असमर्थ हैं।

मुख्यतः यही आपत्तियां हैं जो अभी तक उठाई जाती रही हैं। विधेयक के ढांचे से पाठक को पता चल जाएगा कि प्रदेश की सरकार किन्हीं नारों के चक्कर में नहीं आई और न ही उसे साधनों के बारे में गलतफहमी रही है। अपने देश की परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए कि चूंकि यहां आबादी के लिहाज से भूमि कम है और जिस तरह की सभ्यता के विकास की हम उम्मीद रखते हैं, हमने अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप बेहतर कदम उठाने के क्रम में इस भय को पास तक नहीं फटकने दिया कि इस पर समाजवादी या साम्यवादी स्वीकृति की मुहर लगे ही। अत्याचारी जमींदार, जिन्होंने अन्तहीन अत्याचार किए तथा दमन की शिकार रैयत, जो लम्बे समय से यातना भोगती रही—दोनों ही खत्म होने को हैं, उनके स्थान पर किसान का उदय होगा, जो तत्काल भूमि का स्वामी और जीविका—अर्जक बन जाएगा। मिले—जुले हितों वाली यह स्थिति मार्क्सवादी सिद्धान्तों के लिए एक चुनौती पेश करती है। हमारी अवधारणा का भूमिधर लोकतंत्र के लिए एक ठोस आधार प्रस्तुत करेगा तथा किसी भी दिशा में उठने वाली सारी बिगड़ैल और उपद्रवी हवाओं के लिए अडिग चट्टान साबित होगा।

उत्तर प्रदेश के मैदानों की पुरानी भू—व्यवस्था प्रणाली को, जिसके अन्तर्गत राज्य के कुल जोत—क्षेत्र का 96.8 प्रतिशत यानी 4,54,42,000 एकड़ भूमि है, जड़—मूल से उखाड़ दिया गया है। इस प्रकार एक आदमी को दूसरे आदमी से बांधे रखने वाले सारे सामन्ती बंधन तोड़े जा चुके हैं। एक झटके में शोषण को समाप्त कर दिया गया है तथा गांव के किसी भी आदमी को अपनी भूमि, घर—बार, कुएं या पेड़ों के लिए किसी और का मुहताज नहीं रहने दिया गया है। उत्तर प्रदेश के विस्तृत ग्रामांचल में कहीं भी अब कोई जमींदार या रैयत या लम्बरदार नहीं रहा।

राज्य और वास्तविक जोतदारों के बीच उत्तर प्रदेश में जो भी बिचौलिये थे, उन्हें खत्म कर दिया गया है, जैसा कि निम्नांकित तालिका से स्पष्ट हो जाएगा। उत्तर प्रदेश में निजी स्वामित्व वाले क्षेत्र में से पट्टे पर दिए गए क्षेत्र का प्रतिशत लगभग नगण्य है। इस तालिका में भारत सरकार द्वारा जोतों की गणना के क्रम में वर्ष 1953—54 में देश भर से एकत्र किए गए आंकड़े शामिल हैं।

तालिका 2.1

क्रमांक	राज्य	निजी स्वामित्व वाले क्षेत्र से पट्टे पर दिए गए क्षेत्र का प्रतिशत
1.	आन्ध्र प्रदेश	8.6
2.	तेलंगाना	13.6
3.	गुजरात	8.3
4.	केरल	10.0
5.	मध्य प्रदेश (1)	6.7
6.	मद्रास	9.7
7.	महाराष्ट्र	17.9
8.	मैसूर*	20.5
9.	पंजाब	27.0
10.	उत्तर प्रदेश (3)	1.1
11.	राजस्थान (2)	17.4

(1) विन्ध्य प्रदेश को छोड़कर।
(2) आंकड़े 22 चुनी हुई तहसीलों के हैं।
(3) आंकड़े 204 गांव के हैं जिन्हें नमूने के तौर पर लिया गया।

स्वाधीनता प्राप्ति के वर्षों पहले से प्रमुख नेतागण इस बात पर बल देते रहे कि भारत पर अंग्रेजी हुकूमत के दौरान जमींदारी प्रथा के जड़ जमाने के साथ ही ग्रामीण ह्रास का दौर आया। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन से जुड़े लगभग सभी प्रमुख नेताओं का यह विचार रहा कि जमींदार प्रतिगामी तत्त्व थे जो भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास में बाधा उपस्थित कर रहे थे। इसीलिए ग्रामीण प्रगति के लिए पहले और आवश्यक कदम के रूप में जमींदारी प्रथा के उन्मूलन की वकालत की गई। भूमि पर किसान के बुनियादी हक का और राजनीतिक आर्थिक आजादी पर जोर दिया जाना एक ऐसा तत्त्व साबित हुआ जिसके चलते स्वाधीनता आन्दोलन को व्यापक जनसमर्थन मिला। अतः आजादी मिलते ही उत्तर प्रदेश विधान सभा में जमींदारी उन्मूलन विधेयक का पेश किया जाना एक लम्बे समय से सुविचारित कार्य–योजना की ही स्वाभाविक परिणति थी।

इसीलिए, मोटे तौर पर, भूमि सुधार क़ानून के लक्ष्य का सम्बन्ध

* दस एकड़ से अधिक वाली जोतों के मामले में।

सामुदायिक जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण चरणों से है। एक कृषि प्रधान देश में, जहां खास तौर से खेती महज भौतिक लाभ के लिए अपनाया जाने वाला कोई व्यवसाय न होकर एक वांछित जीवन पद्धति है, भूमि सुधार के लिए उठाए गए कदम और उनके प्रभावों का महत्त्व राजनीतिक और सामाजिक होने के साथ–साथ आर्थिक भी है।

भूमि सुधार के राजनीतिक पहलू पर बहुत सोचा–विचारा गया, क्योंकि विधेयक के मसौदाकारों को ग्रामीण क्षेत्र में राजनीतिक स्थिरता सुनिश्चित करने की आवश्यकता का भी ध्यान था। लेकिन कमजोर क्षेत्र में यानी सामाजिक मीनार के निचले तले में निजी सम्पत्ति के सिद्धान्त को बल प्रदान किए जाने से इन सुधारों ने वर्ग संघर्ष की वैचारिकता वाले विशाल विरोधी वर्ग की सृष्टि कर डाली। स्वतंत्र भू–स्वामी किसानों की संख्या में कई गुना वृद्धि होने से एक बीच का तबका, सुस्थिर ग्रामीण समाज तथा राजनीतिक चरमवाद का विरोधी बनकर सामने आ गया है। अन्त में यही कहना उपयुक्त होगा कि कृषि सुधार ने शान्ति में खलल डालने वालों तथा सुव्यवस्थित प्रगति के विरोधियों की राजनैतिक पाल नौकाओं को बेकार कर दिया है। इसके सामाजिक पक्ष को देखें तो चालीस प्रकार की काश्तकारी को तीन में सीमित कर दिया गया है–भूमिधारी, सीरदारी और आसामी। सुधारों ने ग्रामीण वर्गों के परम्परागत विभेद को दूर किया है और वर्गों का खात्मा करने के बजाए उन्हें कम किया है। इस तथ्य की सराहना के लिए अधिक कल्पनाशील होने की जरूरत नहीं कि जमींदारों ने जहां अपनी अमीरी खोई, वहीं उनका प्रभाव भी काफी घटा।

इस कदम का आर्थिक महत्त्व इस बात में है कि जहां अपनी जमींदारी की आय के फूलने–फलने वाले ढेर सारे जमींदारों की आर्थिक भूमिका समाप्त हो गई, वहीं किसानों को वैसा बहुत कुछ मिला जिसकी उन्हें बड़ी जरूरत थी–भूमि का एक टुकड़ा जिसे वे अपना कह सकें। सूझता नहीं कि इस तथ्य का, भूमि को सुधारने के लिए अभी–अभी उपलब्ध प्रोत्साहन का आर्थिक मूल्यांकन किन शब्दों में किया जाए, लेकिन अगर सुप्रसिद्ध अंग्रेज कृषि विशेषज्ञ आर्थर युंग का यह कथन सही था कि "सम्पत्ति (भू–स्वामित्व) का जादू रेत को सोने में बदल डालता है", तो उत्तर प्रदेश के ये नए भूस्वामी अपना आर्थिक दर्जा बढ़ाने के सही मार्ग पर हैं, हालांकि छोटी–छोटी जोतों के कारण अवश्य ही उनकी अपनी सीमाएं हैं।

३

भूमि के रिकार्ड और पटवारी

उत्तर प्रदेश के मैदानी भागों में, रामपुर और बनारस की पुरानी रियासतों तथा राज्य के शहरी क्षेत्रों को छोड़कर, एक जुलाई 1952 को जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून लागू होने के फलस्वरूप या कहिए कि उसके तुरन्त बाद ही ज़िला मुख्यालयों के राजस्व कार्यालयों तथा लखनऊ के राजस्व सचिवालय में भी शिकायतों के अम्बार लगने लगे कि अधिवासी क्षेत्रों में आने वाले लोगों की एक बड़ी संख्या को राजस्व के खातों में दर्ज नहीं किया गया है, या अगर दर्ज किया भी गया है तो उन्हें जोर–जबरदस्ती या धोखाधड़ी के सहारे बेदखल कर दिया गया है, या किया जा रहा है।

इस स्थिति से निपटने के लिए दो कदम तत्काल उठाए गए। जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून की धारा–342 के तहत एक आदेश जारी करके बेदखल आसामी या अधिवासी के लिए ज़मीन की वापसी का दावा दायर करने की निश्चित अवधि को छह महीने से बढ़ाकर एक साल कर दिया गया। दूसरे, सात नवम्बर 1952 को उत्तर प्रदेश भूमि सुधार (पूरक) नामक क़ानून को संविधि पुस्तिका में शामिल किया गया, जिसने सब–डिवीजनल अधिकारी या सरकार द्वारा अधिकृत तहसीलदार तक को यह अधिकार दे दिया कि वह मौका–मुआयना कर लेने के बाद किसी व्यक्ति का नाम राजस्व खाते में दर्ज कर ले। इन दो क़ानूनी उपायों से न केवल आगे की बेदखलियों पर रोक लगी, बल्कि लाखों गरीब और बेसहारा लोगों को बिना किसी दिक्कत के अपनी–अपनी ज़मीनों पर कब्जा मिला।

बावजूद इसके कमजोरों को बेदखल किए जाने की शिकायतें जारी रहीं। इस मामले में पटवारी ही था, जो आफत की जड़ था। उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन समिति ने 1948 में पटवारी की भूमिका के बारे में जो कुछ लक्ष्य किया, वह इस प्रकार हैः

> ग्रामीण खातों में उसके द्वारा अनजाने या जानबूझ कर की गई गलतियां किसानों के भाग्य को प्रभावित करती थीं; इसलिए बेईमान पटवारी के

> लिए लूट–खसोट के काफी अवसर थे। उनमें से बहुतों ने अवसर का पूरा फायदा उठाया; दीवानी अदालतों में मुकदमे लड़ने पर होने वाले कमर तोड़ खर्च को देखते हुए बहुत से किसान राजस्व खातों की गलत प्रविष्टियों के खिलाफ खड़े नहीं हो पाये होंगे। (देखें रिपोर्ट, पृष्ठ 177)

इसलिए, पटवारी की ताकतों में कटौती करने की जरूरत थी। जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून के चलते राजस्व क़ानून में जो परिवर्तन आया, उसने लैण्ड रिकॉर्ड्स मैनुअल में कठोर संशोधन के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार मैनुअल के संशोधन का काम हाथ में लिया गया तथा वर्ष 1952 के अंतिम चरण में उसे अंतिम रूप दिया गया।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ तहसीलों को फिर से गठित किया गया था तथा कई ज़िलों के उन बाहरी इलाकों को, जो पिछली एक सदी से अस्तित्व में थे और प्रशासन में भ्रम पैदा करते थे, खत्म कर दिया गया था।

पुरानी व्यवस्था में पटवारी को यह इजाजत होती कि वह भोगाधिकार वाले रेहनों, बंटवारों (जिनमें पटवारी का निर्णय विवाद से परे होता), नियत काश्तकारों या शिकमी काश्तकारों की ओर से खेती कर रहे व्यक्तियों के नामों, जोतदारों द्वारा परती भूमि को किराये पर उठाने के विवरणों, लगान में परिवर्तनों तथा कछारी बदलाव या बाढ़ग्रस्तता के फलस्वरूप बिना स्वामित्व वाली भूमि पर कब्जे की स्थिति में अपेक्षित संशोधनों को बाकायदा दर्ज करे।

कुछ मामलों में पटवारी से यह अपेक्षा भी की जाती कि वह खसरा और खतौनी में दर्ज किए गए परिवर्तनों के बारे में काश्तकारों और जोतदारों के बयानों के रिकार्ड रखा करे। इस तरह वह यह फैसला कर सकता था कि कोई व्यक्ति भूमि का असली स्वामी है या घुसपैठिया, सुपुर्दगी वैध है या नहीं, या परित्यक्तता वाली स्थिति आई थी या नहीं; और भी इसी तरह की अन्य बातें। संक्षेप में, पटवारी के पास किसानों के दर्जे और अधिकारों पर निर्णय देने के काफी ज्यादा अधिकार थे, जिनका अगर दुरुपयोग होने लगता तो राजस्व, दीवानी और फौजदारी अदालतों में लम्बी और खर्चीली मुकदमेबाजी शुरू हो जाती।

भूमि के रिकार्ड रखने की नई व्यवस्था में ऊपर वर्णित सारे अधिकार वापस ले लिए गए। लेखपाल (जिसने पटवारी की जगह ली) का सीधा दायित्व सिर्फ यह रह गया कि वह जगह पर जाकर कब्जे के बारे में तथ्यों का पता लगाए और कब्जा सम्बंधी जो भी परिवर्तन उसे देखने को मिलें, उनकी रिपोर्ट आवश्यक जांच के लिए अपने अधिकारियों को दे दे। खास

तौर से, खतौनी या खसरा में काश्तकारों–जोतदारों के नाम में कोई हेर–फेर करने की उसे मनाही हो गई। अगर अपनी पड़ताल के दौरान वह पाता कि काश्तकार–जोतदार वाले कॉलम में दर्ज व्यक्ति से भिन्न किसी व्यक्ति का खेत पर असली कब्जा है तो सिर्फ खसरा के 'टिप्पणी' वाले कॉलम में वह उसका नाम दर्ज कर सकता था, लेकिन कब्जे का स्वरूप नहीं।

अतः पटवारियों ने, जो संख्या में 27,000 थे और राजस्व प्रशासन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण सम्पर्क सूत्र का काम करते थे, फरवरी 1953 में राज्यव्यापी हड़ताल शुरू कर दी। उनकी पहली मांग यह थी कि नये लैण्ड रिकार्ड मैनुअल को वापस ले लिया जाए क्योंकि उसने उन्हें ज्यादातर अधिकारों से वंचित कर दिया था। दूसरी मांग थी कि उनके वेतनमान की मौजूदा दर मासिक 25 रुपये और महंगाई भत्ता 12 रुपये अतिरिक्त को बढ़ाकर क्रमशः 50 रुपये और 25 रुपये अतिरिक्त किया जाए। अंतिम मांग थी कि उन्हें पेंशन के अधिकार के साथ सरकारी कर्मचारियों का स्थायी दर्जा मिलना चाहिए।

जैसी कि राजस्व मंत्री चरण सिंह ने (जो उनकी तीन मांगों में से अंतिम दो को जायज मानते थे) उन्हें सलाह दी थी, वे महीना भर या उससे कुछ ज्यादा समय तक इन्तजार नहीं कर पाये और सामूहिक रूप से त्यागपत्र दे बैठे, जो आगामी 4 मार्च से प्रभावी होने वाले थे। उन्हें विश्वास था कि उनके इस कदम से राजस्व प्रशासन ठप्प हो जाएगा और फलस्वरूप सरकार घुटने टेक देगी। मगर सरकार ने उनमें से 2700 को, जिन्होंने त्यागपत्र दिये ही नहीं थे तथा लगभग 2500 ऐसे पटवारियों को, जिन्होंने तुरन्त बाद ही अपने त्यागपत्र वापस ले लिए थे, को छोड़कर बाकी सबके त्यागपत्र स्वीकार कर लिए, सीधे 21,800 त्याग पत्र। इस सम्बन्ध में चरण सिंह ने 5 फरवरी 1953 को जो वक्तव्य जारी किया था, वह इस प्रकार हैः

> "राज्य पटवारी संघ ने कुछ समय पहले कुछ मांगें पेश की थीं, जिन्हें स्वीकार करने में सरकार ने कई कारणों से असमर्थता अनुभव की। फिर भी मैंने उनके दो प्रतिनिधियों को, जो विगत 11 जनवरी को मुझसे मिले थे, कहा था कि अब जो नई व्यवस्था लागू होने को है, उसमें इस तरह की मांगों की स्वीकृति की किसी भी गुंजाइश पर सरकार सहानुभूति पूर्वक विचार करेगी तथा यह कि निकट भविष्य में वे किसी निर्णय की अपेक्षा रख सकते हैं। लेकिन बस्ती ज़िले में जैसे तरीके उन्होंने अपनाये या 9 जनवरी को संघ ने जो राज्यव्यापी आम हड़ताल आयोजित की, उनसे कोई लाभ नहीं।"

> इस बीच एक नई मांग जोर पकड़ने लगी थी कि नये लैण्ड रिकार्ड मैन्युअल को वापस ले लिया जाए, जो उन्हें उनके बहुत सारे अधिकारों से—जिनके व्यापक दुरुपयोग की हर वह आदमी पुष्टि करेगा जिसे हमारे देहाती इलाकों के बारे में कुछ भी जानकारी है, तथा जो स्थानान्तरण आदेश के विरुद्ध दो याचिकाओं और एक संशोधन याचिका के विशेषाधिकार छीन लेते हैं—वंचित कर देते हैं। जैसा कि संघ के 26 जनवरी के प्रस्ताव से जाहिर है, यही वह मुख्य मांग थी जिसके फलस्वरूप सामूहिक त्यागपत्र की धमकी सामने आई।
>
> पटवारीगण इस बात को भी समझ नहीं पाये कि पुरानी व्यवस्था के जो मूल्य और स्तर थे, उनके लिए वे अब बीते जमाने के हो चुके हैं तथा उत्तर प्रदेश में जिस सामाजिक और कृषि सम्बन्धी क्रांति की शुरुआत हुई है, वह उनसे एक नई आचार संहिता की मांग करती है। उनकी नजरें चूंकि ताकत और अब तक प्राप्त विशेषाधिकारों पर टिकी हैं, इसलिए सरकार पर अपनी शर्तें लादने की उम्मीद रखते हैं, इस विश्वास के साथ कि संख्या में 27,000 होने तथा भूमि के रिकार्डों के रख—रखाव के महत्त्वपूर्ण काम में लगे होने के कारण वे अपरिहार्य हैं। लेकिन सरकार के लिए धमकी के आगे झुक जाने का अर्थ होता अपने कार्यों से विमुख होना और सरकारी कर्मचारियों के किसी संगठन का ऐसे तरीके अख्तियार करना—जो तरीके इस देश में आमतौर पर सत्तारूढ़ सरकार के प्रति विपक्षी दल अपनाते हैं—अनुशासनहीनता का सघनतम रूप है। कोई सरकारी कर्मचारी अगर एक बार ऐसी मानसिकता का शिकार हो जाता है, तो फिर सक्षम सेवा का अंग होने योग्य नहीं रह जाता। अतएव, ज़िला अधिकारियों को यह आदेश जारी किया जाता है कि वे फौरन त्याग—पत्रों को स्वीकार कर लें। पटवारी जो उपयोगी काम कर रहे थे, उनकी सराहना में सरकार कभी शिथिल नहीं रही, लेकिन नये ढांचे के तहत नये सिरे से काम शुरू करने का जो यह अवसर आया है, उसका सही उपयोग करने में हिचकेगी नहीं।

त्यागपत्रों की सरकारी स्वीकृति का राज्यभर के किसानों ने तथा दूसरे लोगों ने भी व्यापक रूप से समर्थन किया। विधान सभा में 20 मार्च, 1953 को इस सवाल पर हुई बहस के दौरान इसकी भूरि—भूरि प्रशंसा की गई तथा सर्वसम्मति से इसे पारित किया गया।

फिर भी चरण सिंह को पटवारियों के बारे में अपनी नीति के कारण कांग्रेस पार्टी के शीर्षस्थ नेताओं के भारी विरोध का सामना करना पड़ा। प्रधानमंत्री नेहरू को इस बात के लिए राजी किया गया कि वे इस

सवाल पर पुनर्विचार के लिए पंडित पंत को पत्र लिखें। नेहरू जी ने 17 अप्रैल 1953 के पत्र में उन्हें लिखा कि "जहां लोगों की एक बड़ी तादाद से निबटना हो, वहां ऐसी नीति का अपनाया जाना अविवेक सा प्रतीत होता है जो किसी भी तरह के समाधान पर रोक लगा दे" तथा "उन्हें नाउम्मीदी की तरफ धकेल देना अच्छी बात नहीं होगी और हमे भरसक यह कोशिश करनी चाहिए कि बाद में कटुता और क्षोभ की कोई लकीर नहीं रह जाए।"

लेकिन चरण सिंह पीछे हटने को तैयार नहीं थे। उन्होंने अपने सहयोगियों और नेताओं से कहा कि सरकार अगर विचलित नहीं हुई तो अगले दस साल तक सरकारी कर्मचारी हड़ताल पर जाने या सरकार के नाम धमकियां जारी करने की–बात सोचेंगे भी नहीं। उनकी भविष्यवाणी 10 नहीं बल्कि 13 साल के लिए सच साबित हुई, यानी 1966 तक, जब उत्तर प्रदेश के सारे मामलों पर श्रीमती सुचेता कृपलानी का दबदबा था और सचिवालय तथा विभागीय कार्यालयों के अराजपत्रित कर्मचारियों ने राज्य और ज़िला मुख्यालयों में हड़ताल शुरू कर दी थी; एक समय तो ऐसा आया कि नौ सप्ताह की अवधि के लिए प्रशासन ठप्प हो गया, वह भी आम चुनाव से ठीक पहले जो फरवरी के अन्त में होने वाला था। राजनीतिक कारणों से इस मामले में उनकी आवाज अकेली पड़ गई और उसे स्वीकृति नहीं मिली, जिसके फलस्वरूप देशभर के सरकारी कर्मचारियों को उत्तर प्रदेश से तीखा संकेत मिला और तभी से प्रशासन में अनुशासनहीनता अपवाद के बजाए देशव्यापी नियम सा बन गई है। पटवारियों को बर्खास्त कर दिया गया, पुरानी व्यवस्था को बदलने के लिए लेखपाल का पद सिरजा गया–जैसा कि पाठक जानते हैं, लेखपाल को पटवारी की अपेक्षा कुछ ही या कमतर अधिकार थे। लेखपालों की नियुक्ति, प्रशिक्षण और अपने–अपने केन्द्रों में काम पर लग जाने में लगभग नौ महीने लगे। जो 13,000 लेखपाल नियुक्त किये गए थे, उनमें से 18 प्रतिशत को राजस्व मंत्री के स्पष्ट निर्देश द्वारा अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित कर दिया गया था। दरअसल योग्य उम्मीदवारों की कमी के कारण सिर्फ पांच प्रतिशत की नियुक्तियां हो सकीं। पहले तो पटवारियों की श्रेणी में एक भी हरिजन नहीं था। राजस्व मंत्री ने भविष्य के लिए एक आदेश जारी किया कि 36 प्रतिशत रिक्त स्थान सावधिक रूप से हरिजनों को मिलेंगे, ताकि आगे के लिए रास्ता बने।

विक्षुब्ध पटवारियों को यह उम्मीद नहीं थी कि सरकार उनके इस्तीफे स्वीकार कर लेगी। भूतपूर्व पटवारियों के, जिन्होंने अपने त्यागपत्रों की स्वीकृति और फिर उनकी जगह पर लेखपालों की बहाली को चुनौती दी

थी, अनुरोध पर इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा संविधान की धारा 225 के तहत 2 मार्च 1954 को लगभग 750 परवाने जारी किए गए। फिर भी इससे कुछ नहीं हुआ और ग्राम प्रशासन के पुनर्गठन का काम जारी रहा, जैसी कि योजना थी।

इस बीच विरोधी पार्टियों ने खास तौर से प्रजा सोशलिस्ट पार्टी ने, किसानों को सरकार के खिलाफ करते हुए अपनी कार्रवाई तेज की। इसके "फलस्वरूप भूमि रिकार्डों में गलत प्रविष्टियों को लेकर शिकायतों का जबर्दस्त तांता लग गया। सरकार ने अपनी तरफ से महसूस किया कि जिस बुनियाद पर जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार सम्बन्धी नीतियां लागू की जानी हैं, वह है काश्तकारी के मूल रिकार्ड की तैयारी, और चरण सिंह ने जुलाई 1954 में यह घोषणा की कि अगस्त के मध्य से भूमि सम्बन्धी रिकार्डों को ठीक करने का राज्यव्यापी अभियान शुरू किया जाएगा—एक असम्भव सा लगने वाला काम, क्योंकि कई क्षेत्रों में ये रिकार्ड 100 साल से भी पहले के थे।

भूमि रिकार्ड सुधारने का अभियान

द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ, यानी 1939 से ही भूमि सम्बंधी रिकार्डों के रखरखाब में घोरतम उपेक्षा बरती गई। सारा जोर युद्ध पर था, इसलिए प्रशासकीय दिनचर्या के लिए वक्त कम था। स्वतंत्रता आई तो साथ ही अपनी समस्याएं भी लाई; खास तौर से एक के बाद एक भूमि सुधार सम्बंधी कदम उठाये गये तो भूमि रिकार्ड संभालने वाले कर्मचारियों पर ध्यान अलग से देना पड़ा। पटवारियों के 1953 में सामूहिक त्यागपत्र दे देने पर एक और धक्का लगा। इसलिए भूमि रिकार्डों की बिगड़ती हालत की मांग थी कि तुरन्त ध्यान दिया जाए इसके अनुसार खतौनियों* को, जो कि जमींदारी उन्मूलन के बाद के नये ढांचे में अब अधिकारों का मूल रिकार्ड हो चली थीं, ठीक करने का समायोजित अभियान राज्य के सभी ज़िलो में, कुमाऊं मंडल के पर्वतीय ज़िलों को छोड़कर, शुरू किया गया।

अगस्त 1954 में खरीफ की पड़ताल के साथ—साथ यह सुधार अभियान शुरू हुआ और नवम्बर 1954 तक जारी रहा। अभियान शुरू किया जाता उससे पहले छपे पर्चे गांवों में व्यापक रूप से बांटे गए, किसानों को आमंत्रित करते हुए कि वे रिकार्डों को निःशुल्क ठीक कराने के इस अवसर से लाभ उठाएं तथा भूमि प्रबंधन समिति के अध्यक्ष और

---

* खाता बहियां, जिनमें जोतों के विवरण दर्ज होते हैं।

सदस्यों की मौजूदगी में, लेखपाल जब खतौनियों की प्रविष्टियां पढ़ें, तो उसे सुनने के लिए निश्चित तारीख को निर्धारित समय वहां जमा हो जाएं। इस प्रचार से लोगों में काफी दिलचस्पी जगी और प्रतिक्रिया बहुत ही संतोषजनक रही।

अभियान के उद्देश्य से प्रत्येक तहसील को तीन सेक्टरों में बांटा गया और प्रत्येक सेक्टर को एस. डी. ओ. (सब–डिवीजनल ऑफिसर), एक तहसीलदार और एक नायब तहसीलदार के जिम्मे किया। इन अधिकारियों में से प्रत्येक से यह अपेक्षा की गई कि वह अपने सेक्टर के प्रत्येक गांव में जाएगा।

भूमि प्रबंधन समिति की सलाह से गांव में चुने गए उपयुक्त स्थल पर जमा जोतदारों के सामने लेखपाल खतौनी के भाग–1 और भाग–2 को पढ़ता तथा उन सभी प्रविष्टियों का एक रिकार्ड बनाता, जिन जोतदारों द्वारा आपत्तियां उठाई गई थीं। पर्यवेक्षक–क़ानूनगो द्वारा इन सूचियों की पुष्टि हो जाने के बाद उन्हें अधिकारियों की क्रमिकता के अनुसार एस. डी. ओ., तहसीलदार या नायब तहसीलदार के पास भेजा जाता। त्रुटियों की सूचियां प्राप्त होते ही एस. डी. ओ., तहसीलदारों और नायब तहसीलदारों से अपेक्षा की जाती थी कि ये यथासम्भव वहीं संक्षेप में निर्णयात्मक आदेश जारी कर दें–दर्ज लगान या भू–राजस्व में परिवर्तन, काश्तकारी की श्रेणी, खेती की शर्त और जोतों के विभाजन से सम्बद्ध मामलों को छोड़कर, जिनका फैसला नियमित न्यायिक कार्यवाहियों के अन्तर्गत होना था।

मामूली अपवादों को छोड़ दें तो काम काफी अच्छे ढंग से हुआ। लेखपालों और पर्यवेक्षक क़ानूनगो के कामों पर नजर रखने के लिए एस. डी. ओ., तहसीलदारों और नायब तहसीलदारों ने व्यापक रूप से यात्राएं की। यह इसी एक तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि लगभग 34,86,000 गलत प्रविष्टियों को ढूंढ निकाला गया और ठीक किया गया।

सितम्बर 1954 में और 1955 के बजट अधिवेशन के दौरान कोई आधा दर्जन विधायकों ने सदन में खड़े होकर लेखपालों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के गम्भीर आरोप लगाये। राजस्व मंत्री ने तत्काल विभागीय प्रमुख, यानी भूमि सुधार आयुक्त, को कलक्टरों से यह कहने का आदेश जारी किया कि जिन विधायकों को शिकायत थी, उन्हें अपने–अपने विधान सभाई क्षेत्र के पांच गांव किसी तरीके से या छिटपुट तरीके से चुनकर भूमि रिकार्ड से नमूने की प्रविष्टियां छांट लेने दें, जिनकी जांच उन विधायकों की उपस्थिति में तहसीलदार करेगा। भूमि सुधार आयुक्त को इस पर अपनी रिपोर्ट सरकार के पास यथासम्भव शीघ्र भेजनी थी। रिपोर्टों से पता चला

कि आरोपों का तथ्य से कोई वास्ता नहीं था। चरण सिंह ने मुख्यमंत्री डॉ० सम्पूर्णानन्द को इस संबंध में तथा विभाग से प्राप्त रिपोर्टों के बारे में जो नोट भेजा था, वह इस प्रकार है।

मुख्यमंत्री

हमने 1952 के अंतिम चरण में लैण्ड रिकार्ड्स मैन्युअल को इस कदर संशोधित रूप दिया है कि व्यवहारतः पटवारी (अब लेखपाल कहेंगे) के ऐसे कोई अधिकार बचे नहीं रह गए कि वह ऐसी प्रविष्टियां बनाए जो किसानों को बुरी तरह प्रभावित करें। इसके साथ ही उसके विशेष अधिकार गए, भ्रष्टाचार के अवसर भी घटकर न्यूनतम रह गए हैं। यही प्रमुख कारण था कि क्यों पटवारियों ने सामूहिक रूप से त्याग पत्र दिए।

लेखपालों का संख्या बल 27,000 से घटकर 18,000 रह गया, जिनमें से 13,000 नवनियुक्त हैं। कलक्टरों को बार–बार यह सुनिश्चित करने के लिए कहा गया है कि इन अधीनस्थ कर्मचारियों में भ्रष्टाचार फिर से प्रवेश नहीं कर पाए। मेरी बराबर यह धारणा रही है कि लेखपाल हालांकि अनुभव रहित हैं, लेकिन कुल मिलाकर अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक ईमानदार हैं। फिर भी, मुझे हैरानी हुई जब पिछले सितम्बर में कांग्रेस पार्टी के दो विधायकों ने एक सीतापुर से और दूसरे गोरखपुर से, सदन में आम लेखपालों के विरुद्ध अंधाधुंध आरोप लगाए। मैंने इन सदस्यों को पत्र लिखा कि लेखपालों के भ्रष्टाचार का उन्हें जो पता चला है, उसके तथ्यात्मक उदाहरण जुटाने की मेहरबानी वे मुझ पर करें। सीतापुर वाले सज्जन ने वैसा करने का वचन तो दिया, लेकिन किया कुछ नहीं। गोरखपुर वाले सज्जन ने तो मेरे पत्र की प्राप्ति सूचना तक देनी जरूरी नहीं समझी।

फिर, इसी तरह के आरोप बजट अधिवेशन के दौरान लगाए गए। बहस के बाद मैंने, जैसा कि मुख्यमंत्री को याद होगा, पार्टी की एक बैठक बुलाई थी महज यह जानने के लिए कि राजस्व विभाग की गतिविधियों के प्रति–जिनसे हमारे गांव या हमारे 75 प्रतिशत महत्त्वपूर्ण लोग प्रभावित होते हैं–पार्टी की क्या प्रतिक्रियाएं हैं। लेखपालों में भ्रष्टाचार का सवाल भी उठा, हालांकि बहुत ही आकस्मिक तौर पर। पार्टी कुल मिलाकर सन्तुष्ट थी कि भ्रष्टाचार को खत्म करने के लिए सभी सम्भव कदम उठाए जा चुके हैं, तथा बहुत सिर खपाने पर भी नए सुझाव लेकर कोई सामने नहीं आया। फिर भी मैंने तीन प्रबल आलोचकों, एक बस्ती से और दो गोरखपुर से, के सामने प्रस्ताव रखा कि वे अपने विधान सभा क्षेत्र में

जहां–तहां से पांच–पांच नाम चुन लें, जहां तहसीलदार की उपस्थिति में वे लेखपाल की प्रविष्टियों की जांच कर सकते हैं। बस्ती से प्राप्त रिपोर्ट इसी के साथ प्रेषित है। मैं मुख्यमंत्री से अनुरोध करूंगा कि कृपया इन कागजों पर दृष्टि दौड़ाएं। यह जोड़ना आवश्यक है कि यह रिपोर्ट सचमुच ही हमारे लिए बहुत ही–संतुष्टिदायक होनी चाहिए।

हस्ताक्षर
चरण सिंह
25 मई, 1955

भूमि सुधार आयुक्त, उत्तर प्रदेश, लखनऊ को कलक्टर, बस्ती द्वारा भेजे गए डी० ओ० नं० 1411/11–9/54–55 एलआरओ, की प्रतिलिपि (दिनांक 17 मई 1955)।

कृपया काबिज प्रविष्टियों और विधायक श्री राजाराम शर्मा द्वारा उनकी पुष्टि किए जाने से सम्बन्धित डी० ओ० पत्र संख्या 655/एलआरसी/एसटी, दिनांक 6 अप्रैल 1955 देखें।

छिटपुट चयन निर्देश के अनुरूप विधायक श्री राजाराम शर्मा की उपस्थिति में निम्नांकित पांच गांव चुने गए थे। श्री शर्मा ने बाद में खास तौर से गांव महाला देखने की इच्छा जाहिर की और उनके अनुरोध को मान लिया गया तथा मंझारी, सोहरवालिया, बरदन, बेलडीहा और घुलमीजोत नामक गांवों की भी उनके द्वारा जांच की गई।

श्री शर्मा और तहसीलदार द्वारा बाकायदा हस्ताक्षरित पुष्टीकरण परिणाम की मूल प्रति संलग्न है–"यह सचमुच वास्तविक सन्तोष का विषय है कि जिन छह गांवों में इस तरह की छानबीन की गई उनमें से किसी एक में भी गलत प्रविष्टि नहीं पाई गई।"

डी०एल०आर०ओ० को खलीलाबाद के तहसीलदार की रिपोर्ट (दिनांक 11 मई 1955) की प्रतिलिपि।

श्री शर्मा को ऊपर लिखित गांवों में निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार ले जाया गया तथा उन्हें इन छह गांवों के खसरों के टिप्पणी वाले कालम में लेखपालों द्वारा दर्ज काबिज प्रविष्टियों के बारे में छानबीन करने की पूरी सुविधा और आजादी दी गई। श्री शर्मा की जांच विस्तृत थी तथा खेतों पर जा–जाकर उनकी पुष्टि की गई थी। विधायक महोदय इन छहों गांवों में एक भी भूल या गलत प्रविष्टि नहीं पा सके। इस तथ्य को पुष्टिकरण रिपोर्ट में स्वीकार किया गया है।

जहां तक गोरखपुर के विधायकों की शिकायत की बात है, श्री जे० निगम,

आई०सी०एस०, भूमि सुधार आयुक्त, उत्तर प्रदेश, नैनीताल को श्री एन० पी० चटर्जी, कलक्टर, गोरखपुर द्वारा लिखा गया डी० ओ० नं० 144 (एफ–83) एच, दिनांक 23 मई, 1955 का पत्र कहता है:

कृपया अपना डी० ओ० नं० आर–656 एलआरसी/एसटी, दिनांक 18 मई, 1955 का पत्र देखें। काबिज प्रविष्टियों के पुष्टीकरण के लिए विधायक श्री द्वारका प्रसाद पाण्डेय और विधायक श्री सुखदेव प्रसाद के विधान सभाई क्षेत्रों में छिटपुट चयन पद्धति से निम्नांकित गांव चुने गए थे:

1. बिशनपुर भदेहर	1. चौका अहतामली
2. अहिरौली	2. घरभरिया
3. श्याम देवरवा	3. खैरांत
4. बैदा	4. अमराहा
5. सौनरेजी (तहसील महाराजगंज)	5. माधोपुर (तहसील फरेंदा)

2. विधायक श्री सुखदेव प्रसाद ने इन गांवों में जांच करने से इन्कार कर–दिया। वे इन गांवों के चयन के लिए अपनाए गए तरीकों से सहमत नहीं थे। उनका राजस्व मंत्री से यह अनुरोध करने का प्रस्ताव है कि वे उनकी अपनी पसन्द के गांव चुनने की अनुमति दें।
3. श्री द्वारका प्रसाद पाण्डेय तीन गांवों की जांच पूरी कर चुके हैं, लेकिन चूंकि बहुत उत्साहजनक परिणाम उन्हें नहीं मिले, इसलिए पता नहीं कि कब वे शेष दो गांवों की जांच पूरी करेंगे।

पाठक यह जानने के लिए उत्सुक होंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कृषि विशेषज्ञ बुल्फ लेजिस्की ने विभिन्न राज्यों के भूमि रिकार्डों के सम्बन्ध में कहा था।

"अनेक राज्यों में" उन्होंने कहा, "काश्तकारियां मौखिक आधार पर हैं, तथा कोई काश्तकार अपने काश्तकारी के अधिकारों की सुरक्षा के प्रति आश्वस्त नहीं हो सकता, अगर वे लिपिबद्ध न हों। लिखित रिकार्ड के बिना काश्तकारी की सुरक्षा के किसी या सभी प्रावधानों को लागू नहीं किया जा सकता। जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून लागू किए जाने के क्रम में राज्य सरकार द्वारा आयोजित विशेष अभियान के दौरान उत्तर प्रदेश में लाखों रिकार्ड सुधारे गए या नए सिरे से लिखे गए। यही

बात देश के एक बड़े भाग के बारे में नहीं कही जा सकती, खास तौर से आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, केरल, मद्रास, मैसूर और उड़ीसा के बारे में। स्पष्टतः काफी हद तक तत्कालीन राजस्व मंत्री चरण सिंह के संकल्पित नेतृत्व पर आधारित उत्तर प्रदेशीय पद्धति ऐसी नहीं थी कि अन्य अनेक राज्यों में अपना ली जाती।"* (अतिरिक्त बल)

---

* लुइस जे० वालिस्की (सम्पादक): एग्रेरियन रिफार्म्स–एन अनफिनिश्ड बिजनेस, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1977, पृष्ठ 387।

४

भूमि पुनर्ग्रहण की मांग से इंकार

जमींदारों ने सरकार से मांग की कि उन्हें असामियों से एक निर्धारित सीमा तक, जो कि पारिवारिक जोत–क्षेत्र की तिगुनी होनी चाहिए, भूमि के पुनर्ग्रहण की अनुमति दी जाए, "बिना यह विचार किए कि उनकी काश्तकारी किस प्रकार की है।" पुनर्ग्रहण सिर्फ व्यक्तिगत जुताई के आधार पर होना था और उसी क्षेत्र तक सीमित रहता, जिसे किसी परिवार के वयस्क कार्यकर्ता खेती के काम में ला पाते। बम्बई और पंजाब की राज्य सरकारों ने यह सीमा 50 एकड़ तय की थी और हैदराबाद में यह किसी जोत–क्षेत्र की पांच गुना थी। फिर भी जहां तक एक तरफ पुनर्ग्रहण के अधिकार और दूसरी तरफ काश्तकारी की सुरक्षा के बीच अन्तर्निमित विरोधाभास की बात है, पहली योजना (1951–56) में की गई उपर्युक्त सिफारिश में बड़े पैमाने पर काश्तकारों की बेदखली का खतरा निहित था। यह 'खतरा' कैसे वास्तविक तथ्य में बदल गया, वह बम्बई और हैदराबाद के पूर्ववर्ती राज्यों के उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाता है, जिनके कृषि अधिनियम में मालिकों द्वारा भूमि के पुनर्ग्रहण का प्रावधान पहली योजना के बनने और अनुमोदित होने से पहले ही किया गया था।

गोखले इंस्टीट्यूट ऑफ पॉलिटिक्स एण्ड इकोनॉमिक्स ने बाम्बे टेनेन्सी एण्ड एग्रीकल्चरल लैण्ड एक्ट 1948 के कार्य के बारे में एक रिपोर्ट तैयार की थी। उस क़ानून का उद्देश्य काश्तकारी को सुरक्षा प्रदान करना था, इस शर्त के साथ कि व्यक्तिगत खेती के लिए भूमि पर जमींदार के पुनर्ग्रहण का अधिकार बीच में नहीं आता हो। फिर भी रिपोर्ट के मुताबिक वह सुरक्षा व्यवहारतः कारगर नहीं हुई। पहले वर्ष, यानी 1948–49 की जांच के दौरान जो क्षेत्र काश्तकारों द्वारा काश्त होता था, उसमें से केवल 58.1 प्रतिशत पर ही जांच खत्म होने तक, यानी 1952–53 तक, उन्हीं काश्तकारों का दखल बना रहा। 38.7 प्रतिशत का या तो मालिक ने पुनर्ग्रहण कर लिया था या काश्तकार बदल दिए गए थे। 80 प्रतिशत से ज्यादा मामलों में जमींदारों ने काश्तकारों की इच्छा से सुपुर्दगी प्राप्त कर ली थी।

हैदराबाद की सरकार द्वारा की गई एक जांच से यह संकेत मिला कि

1951–54 की अवधि में संरक्षित काश्तकारों की संख्या में 57 प्रतिशत कमी आ गई और उनके दखल वाला क्षेत्र मुख्यतः गैरक़ानूनी या तथाकथित 'इच्छित सुपुर्दगी' के चलते 59 प्रतिशत घट गया। हैदराबाद के पूर्व जागीरदार क्षेत्रों में जागीर उन्मूलन और भूमि सुधार के सामाजिक और आर्थिक प्रभावों की जो जांच आयोजित की गई थी, उसमें यह लक्ष्य किया गयाः

> हैदराबाद टेनेन्सी एण्ड एग्रीकल्चरल लैण्ड्स एक्ट, 1950 जमींदारों के पुनर्ग्रहण के सीमित अधिकार के साथ रक्षित काश्तकारों की काश्तकारी को सुरक्षा प्रदान करता है। मूलतः 1951 में सिरजे गए रक्षित काश्तकारों में से सिर्फ 45 प्रतिशत अभी भी अपनी जोत के क्षेत्र के 54 प्रतिशत पर अपने रक्षित दर्जे का उपभोग कर रहे हैं, जबकि 12 प्रतिशत ने अपने खेत खरीद लिए हैं और भू–स्वामी जोतदार बन गए हैं। केवल 25 प्रतिशत को गैर–क़ानूनी तरीके से बेदखल किया गया है। जहां 22 प्रतिशत नाजायज ढंग से हथिया लिया गया है, वहीं 17 प्रतिशत ने स्वेच्छा से भूमि सौंप दी है।

पहली पंचवर्षीय योजना के दौरान असम, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, पेप्सू और कच्छ ऐसे राज्य थे, जहां जमींदारी के पुनर्ग्रहण की एक उच्चतर सीमा थी, लेकिन काश्तकारों को अधिकार नहीं था कि वे न्यूनतम कृषि भूमि अपने पास रख सकें।

देश के अन्य भागों में या तो काश्तकारों की सुरक्षा के लिए कोई कार्रवाई की ही नहीं गई या बेदखली सिर्फ अस्थायी तौर पर रोकी गईं। अतः योजना आयोग ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना में दो सुरक्षात्मक उपायों का प्रस्ताव किया, अर्थात्:

(1) जहां भूस्वामी के पास निजी कृषि भूमि पारिवारिक जोत से अधिक लेकिन हदबंदी की सीमा से कम है, वहां उसे निजी खेत के लिए पुनर्ग्रहण का अधिकार हो सकता है, इस शर्त के साथ कि उसके काश्तकार के पास पारिवारिक जोत बची रहे तथा इस तरह प्राप्त भूमि को पहले से उपलब्ध ज़मीन के साथ मिला देने पर मालिक की निजी जोत का रकबा हदबंदी की सीमा को पार न करे; और

(2) अगर भू–स्वामी की निजी कृषि भूमि पारिवारिक जोत से कम हो तो उसे काश्तकार की जोत के आधे हिस्से के, या उस क्षेत्र के, जिसे मलाने से उसकी पारिवारिक जोत बनती है, इनमें से जो भी कम हो, उसके पुनर्ग्रहण की अनुमति दी जा सकती है; इस

शर्त के साथ कि काश्तकार के पास बुनियादी जोत से कम भूमि नहीं रह जाए।

चूंकि 'निजी कृषि', 'हदबंदी सीमा', 'पारिवारिक जोत' और 'बुनियाद जोत' को परिभाषित करना सरल नहीं था, इसलिए इस सम्बन्ध में अलग–अलग राज्यों द्वारा जो क़ानूनी प्रावधान किए गए और जिस तरह उन्हें लागू किया गया उनमें विविधता थी। फलस्वरूप द्वितीय योजना में प्रस्तावित सुरक्षात्मक उपाय बहुत कम कारगर साबित हुए या कारगर हुए ही नहीं। उदाहरण के लिए भू–स्वामी असम में 33.3 एकड़ और पंजाब में 30 एकड़ भूमि का पुनर्ग्रहण कर सकते थे, शर्त यही थी कि काश्तकार के पास न्यूनतम क्षेत्र बचा रहे। आन्ध्र प्रदेश में जमींदार पूरे क्षेत्र का पुनर्ग्रहण कर सकते थे। बंगाल में किसी जमींदार के पास अगर 10 एकड़ या उससे कम भूमि होती, तो वह अपने काश्तकार से पूरे क्षेत्र का पुनर्ग्रहण कर सकता था, लेकिन अगर उसके पास 10 एकड़ से ज्यादा ज़मीन होती, तो वह 10 एकड़ या अपने स्वामित्व वाले क्षेत्र की दो तिहाई, जो भी अधिक हो (हर मामले में 25 एकड़ की शर्त के साथ) भूमि पुनर्गृहीत कर सकता था।

दूर शहरों में रहने वाले गैर मौजूद जमींदार भी अपने काश्तकारों से भूमि पुनर्गृहीत करने लगे तथा भाड़े के श्रमिकों द्वारा उस पर खेती शुरू कर दी या उसे बटाई पर लगा दिया। कुछ मामलों में जमींदारों ने भूमि बेच डाली या उसका बंटवारा करके खुद खेती करने लगे तथा इस प्रकार अपनी जोतों को वैध सीमा से कम करते हुए वे और भी क्षेत्रों के पुनर्ग्रहण के लिए काश्तकारों को बेदखल करने पर आमादा हुए। फिर, जमींदार के अधिकारों और काश्तकार के हितों के बीच बारीक सन्तुलन बनाए रखने की कोशिश में क़ानून को इतना जटिल बना दिया गया था कि यह गरीब काश्तकार की समझ से बाहर था। न ही उन काश्तकारों को बल पहुंचाने के लिए अपेक्षित चुस्त प्रशासकीय समर्थन आगे आ रहा था, जो अपने अधिकारों पर जोर देने के मामले में सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से आमतौर पर बहुत ही कमजोर स्थिति में थे।

भूमि सुधार पर योजना आयोग के पैनल ने क़ानून की खामियों और क़ानून के भीतर आने वाले काश्तकारों की स्थिति पर इनके दुष्प्रभाव का एक बढ़िया उदाहरण प्रस्तुत किया है। पैनल कहता है:

> कई राज्यों में हालांकि काश्तकारों को बेदखल करके जमींदार द्वारा पुनर्ग्रहीत की जा सकने वाली भूमि की मात्रा पर तो रोक लगाई गई, लेकिन अपुनर्ग्रहणीय क्षेत्र की तरह पुनर्ग्रहणीय क्षेत्र का कोई प्रावधान नहीं रखा गया। इस प्रकार जमींदार के पुनर्ग्रहण के अधिकार यद्यपि

मात्रा में सीमित रहे, मगर वह सभी काश्तकारों पर अनुचित प्रभाव डालने में समर्थ था, साथ ही उसके पास सौदेबाजी की ताकत थी और इस तरह क़ानून को उसने निष्प्रभावी बना दिया। वह भूमि के पुनर्ग्रहण का भय दिखाकर रुपये तक ऐंठ सकता था।

यद्यपि पूरे देश के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन अकेले महाराष्ट्र की तरफ संकेत किया जा सकता है, जहां 1948 के प्रथम काश्तकारी सुधारों के बाद के दशक में भू–स्वामियों ने निजी खेत के लिए एक करोड़ सत्तर लाख एकड़ भूमि का पुनर्ग्रहण किया तथा प्रत्येक तीन 'रक्षित' काश्तकारों में से दो अपनी ज़मीनें गंवा बैठे। (रिपोर्ट ऑफ द कमेटी ऑन टेनेन्सी रिफॉर्म, प्लानिंग कमीशन, मार्च 1966)

भारत में भूमि सुधारों का अध्ययन करने वाले एक विदेशी विद्वान् के अनुसार इस मामले में कांग्रेस की नीतियां या उसकी सरकार की अक्षमता 'भारत के पिछले इतिहास में कभी न सुने गए स्वत्वहरण' के रूप में फलीभूत हुई।

आठवें दशक में भारतीय सेंसस ऑपरेशन के महानिबन्धक द्वारा मार्च 1971 में खेती में लगे भारतीय श्रमिकों की संख्या और प्रतिशत के बारे में कराए गए सर्वेक्षण से यही निष्कर्ष सामने आया था। आंकड़े इस प्रकार थेः

तालिका–4.1

कृषि एवं सम्बद्ध गतिविधियां	श्रमिकों की संख्या	कुल संख्या का प्रतिशत	श्रमिकों की संख्या	कुल संख्या का प्रतिशत
(I) कृषि (वास्तविक)	1.18.286	71.45	1,29,161	71.61
(क) जोतदार	84,601	51.10	78,177	43.34
(ख) कृषि श्रमिक	27,918	16.87	47,489	26.33
(ग) अन्य कृषि एवं सम्बद्ध गतिविधि	5,767	3.48	3,495	1.94
(II) वानिकी एवं लकड़ी कटाई	268	0.16	143	0.08
(III) मछली पकड़ना	544	0.33	586	0.32
कुल	1,19,098	71.94	1,29,890	72.01

स्रोतः द नेशनल अकाउंट्स स्टैटिस्टिक्स, 1970–71 से 1975–76, सी. एस. ओ., भारत सरकार, जनवरी 1978, पृ० 126

ऊपर दी गई तालिका दर्शाती है कि इन बेदखलियों अथवा तथाकथित 'रजामंदी से सुपुर्दगी' के फलस्वरूप 1961 में देश में कृषि क्षेत्र के श्रमिकों और जोतदारों की संख्या का, जो 16.87:51.10 यानी 3:9 का अनुपात था, वह दस वर्ष बाद यानी 1971 में बदलकर (26.33:43.34 या) 3:5 हो गया। जोतदारों की संख्या घटकर 15 प्रतिशत रह गई तथा भूमिहीन श्रमिकों की संख्या—बढ़कर 56 प्रतिशत हो गई। इसका मतलब है कि लाखों किसान, खासतौर से—नगण्य और छोटे—छोटे किसान, एक दशक की अल्प अवधि में ही अपनी ज़मीनों से बेदखल कर दिए गए थे—किसानों के सामने भूमिहीन श्रमिकों की श्रेणी में शामिल होने के अलावा कोई विकल्प नहीं था।

नगण्य और छोटे किसानों की बेदखली सत्तर वाले दशक में भी जारी रही, हालांकि धीमी रफ्तार से। अतएव किसी को चकित नहीं होना चाहिए यह देखकर कि 1981 में जोतदारों के मुकाबले कृषि श्रमिकों का अनुपात बदलकर 30:40 या 75:100 (1951 के 27:100 के स्थान पर) हो गया था।

दूसरी तरफ नेशनल सैम्पल सर्वे (1961—62) और ऑल इंडिया एग्रीकल्चरल सेंसस (1970—71) द्वारा पेश किए गए आंकड़े दिखाएंगे कि 1961—62 में जहां 39 प्रतिशत जोतें एक हेक्टेयर से कम क्षेत्र वाली थीं, वहीं 1970—71 में बढ़कर ये 51 प्रतिशत हो गईं तथा 10 हेक्टेयर से अधिक क्षेत्र वाले फार्मों की संख्या 1961—62 के (औसतन 17 हेक्टेयर रकबे वाले) 2 लाख से बढ़कर 1970—71 में 28 लाख हो गई। फिर, 1961—62 में बड़े फार्म जहां 386 लाख हेक्टेयर पर अथवा कुल क्षेत्र के 28.9 प्रतिशत पर फैले थे, वहीं 1970—71 में वे 500 हेक्टेयर पर यानी 30.8 प्रतिशत क्षेत्र पर छा गए थे। इस प्रकार बड़े किसान या जमींदार छोटे किसानों या अपने काश्तकारों को 114 लाख हेक्टेयर क्षेत्र से (= 285 लाख एकड़ = 456 मानक बीघे एक दशक में, यानी साठ वाले दशक में) बेदखल करने में कामयाब हो गए थे। अगर 1947—71 और 1971—81 की अवधियों में हुई बेदखलियों के आंकड़े उपलब्ध हों, तो जमींदारों या काश्तकार—प्रमुखों द्वारा हथियाया गया क्षेत्र 456 लाख एकड़ से कहीं ज्यादा निकल जाएगा।

अस्तु, राजनीतिक स्वतंत्रता के उदय काल से ही जमींदार—रैय्यत प्रणाली के उन्मूलन तथा भूमि सुधार सम्बन्धी जो कदम देश में उठाए गए, वे हमारे ग्रामीण समाज के लिए वरदान की अपेक्षा अभिशाप ही सिद्ध हुए।

देश के राजस्व मंत्रियों में चरण सिंह शायद अकेले हुए, जिन्होंने योजना आयोग की सलाह मानने से सीधे इन्कार किया तथा जो भूमि के रिकार्डों में एक भी शिक्मी काश्तकार या अतिक्रमणकारी को दर्ज करने पर सहमत नहीं हुए, उत्तर प्रदेश में बेदखल किए जा रहे काश्तकारों की तो

बात ही अलग रही। अप्रैल 1946 से अपने पांच वर्ष की अवधि में कांग्रेस मंत्रिमंडल द्वारा (जिसमें चरण सिंह संसदीय राजस्व सचिव थे) विधायी और प्रशासकीय कदम उठाए जाने के चलते उत्तर प्रदेश के प्रत्येक 100 कृषि श्रमिकों (परिवार के अवैतनिक सहायक समेत) में से कृषि श्रमिकों के परिवारों से सम्बद्ध श्रमिकों और जोतदार परिवारों से सम्बद्ध श्रमिकों का अनुपात 1931 के (18:22 या) 22:100 से घटकर 1951 में 11:100 रह गया, यानी ठीक आधे पर आ गया। फिर भी जहां तक 1951 के 'केवल कृषि श्रमिकों' का सवाल है, कृषि श्रमिकों और जोतदारों का अनुपात उस वर्ष 8.5:100 रहा। खेतों में कार्यरत 74.12 श्रमिकों में से 67.41 प्रतिशत जोतदार थे और केवल 6.71 प्रतिशत श्रमिक थे।

उत्तर प्रदेश में इस संतोषजनक स्थिति के कारणों में पहला तथ्य यह था कि राज्य में जमींदारी उन्मूलन की स्वीकृति के बारे में उत्तर प्रदेश विधान सभा द्वारा प्रस्ताव स्वीकृत किए जाने के तुरन्त बाद ही सरकार ने 1 सितम्बर, 1957 को आदेश जारी कर सभी काश्तकारों और शिक्मी काश्तकारों की उनके कब्जे की ज़मीन से बेदखली पर रोक लगा दी। यू० पी० टेनेन्सी एक्ट, 1939 में आवश्यक संशोधन करके कार्यपालिका के इन आदेशों को क़ानूनी मान्यता दे दी गई। इसके साथ ही जो संशोधन क़ानून 1947 का एक्ट ×, 4 मई, 1947 को लागू हुआ था, उसने भी काश्तकारों और शिकमी काश्तकारों की उन ज़मीनों पर बहाली का प्रावधान कर दिया, जिनसे जनवरी 1940 के बाद उन्हें बेदखल किया गया था। दूसरे, राज्य के किसी भी कोने से किसी व्यक्ति को परेशान या बेदखल किए जाने की खबर मिलते ही विभाग की पूरी मशीनरी तत्काल सक्रिय हो उठती या उसे गतिशील कर दिया जाता।

लेकिन उत्तर प्रदेश में निम्नतम सीढ़ी पर स्थित गरीब किसानों का दुर्भाग्य रहा कि 1951 में कृषि श्रमिकों और जोतदारों के बीच जो 8:100 का अनुपात था, वह बढ़कर 1961 में 16:100 और 1971 में 35:100 हो गया। जनगणना रिपोर्ट की तालिका 4.2 से यह स्पष्ट हो जाता है:

तालिका 4.2

राज्य	वर्ष	
	1969	1979
1. आन्ध्र प्रदेश	0.76	1.18
2. असम	0.07	0.18
3. बिहार	0.41	0.90

राज्य	वर्ष	
	1969	1979
4. गुजरात	0.30	0.52
5. हरियाणा	0.13	0.33
6. कर्नाटक	0.28	0.67
7. केरल	0.90	1.72
8. मध्य प्रदेश	0.29	0.50
9. महाराष्ट्र	0.51	0.83
10. उड़ीसा	0.24	0.58
11. पंजाब	0.24	0.47
12. राजस्थान	0.07	0.14
13. तमिलनाडु	0.47	0.97
14. उत्तर प्रदेश	0.16	0.35
15. पश्चिम बंगाल	0.41	0.83
पूरा भारत	0.33	0.61

साठ वाले दशक के दौरान जिन राज्यों में जोतदारों के मुकाबले कृषि श्रमिकों के अनुपात में काफी वृद्धि देखने को मिली, वे क्रमिक उतार से असम, कर्नाटक, उड़ीसा और बिहार थे। केरल, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र और तमिलनाडु में तो क्रमिक उतार से 1961 में ही जोतदारों के मुकाबले कृषि श्रमिकों का अनुपात बहुत ऊंचा था।

इसलिए केरल, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल या बिहार में अगर नरम या उग्र किस्म के कम्युनिज्म ने सिर उठाया है या उठा रहा है और असंतोष व्याप्त है—देश के कुछ भागों में हिंसा तक मची हुई है—तो यह काफी हद तक जमींदारी उन्मूलन के बारे में कांग्रेस नेताशाही की कथनी और करनी के बीच की खाई के चलते हैं। शायद कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जहां सरकारी नीति और कार्य—शीलता के बीच खाई उतनी चौड़ी हो, जितनी कि भूमिसुधारों के मामलों में है।

चरण सिंह, जो गरीब किसानों के हित के लिए इतने चिन्तातुर थे, जून 1951 से ही राजस्व विभाग को सम्भाले हुए थे और जैसा कि पाठक पिछले अध्यायों में देख ही चुके हैं, राज्य में भूमि के रिकार्ड पूरी दक्षता से सुव्यवस्थित रखे गए थे। तो फिर उत्तर प्रदेश में कृषि श्रमिकों के प्रतिशत में तेज वृद्धि के पीछे क्या बात थी? जिसकी 1961 और 1971 की जनगणना रिपोर्ट द्वारा पुष्टि हुई।

इस वृद्धि का कारण इस तथ्य में निहित है कि मार्च 1959 में जब चरण सिंह ने राज्य मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया, तब मुख्यमंत्री डॉ० सम्पूर्णानन्द ने अपने एक सहयोगी यानी ठाकुर हुक्म सिंह को राजस्व विभाग सौंप दिया, जो, जैसा कि पाठक बाद के पन्नों में पाएंगे, निजी खेती के 'पवित्र' नाम पर अपने काश्तकारों से भूमि पुनर्ग्रहीत करने के जमींदारों के अधिकार के महान् प्रवक्ता थे। गरीबों और सुविधा वंचितों के लिए न सिर्फ उनके पास प्यार और सहानुभूति का अभाव था, बल्कि किसी तरह यदि किसानों को उनके हल की नोक के नीचे की ज़मीन से बेदखल कर दिया जाता, तब भी वे चिन्तित नहीं होते थे। न ही समाजवादी मुख्यमंत्री डॉ० सम्पूर्णानन्द खुद ऐसी किसी प्रणाली में विश्वास करते थे, जिसमें किसान अपने हल के नीचे की भूमि का स्वामी हो (लेकिन भूमि के राष्ट्रीयकरण या उस पर राज्य के स्वामित्व में उनकी आस्था थी)। परिणामतः उन्हें अधिवासियों से (या छोटे किसानों, ज्यादातर शिकमी काश्तकारों या मर्जी पर टिके काश्तकारों से, जो अधिकांशतः पिछड़े वर्गों से सम्बद्ध थे) कोई सहानुभूति नहीं थी, जिसका अर्थ था कि राज्य की कृषिमूलक संरचना में उपेक्षितों का कोई हितचिन्तक अब लखनऊ के सरकारी क्षेत्रों में नहीं रह गया था। अप्रैल 1959 के बाद से उन्हें जबरन या जालसाजी और राजस्व विभाग के अधिकारियों की मिली भगत से बेदखल किया जाने लगा। चकबन्दी की कार्यवाहियों के दौरान, जबकि भूमि पर दावे को चुनौती दी जा सकती थी, इन अधिकारियों को नाजायज पैसा कमाने का अवसर मिल गया। परिणाम यह हुआ कि जोतदारों के मुकाबले श्रमिकों का अनुपात दो वर्षों की अल्प अवधि में ही, यानी अप्रैल 1959 से मार्च 1961 तक, तेजी से बढ़कर 8:100 से 16:100 हो गया।

यहां यह कहा जा सकता है कि ठाकुर हुक्म सिंह मार्च 1967 तक राजस्व मंत्री बने रहे तथा दिसम्बर 1960 में मुख्यमंत्री डॉ० सम्पूर्णानन्द की जगह श्री सी० बी० गुप्त ने ली, जो सितम्बर 1963 तक मुख्यमंत्री बने रहे। उनका स्थान लिया श्रीमती सुचेता कृपलानी ने और मार्च 1967 तक वे उसी पद पर बनी रहीं। इन तेजस्वी हस्तियों में से किसी को भी गांवों की आर्थिक स्थिति की जानकारी नहीं थी, न ही उपेक्षितों के प्रति कोई सहानुभूति थी। दरअसल, जैसा कि पाठक स्वयं आगे चलकर देखेंगे, श्रीमती सुचेता कृपलानी ने जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून के कुछ ऐसे मूल प्रावधानों को निरस्त करना चाहा था, जो उपेक्षित वर्ग के अनुकूल थे।

५

विरोधियों के साथ संघर्ष

कमजोर और असहाय लोगों के हित में राज्य मंत्रिमंडल के अपने ही सहयोगियों के विरुद्ध तथा अपने आपको 'समाजवादी' कहने वालों के विरुद्ध भी, चरण सिंह को जो संघर्ष करना पड़ा था उसका वर्णन संक्षेप में अगले पृष्ठों में किया गया है:

जैसा कि पिछले पृष्ठों में ही उल्लेख किया जा चुका है, जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून के अन्तर्गत सीर के काश्तकारों, साथ ही बिचौलियों की भूमि के रुपये 250 या उससे कम भू–राजस्व चुकाने वाले काश्तकारों और उनके शिकमी काश्तकारों को अधिवासी घोषित किया गया था। उन्हें अपने जमींदारों अर्थात् पूर्व–बिचौलियों या काश्तकार–प्रमुखों को वही रकम चुकानी थी जो वे पहले चुकाते आ रहे थे, तथा पांच वर्ष बीत जाने पर, मगर सरकार द्वारा अधिसूचित समय–सीमा के भीतर वे सर्किल–दर से या काश्तकार–प्रमुख को चुकाये जाने वाले लगान की रकम का 15 गुना भुगतान कर देने पर भूमिधारी का दर्जा हासिल कर सकते थे। मूल क़ानून के अनुसार जिन अधिवासियों के जमींदार पट्टा देते समय और 30 जून 1952 को भी शारीरिक दृष्टि से अपंग थे, उन्हें उसी तारीख (30 जून 1952) से बेदखल किया जा सकता था। फिर भी चरण सिंह की (जो उस समय महज संसदीय सचिव थे) इच्छा के विरुद्ध संशोधित क़ानून के अनुसार शारीरिक अपंगता के शिकार बिचौलियों के अधिवासी जब मर्जी हो बेदखल किए जा सकते थे, उन्हें असामी बना दिया जा सकता था।

अधिवासियों के बारे में एक और महत्त्वपूर्ण प्रावधान था, यानी अनुच्छेद 237 जिसके अन्तर्गत पूर्व–बिचौलिये या काश्तकार–प्रमुख अर्थात सरकार द्वारा अधिसूचित ज़िलों के भूमिधर और सीरदार, जिनके पास कोई सीर या खुदकाश्त भूमि नहीं थी, या जिनके पास आठ एकड़ से कम खुदकाश्त भूमि थी, वे अपने अधिवासियों को क्रमशः आठ एकड़ तक या खुदकाश्त भूमि आठ एकड़ से जितनी कम हो उतनी भूमि से बेदखल करा सकते थे।

फिर भी धीरे–धीरे कांग्रेस पार्टी के एक बहुत ही सीमित क्षेत्र से यह मांग उभरने लगी कि अनुच्छेद 237 के अनुसार अधिसूचना अविलम्ब

जारी की जानी चाहिए। मगर चरण सिंह का अपना प्रस्ताव था कि सभी अधिवासियों को शीघ्र अवसर दिया जाना चाहिए कि वें भूमिधर के दर्जे पर प्रोन्नत हो सकें तथा अनुच्छेद 237 के अन्तर्गत कोई अधिसूचना जारी ही नहीं की जाए।

1953 के शुरुआती महीनों में कांग्रेस ने विधान सभा उपचुनावों में कुछ सीटें गंवा दी थीं। उनमें से तीन उप–चुनाव बहराइच के अन्तर्गत हुए थे और तीन भूतपूर्व जमींदारों या तथाकथित राजाओं द्वारा जीत लिए गए थे। मंत्रिमंडल के एक सदस्य ठाकुर हुक्म सिंह ने, जो उसी ज़िले से आए थे (और अगस्त 1947 से अप्रैल 1953 तक राजस्व मंत्री थे), पंडित पंत को अपने 18–20 अप्रैल 1953 के पत्र में लिखा कि कांग्रेस की पराजय के मुख्य कारणों में अधिवासियों और पटवारियों के सम्बन्ध में कांग्रेस की नीतियां, भविष्य में ज़मीन बटाई पर देने पर लगाई गई रोक और जोतों की चकबन्दी योजना शामिल है। इस पत्र से यही धारणा बनती है कि इसका लेखक वस्तुतः राज्य सरकार की भूमि सुधार के उपायों से सम्बन्धित पूरी नीति से ही नाखुश था। मगर एक महीने बाद ही चरण सिंह को एक पराजित उम्मीदवार श्री भगवान दीन मिश्र का 7 मई 1953 दिनांकित पत्र मिला जो सच को उजागर करता था। श्री मिश्र ने शिकायत की थी कि ज्यादातर ब्राह्मण और ठाकुर, जिनमें से कुछ के पास तो 200 से 4,000 बीघा (एक बीघा 5/8 एकड़ के बराबर) तक ज़मीन थी, अपने उन शिकमी काश्तकारों को बेदखल करने की कोशिश में लगे हुए थे जिनकी बेदखली सरकारी आदेश के तहत रोकी जा चुकी थी। वे शिकमी काश्तकार तथा वे वास्तविक काश्तकार या शिकमी काश्तकार भी जिनके नाम राजस्व रिकार्ड में दर्ज नहीं थे, कांग्रेस से नाराज थे क्योंकि उनका भविष्य अभी तक अनिश्चित था तथा जबरन बेदखली का खतरा उनके सामने था–वास्तविकता यह थी कि उनमें से कुछ को बेदखल किया जा चुका था।

राजस्व मंत्री चरणसिंह ने ये दोनों पत्र मुख्यमंत्री के पास अग्रसारित कर दिए जबकि उन्होंने कांग्रेस की पराजयों के कारण या कारणों पर विचार के लिए 15 जून 1953 को मंत्रिमंडल की एक अनौपचारिक बैठक बुलाई थी। कुछ मंत्रियों ने अपने मूल्यांकन मौखिक रूप से प्रस्तुत किए, मगर डॉ० सम्पूर्णानन्द ने उस बैठक में अपना लिखित नोट प्रस्तुत किया, जिसे नीचे पेश किया जा रहा हैः

मुख्यमंत्री

हाल के उप चुनावों में कांग्रेस को जो गम्भीर पराजय झेलनी पड़ी उसके बारे में, हममें से हरेक की तरह मैं भी सोचता रहा हूं। यह मानना अर्थातिरेक होगा कि हर जगह की घटना के लिए बिलकुल एक ही कारण जिम्मेदार है। खास–खास परिस्थितियां हैं जिन्होंने परिणामों को स्पष्टतः प्रभावित किया है। इलाहाबाद और बदायूं के मामले इस सम्बन्ध में सहज ही दिमाग में आ जाते हैं। आम चुनावों के दौरान आमतौर पर मुसलमानों का जो व्यवहार देखने में आया, वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि कोई उसे नजरअन्दाज नहीं कर सकता। आम मुसलमानों के सवाल को दरकिनार भी करें तो यह एक विवाद रहित तथ्य है कि 1937 से ही हम अंसारी समुदाय को हर तरह से मदद पहुंचाने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। हमने केवल उनके आर्थिक कल्याण के प्रति ही विशेष चिन्ता नहीं दिखाई बल्कि उनकी शिक्षा पर भारी रकम भी खर्च की। इस प्रयास में हद से बाहर जाकर हमने मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था मुस्लिम लीग को विरोधी बना डाला, जिसने हम पर आरोप लगाया कि हम अपने राजनीतिक उद्देश्यों के लिए मुस्लिम समुदाय में फूट डालने की कोशिश कर रहे हैं। और तब भी, अंसारियों ने इलाहाबाद में लगभग एक होकर उस व्यक्ति के पक्ष में कांग्रेस के खिलाफ वोट डाले, जो कभी जाना–माना मुस्लिम समर्थक नहीं रहा। यह एक ऐसा तथ्य है जिसका स्थानीय निकायों और विधान सभा के आगामी चुनावों में बढ़ा–चढ़ाकर महत्त्व दिया जाएगा तथा हमें इस पर पूरा ध्यान देना ही होगा। इसके सभी पहलुओं पर खुली बहस से भागना कर्त्तव्य के प्रति एक बहुत बड़ी चूक होगी।

सवाल के दूसरे पहलू भी हैं जिनकी देहाती क्षेत्रों में ज्यादा प्रासंगिकता है और जो निकट तथा दूर के भविष्य में सार्वजनिक मामलों पर भारी प्रभाव डालने के लिए बाध्य हैं। हमने उस मनोविज्ञान की घोरतम उपेक्षा करते हुए अपना महान प्रयोग शुरू किया है जिसके नियम राजनीतिक पार्टियों की मर्जी पर कतई बदले नहीं जा सकते, उसी तरह जैसे समुद्र की लहरों ने राजा केन्यूट के हुक्म नहीं माने। चीन और रूस की भूमि सुधार योजनाएं थीं, लेकिन उन्होंने उन्हें समाप्त करने की सावधानी बरती जो बेदखल थे। रूस में तो उन्हें एकमुश्त खत्म कर दिया गया। चीन में उसी तरह सुनियोजित ढंग से उन्हें खत्म नहीं किया गया, लेकिन नागरिक सुविधाओं और कुछ हद तक नागरिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया। इसने उन्हें विक्षुब्ध होने की स्थिति में भी आबादी का हानिकारक हिस्सा नहीं रहने दिया। भारत में जमींदारों की आर्थिक क्षति हुई है तथा

प्रतिष्ठा और प्रभाव उन्होंने गँवाया है। उनमें से जिन्हें गांवों में रहना है वे कई मामलों में घोर यातना झेलने के लिए बाध्य हैं, लेकिन हमने उन्हें वोट देने का अधिकार दे रखा है, यानी हमें सत्ता से वंचित कर देने की शक्ति उनके पास है। ऐसा कोई कारण ही नहीं कि वे हमारी शासन सत्ता के विरुद्ध एक वर्ग के रूप में एकजुट न हों। एक अच्छी खासी तादाद उन मध्यवर्गीय काश्तकारों की भी है जो हमारी भूमि सुधार नीति से प्रभावित हुए हैं और सोचते हैं कि ज़मीन और आमदनी का काफी बड़ा हिस्सा छिन जाने का खतरा उनके सिर पर है जिसके उपभोग करने की इजाजत कुछ साल पहले का क़ानून उन्हें देता था। यह हो नहीं सकता कि हमारे और उनके बीच कोई ज्यादा प्रेमभाव रह गया हो। हमें यह जरूर याद रहे कि उनकी संख्या बहुत ज्यादा है और देहातों में आज भी उनका प्रभाव है, उनकी संख्या के लिहाज से ठीक–ठीक जितना होना चाहिए, उसके अनुपात से शायद कहीं ज्यादा। हमने प्राथमिक स्कूलों के शिक्षकों को विरोधी बना लिया है। हम क्यों नहीं उनकी मांगें मंजूर कर सकते, इसकी वजह हमारे नजरिए से पूरी तरह जायज है, लेकिन जैसा कि हम जानते हैं किसी बहस का औचित्य आधार वाक्यों पर निर्भर करता है तथा जो हमारे आधार वाक्यों को स्वीकार नहीं करता–जैसे कि अल्प वेतनभोगी सरकारी कर्मचारी निश्चित रूप से नहीं करते–वह हमारे निष्कर्षो को स्वीकार नहीं करेगा। हमने फिलहाल उनके विरोध को तो खंडित कर दिया लेकिन उनके भीतर पल रहे क्षोभ और गुस्से को दूर नहीं किया है–जो अवसर पाकर कभी भी फूट पड़ने को तैयार है। यह हो सकता है कि पटवारियों को समाज का ऐसा कोई प्रतिष्ठित तबका जुटाने में सफलता नहीं मिले, जो खुले तौर पर उनकी हिमायत करे, लेकिन उनका एक अच्छा खासा समूह है, देहाती स्तर के लिहाज से वे शिक्षित हैं और सामाजिक तथा आर्थिक बंदिशों के चलते एकजुट हैं। उनका अच्छा खासा प्रभाव है, खास तौर से उन समुदायों के सदस्यों पर जिनसे वे आते हैं। अभी हाल ही में चरण सिंह ने गाजियाबाद में कहा था कि उनकी दृष्टि में, दूसरे शब्दों में सरकार की दृष्टि में जो एक लक्ष्य है वह है साहूकारों को समाप्त करना। इसका अर्थ विरोधियों का एक और वर्ग पैदा करना है, जो प्रभावशाली भी काफी है। कुल मिलाकर स्थिति यह है कि व्यवहारतः हमने हर ऐसे वर्ग को अपना विरोधी बना लिया है जिसके पास शिक्षा, सम्पदा व सामाजिक दर्जा है और फलतः जो प्रभावशाली है। प्रसंगवश यहां यह कतई भुलाया नहीं जाना चाहिए कि ये लोग ही शांति और व्यवस्था के संरक्षण में कभी जाहिर तौर पर शक्तिशाली तत्त्व थे।

सवाल का एक और पहलू है जिस पर अवश्य ही विचार किया जाना चाहिए, हालांकि इसका उल्लेख तक करने को प्रतिगामी कदम समझ लिया जा सकता है। विवेकी प्रशासक हर तत्त्व को आत्मपरक और वस्तुपरक परिस्थितियों में रखकर जांचता है, भले ही उसे यह चाहे जितना अरुचिकर लगे। जिन वर्गों का मैंने ऊपर जिक्र किया है वे मोटे तौर पर ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहर, कायस्थ और वैश्य समुदायों से सम्बन्ध रखते हैं। इन जातियों और उपजातियों को आमतौर पर 'ऊंची जातियों' के समूह में रखा जाता है। जो उपाय हमने किए हैं और स्पष्टतः करना चाहते हैं उनमें निश्चित रूप से ऊंची जातियों के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव डालने की प्रवृत्ति है। यहां यह याद रखना जरूरी है कि विगत काल में कांग्रेस आमतौर पर इन्हीं ऊंची जातियों के लोगों से बड़े पैमाने पर समर्थन जुटाती रही है। वे सांस्कृतिक रूप से हमारे नेतृत्व से जुड़े रहे तथा हम वस्तुतः उन्हीं के कंधों पर सत्ता तक पहुंचे हैं।

अब हम देखें कि दूसरी तरफ हमारे लाभ क्या हैं? अनुमानतः हमारे सार्वजनिक क़ानूनों ने भूमिहीनों और बहुत ही कम जोत रखने वालों को लाभ पहुंचाया है। ऐसे लोगों में जो भारी संख्या में हैं मोटे तौर पर पिछड़े वर्गों के हैं। सदियों के क्षोभ और दमित भावनाओं की उत्तेजना ने उन्हें औरों से अलग–थलग कर रखा है। शोषित संघ जैसे संगठन के नेतृत्व द्वारा वे सक्रिय होते रहे हैं और जबर्दस्त कांग्रेसी नेतृत्व के प्रति अविश्वास की भावना उनमें घर किए हुए है। हम उन्हें चाहे जो भी सहूलियतें प्रदान करें, वे सामुदायिक तौर पर हमारे शिविर में आने वाले नहीं। पूरी सम्भावना है कि इलाहाबाद में अंसारियों के साथ जो हमारा अनुभव रहा, उसी की पुनरावृत्ति उनके साथ हो। जिस प्रकार का नेतृत्व आसानी से उन तक पहुंच सकता है, उनका प्रतिनिधित्व प्रजा समाजवादी पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी जैसे दल करते हैं।

इसका यह अर्थ नहीं कि स्थिति निराशाजनक है। इसमें सिर्फ यही अर्थ निकलता है कि हमें एक स्पष्ट निर्णय लेना है। स्थिति को हाथ से जाने देना न केवल उपचुनावों में पराजय को आमंत्रण देना और फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्र में प्रभाव खो देना है, बल्कि अनियोजित क्रांति को खुला छोड़ देना है जो पूरे सामाजिक ढांचे को ही उड़ा ले जाएगी। जातियों और वर्गो के बीच असली खूनी लड़ाई ठन जाएगी और अब तक हमने जो कुछ हासिल किया है, उसका बहुत सारा भाग यों ही नष्ट हो जाएगा। मैं कह नहीं सकता कि उस विध्वंस के बाद चीजें किस शक्ल में होंगी। अतः हम जुझारू शक्तियों को विकास की धाराओं में लगाने का पक्का

इरादा बना लें। पिछड़े वर्गों के उत्थान का काम रुक नहीं सकता। उन्हें मदद मिलनी है। वैसे लोगों के साथ सांस्कृतिक और बौद्धिक समानता हासिल करने में, जो अब तक इन सुविधाओं का उपयोग करते रहे हैं और फिर अवश्य ही उनकी आर्थिक स्थिति के विकास के उचित अवसर भी जुटाये जाने हैं। लेकिन इसके साथ ही, उच्च वर्गों को लुभाने का खेल भी जरूर खत्म होना है। हमें किसी भी तरह उनका विश्वास फिर से जीतना है। अगर लेनिन के नेतृत्व में सोवियत लोग एन० ई० पी० को अपना सकते थे, तो कोई कारण नहीं कि हमारा नेतृत्व वर्ग उसी गरिमा से इस काम को अंजाम नहीं दे सके।

मैं इस टिप्पणी के साथ सुझाव नहीं पेश कर रहा हूं कि क्या–क्या कदम उठाये जाने चाहिए, लेकिन अगर स्थिति के मेरे पिछले विश्लेषण को सारतः सही समझ कर स्वीकार किया गया तथा पिछले पैराग्राफ के अन्त में सुझाये गए सिद्धांतों को अपनाया गया, तो उन्हें प्रयोग में लाने के लिए आवश्यक उपाय ढूंढ निकालना हमारे लिए सम्भव होना चाहिए। नेक इरादे रखने वाली कोई सरकार ज्यादा समय तक चल नहीं सकती अगर वह ऐसी नीतियां अपनाती है, जो नये मित्र दिए बगैर पुराने मित्रों को दूर कर देती है।

हस्ताक्षर
(सम्पूर्णानन्द)

जैसा कि पाठक लक्ष्य कर ही चुके होंगे, ऊपर की टिप्पणी में बल इस बात–पर है कि यद्यपि कांग्रेस का निर्माण ऊंची जातियों ने ही किया था लेकिन कांग्रेसी सरकार के भूमि सुधार उपायों ने उन्हें कांग्रेस से विमुख कर दिया और केवल पिछड़े वर्गों के हितों को आगे बढ़ाया जो डॉ० सम्पूर्णानन्द की राय में, आज नहीं तो कल सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट पार्टियों में चले जाएंगे। इस तरह का रवैया एक ऐसे वरिष्ठ कांग्रेसी नेता का था जो अपने समाजवादी रुझानों के लिए मशहूर थे। पाठक आगे यह भी लक्ष्य करेंगे कि डॉ० सम्पूर्णानन्द की राय में सारी मुसीबत की जड़ चरण सिंह थे, जिनका उनके द्वारा गिनाये गए तीन उपायों में सीधा और चौथे में यानी प्राथमिक स्कूलों के शिक्षकों की हड़ताल की वापसी में अप्रत्यक्ष हाथ था। जिन शिक्षकों के सामूहिक इस्तीफे एक साथ मंजूर कर लिए गए थे, उन्हें जब लगा कि उनकी हालत भी पटवारियों जैसी ही होने वाली है, तो उन्होंने अपनी हड़ताल वापस ले ली।

मई या जून 1953 में राज्य सरकार ने जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून को समुचित संशोधनों के साथ पुराने बनारस राज्य में भी

आगामी पहली जुलाई से लागू करने का निश्चय किया। क्षेत्र के कांग्रेसी विधायक, ठाकुर वंशनारायण सिंह और श्री गणेश राम यादव ने, जो कभी अच्छे कांग्रेसी थे लेकिन 1952 के आम चुनाव में कांग्रेस विरोधी उम्मीदवार के रूप में खड़े हो गए थे और अब फिर से कांग्रेस में शामिल होना चाहते थे, चरण सिंह को पूर्व बनारस राज्य में स्थित भदोही की सार्वजनिक सभा में भाषण के लिए आमंत्रित किया, जो भूमि सुधार लागू होने के उपलक्ष्य में उसी तारीख को आयोजित की गई थी। मगर बनारस (अब वाराणसी) की ज़िला कांग्रेस कमेटी का नेतृत्व उन दिनों, जैसा कि पूर्ववर्ती पृष्ठों में पाठकों ने लक्ष्य किया ही होगा, ऐसे व्यक्तियों के हाथ में था, जो अधिवासियों को कोई अधिकार देने तथा भविष्य में भूमि को पट्टे पर देने के मामले में रोक लगाने के खिलाफ थे। इसलिए उन्होंने बाबू सम्पूर्णानन्द और मंत्रिमंडल के सदस्य श्री कमलापति त्रिपाठी से यह सुनिश्चित करने के लिए कहा कि भदोही की प्रस्तावित सभा में चरण सिंह—प्रत्यक्षतः इस आधार पर कि गैर—कांग्रेसी के आमंत्रण पर वे भदोही जा रहे थे—भाग न लें, जो एक जुलाई 1953 को क्षेत्र में जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून लागू होने के सिलसिले में होने वाली थी। श्री कमलापति त्रिपाठी ने, जो बनारस के निवासी थे, चरण सिंह को इस सम्बन्ध में एक पत्र लिखा जिसका उचित उत्तर उन्होंने दे दिया। श्री त्रिपाठी को दिए गए अपने उत्तर की प्रतिलिपि के साथ उन्होंने उसी समय एक नोट मुख्यमंत्री पंडित गोविन्द बल्लभ पंत के पास भी भेजा। पंतजी ने उन्हें अपना वचन पूरा करने और उस सभा को सम्बोधित करने के लिए कह दिया जैसा कि उन्होंने किया। सप्ताह भर या कुछ और बाद ज़िला कांग्रेस कमेटी ने चरण सिंह की निन्दा करते हुए एक प्रस्ताव पारित किया और प्रदेश कांग्रेस कमेटी से उनके खिलाफ अनुशासन की कार्रवाई करने के लिए कहा।

उनके प्रति वाराणसी के कांग्रेसियों के रवैये का एक और उदाहरण 17 मई 1953 को वाराणसी से शुरू होता है। चरण सिंह सभी डिवीजनों की सार्वजनिक सभा को सम्बोधित करने वाले थे जिसमें ग्राम पंचायतों के प्रतिनिधियों, राजस्व विभाग के अधीनस्थ कर्मचारियों और कांग्रेस कार्यकर्ताओं को आमंत्रित किया गया था। उसका मुख्य उद्देश्य भूमि प्रबन्धन कमेटी के कर्त्तव्यों और अधिकारों से उन्हें परिचित करना था। मगर ज़िला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष पंडित श्यामधर मिश्र द्वारा प्रेरित किए जाने पर वाराणसी के प्रमुख कांग्रेस जनों ने 17 मई 1953 को ज़िला मुख्यालयों में आयोजित सभाओं में न तो भाग लिया, न ही उनमें रुचि दिखाई।

अधिवासियों के बारे में पहले कही गई बातों को दृष्टि में रखते हुए मुख्यमंत्री पंडित गोविन्द बल्लभ पंत ने चरण सिंह से अधिवासियों की

समस्या पर एक नोट तैयार करने के लिए कहा। चरण सिंह ने बाद में विस्तृत वांछित नोट तैयार किया और 7 अगस्त 1953 को पंतजी के पास भेज दिया। 'अधिवासियों की समस्या' शीर्षक वाला यह लम्बा नोट यहां संक्षिप्त फार्वार्डिंग नोट सहित प्रस्तुत है, बीच के गौण अंश और अंक तालिकाओं को छोड़ दिया गया है:

गोपनीय

मुख्यमंत्री

जैसा कि मेरा वादा था, अधिवासियों की समस्या तथा जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून के तहत अधिसूचना जारी की जाने के औचित्य या अनौचित्य पर एक नोट मैंने तैयार किया है। मुख्यमंत्री का सुझाव था कि कुछ जगहों पर छुटपुट ढंग से सर्वेक्षण किया जाए, यह जानने के लिए कि अगर अधिसूचना जारी की गई तो कितने अधिवासी प्रभावित होंगे, जितना भूक्षेत्र उनके पास है, उन भूमिधरों और सीरदारों (पहले के जमींदारों और प्रमुख काश्तकारों) के जीवन–निर्वाह के वर्तमान साधन कौन से हैं जो अनुच्छेद के अन्तर्गत आवेदन करने के अधिकारी होंगे, आदि। इस तरह का सर्वेक्षण मुझे आसान नहीं लगता, न ही शायद इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक कर्मचारी उपलब्ध होंगे। फिर जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार रिपोर्ट के दूसरे खण्ड में कुछ आंकड़े दिए जा चुके हैं जो समस्या के आयामों की अच्छी खासी जानकारी देते हैं।

मैं इस नोट की प्रतिलिपि मंत्रिमंडल के कुछ ऐसे सदस्यों के पास भेजना चाहता था जो मेरी समझ से या तो अधिसूचना जारी करने के पक्ष में हैं या अभी तक इसके बारे में अपनी राय पक्की नहीं कर पाए हैं। लेकिन यह नोट अनजाने में कहीं गलत हाथों में न पड़ जाए, इसलिए मैंने वह विचार छोड़ दिया।

अनेक धन्यवाद।

हस्ताक्षर,
(चरण सिंह)
7 अगस्त 1953

६

अधिवासियों की समस्या पर टिप्पणी

जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून के तहत सीर के काश्तकार और उन बिचौलियों की ज़मीन के दखलकार, जो 250 रुपये या उससे कम भू–राजस्व के रूप में भुगतान करते थे तथा शिकमी काश्तकार भी अधिवासी घोषित किए जा चुके थे। वे जमींदारों यानी पूर्व–बिचौलियों या काश्तकार–प्रमुखों को वही रकम अदा करते रहे थे तथा पांच साल बीतने पर, मगर सरकार द्वारा अधिसूचित समय सीमा के भीतर वे सर्किल दर या उस लगान का 15 गुना भुगतान कर देने पर भूमिधारी का दर्जा हासिल करने के हकदार हो जाएंगे, जिसका भुगतान अधिवासी के रूप में वे अपने काश्तकार–प्रमुख को करने के लिए बाध्य थे। मूल क़ानून के अनुसार वे अधिवासी बेदखल किए जा सकते थे जिनके जमींदार पट्टे पर ज़मीन देते समय और 30 जून 1952 को भी विकलांग व्यक्ति थे, लेकिन पूर्वोक्त तारीख के बाद पांच साल की अवधि बीत जाने पर ही ऐसा हो सकता था। फिर भी संशोधित क़ानून अब विकलांग व्यक्तियों के अधिवासियों को बेदखली के योग्य करार देता है अर्थात् इसने उन्हें असामी बना दिया है।

अधिवासियों के बारे में एक और महत्त्वपूर्ण प्रावधान है अनुच्छेद 237, जिसके अन्तर्गत भूतपूर्व बिचौलिये या काश्तकार–प्रमुख यानी सरकार द्वारा अधिसूचित ज़िलों के वे भूमिधर और सीरदार जिनके पास सीर या खुदकाश्त की कोई ज़मीन नहीं, या जिनकी खुदकाश्त की ज़मीन का रकबा आठ एकड़ से कम है, वे आठ एकड़ तक या अगर कोई खुदकाश्त ज़मीन आठ एकड़ से जितना कम पड़ती है, उतनी ज़मीन से अपने अधिवासियों को बेदखल करा सकते हैं।

एक मांग अब यह भी की जा रही है, हालांकि यह सचमुच ही कांग्रेस पार्टी के एक सीमित तबके से उठी है, कि अनुच्छेद 237 को ध्यान में रखते हुए एक अधिसूचना जारी की जानी चाहिए। इसके विपरीत मेरे प्रस्ताव हैं कि सभी अधिवासियों को अभी भी भूमिधारी की हैसियत पर प्रोन्नत होने का अवसर दिया जाना चाहिए तथा अनुच्छेद 237 के तहत अधिसूचना तो जारी की ही नहीं जाए।

जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून ने आदमी और आदमी के

बीच के मनोवैज्ञानिक और वैयक्तिक सम्बन्धों के क्षेत्र में जबरदस्त क्रांति उपस्थित कर दी है। हमारे भूमि सुधारों के इस पहलू और अन्य पहलुओं पर बहुत कुछ कहा जा सकता है तथा उनकी दूरगामी प्रकृति पर हम अवश्य ही गर्व कर सकते हैं। आज कुल कृषि भूमि मोटे तौर पर 40 प्रतिशत भूमिधारी और 60 प्रतिशत सीरदारी काश्तकारी के अन्तर्गत है। यह क़ानून हालांकि सीरदारों के जीवन में कोई ठोस आर्थिक परिवर्तन नहीं ला पाया है (क्योंकि राज्य को वें अब वही लगान चुका रहे हैं जो पहले जमींदारों को चुकाते थे), फिर भी जमींदारी प्रथा के उन्मूलन का मतलब उनके लिए एक महान सामाजिक परिवर्तन है तथा अब वे सिर उठाकर चल सकते हैं। लेकिन जहां तक हमारे किसानों के अपेक्षाकृत कमजोर और गरीब तबके का सम्बन्ध है, बदलाव बिल्कुल भी नहीं आया है—यहां तक कि वैयक्तिक सम्बन्धों में भी कोई बदलाव नहीं आया है। अधिवासी न केवल वही लगान चुका रहे हैं, जो कि औसतन सीरदारों द्वारा देय लगान के दोगुने से ज्यादा है, बल्कि पहले की तरह उन्हीं लोगों को चुका रहे हैं; वे आज भी असामी ही हैं तथा उनका भविष्य अनिश्चित है। उनके लिए जमींदारी प्रथा गई ही नहीं; उन्हें कोई आर्थिक सुरक्षा नहीं मिली। उन्हें ऐसी कोई ज्यादा उम्मीद नहीं कि उसे मन में संजोएं, क्योंकि अनुच्छेद 237 की तलवार उन पर लटक रही है तथा कोई नहीं जानता कि वह कब और कहां गिरेगी। हमारे राजनीतिक विरोधियों ने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि हमारे विरोधी क्या सोचते और क्या कहते हैं, लेकिन जिस बात ने मुझे चौंकाया वह यह जानकारी है कि हमारे अपने क्षेत्रों में भी अनुच्छेद 237 के अन्तर्गत अधिसूचना जारी करने के प्रस्ताव पर गम्भीरता से सोचा जा रहा है।

पिछले दिनों मैं पूर्ववर्ती बनारस राज्य में जमींदारी उन्मूलन पर आयोजित सभा को सम्बोधित करने के लिए भदोही गया था, जहां श्रोताओं को यह समझा पाने में मुझे काफी कठिनाई हुई कि जमींदारी उन्मूलन का मतलब उनके लिए कोई बेहतर बदलाव है। ऐसा इसलिए कि खुदकाश्त वाले मंजूरीदारों और अन्य बिचौलियों के पास चूंकि निश्चित दर (41 प्रतिशत) और दखली काश्तकारी (41 प्रतिशत) की कुल 82 प्रतिशत जोत भूमि है, इसलिए वे स्वतः भूमिधारी का दर्जा प्राप्त कर लेंगे। अगर कुछ होगा तो यही कि काश्तकारी जोत वाले किसानों के अधिकारों में कमी आएगी। और जब तक अनुच्छेद 237 मौजूद है, उन गरीब किसानों के सामने, जो मातहती काश्तकारी की कुल 21 प्रतिशत भूमि पर खेती करते हैं अर्थात् अधिवासी हैं, मैं यह घोषणा नहीं कर सकता कि उपभोग का

पक्का अधिकार उन्हें दे दिया गया है तथा अब बेदखली से आशंकित होने की जरूरत नहीं है।

अनुच्छेद 237 के अन्तर्गत अधिसूचना जारी करने के पक्ष में तर्क कुछ इस तरह दिए जाते हैं:

कि वैसे भूमिधरों और सीरदारों को संभलने और अपनी उस ज़मीन को जोतने का एक अवसर दिया जाना चाहिए, जो उन्हें पट्टे पर तब मिली थी जबकि क़ानून उसकी अनुमति देता था, कम से कम आठ एकड़ तक ही सही; कि ज़मीन रखने का उन्हें ज्यादा अधिकार है; कि तथाकथित शिकमी काश्तकार वस्तुतः उनके मजदूर या हलवाहे थे तथा वह ज़मीन उन्हें अपने पास रखने की छूट नहीं होनी चाहिए, जो मजदूरी के एवज में उन्हें दी गई थी।

अब, आखिरी तर्क से निपटने के लिए तो आंकड़े ही उपलब्ध नहीं, बल्कि ऐसा प्रतीत होगा कि खेत में मजदूरी के एवज में ज़मीन रखने वाले शिकमी काश्तकारों के रूप में ज्यादा लोग दर्ज ही नहीं किए गए। खतौनी के पहले भाग में बिचौलियों से किसी सेवा के एवज में ज़मीन पाने वाले जिन लोगों के नाम दर्ज हैं, उनकी संख्या कोई बड़ी नहीं है। उन्हें सीरदार घोषित किया जा चुका है, इसलिए उनकी बेदखली का सवाल ही नहीं उठता। फिर, जो प्रासंगिक और ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि अगर किसी का 'हलवाहा' शिकमी काश्तकार के रूप में दर्ज है तो इसका मतलब है कि काश्तकार–प्रमुख या सीरदार वास्तव में खेती कर रहे थे और जोत के तकरीबन 90 प्रतिशत पर अपना दखल जमाए हुए थे। यह लगभग बेतुका है कि किसी गरीब आदमी से ज़मीन का एक छोटा टुकड़ा उस आदमी को देने के लिए ले लिया जाए जिसके पास कम से कम नौ गुना अधिक ज़मीन पहले से ही है।

ज़मीन अपने पास रखने या वापस लेने के दो व्यक्तियों के आपेक्षिक अधिकारों के बारे में मेरा उत्तर यह है कि भूमि प्रकृति की देन है और जो आदमी इसका समुचित उपयोग कर रहा है, उसे उस व्यक्ति की तुलना में ज़मीन अपने पास रखने का अधिकारी पहले होना चाहिए जिसने उसका सही उपयोग उस समय नहीं किया जब वह कर सकता था, बल्कि किसी और आदमी को पट्टे पर देने के बजाए उसके श्रम का शोषण करना ही पसन्द किया।

इस तर्क के बारे में कि भूतपूर्व बिचौलियों और काश्तकार–प्रमुखों को, जो जमींदारी उन्मूलन से पहले खुद खेती नहीं करते थे, अब अपनी ज़मीन वापस लेने का एक अवसर मिलना चाहिए ताकि लाभकारी जोत वे बना सकें। मेरा निवेदन है कि, चूंकि 20 या 30 एकड़ जोत भूमि रखने

वाले (8 एकड़, 6.25 एकड़ या उसने कम भूमि वाले तो काफी कम हुए) भी अगर अपनी सारी जोत पट्टे पर लगा देते तो लगान से गुजारा नहीं कर सकते थे। ऐसे भूमिधरों और सीरदारों के (यानी भूतपूर्व जमींदारों या काश्तकार–प्रमुखों के) पास आज खुदकाश्त की अपनी ज़मीन नहीं। लगान से अपनी पर्याप्त आमदनी सुनिश्चित करने के लिए या तो वे विशाल क्षेत्र के स्वामी बने, ऐसे मामलों में उन्हें मुआवज़ा काफी मिलेगा, या अगर महज छोटा–सा ही क्षेत्र उनके पास था, तो आमदनी के अन्य स्रोत उन्होंने जुटा लिए जिन्हें खेती की अपेक्षा कम श्रम–साध्य और ज्यादा लाभकारी समझा तथा प्राथमिकता दी। क्या ज़मीन उसे दें जो या तो मुआवज़े के रूप में भारी रकम पाएगा या पहले से रोजगार में लगा है। यानी उसे आमदनी या रोजगार का एक और जरिया दे दें–ऐसे आदमी को धकियाते और रोजगार से वंचित करते हुए जिसे समान रूप से हमारी चिन्ता का पात्र होना चाहिए? फिर, चूंकि अधिवासियों की जोतें औसतन एक एकड़ से भी कम हैं, इसलिए हमें एक की खातिर नौ अपेक्षाकृत गरीबतर लोगों को बेदखल करना पड़ेगा–उस एक की खातिर, हमें याद रहे, जिसके धनुष में दूसरा तीर भी है।

प्रत्युत्तर में यह कहा गया है कि अधिवासियों को चुकाए जाने वाले लगान बनारस डिवीजन में खासतौर से ज्यादा हैं, यहां तक कि पचास, अस्सी या सौ रुपये प्रति एकड़। इसका अर्थ यह निकला कि छोटे–छोटे पट्टादाता अब तक सिर्फ लगान पर गुजारा कर सके या करते रहे हैं। इसके अपवाद इने–गिने हो सकते हैं, लेकिन सामान्यतः नहीं। मैंने अधिवासियों को प्रति एकड़ देय लगान की दरों के बारे में कमिश्नरी के तथा आजमगढ़ के भी ज़िला मजिस्ट्रेटों से पूछताछ की थी। फसली 1359 से सम्बन्धित आंकड़े निम्न प्रकार हैं:

जौनपुर	13.00 रु.
गाजीपुर	9/8 रु.
बनारस	19/9 रु.
बलिया	10.00 रु.
आजमगढ़	8.00 रु.

हम अवश्य ही याद करें कि 1939 के काश्तकारी क़ानून के तहत काश्तकारों को जमींदारों की ज़मीनों में पुश्तैनी अधिकार प्राप्त थे, यह गौर किए बिना कि उनके (जमींदारों के) पास खुदकाश्त की ज़मीनें थीं या नहीं तथा वे शारीरिक दृष्टि से सक्षम या अक्षम थे। ऐसे अधिकार

उन खुदकाश्त ज़मीनों में भी प्राप्त थे जो या तो सीर का स्वरूप नहीं रखती थीं, या रखती भी थीं तो ऐसे स्वामी की सम्पत्ति थीं जो 250 रुपये से ज्यादा भू–राजस्व प्रतिवर्ष चुकाया करते थे। जमींदार अपनी निजी खेती के लिए उन काश्तकारों को बेदखल नहीं कर सकते थे। फिर भी यह सच है कि जो जमींदार भू–राजस्व के रूप में 250 रुपये से कम रकम चुकाते थे, उनकी सीर ज़मीन के काश्तकारों को पुश्तैनी अधिकार प्राप्त नहीं थे। लेकिन 'सीर' जो एक संस्कृत शब्द है, का अर्थ 'हल' है, इसलिए 'सीर भूमि' का अर्थ वह भूमि है जो भूस्वामी की वास्तविक खेती के अन्तर्गत आती है। अतः जिस भूमि पर वास्तव में खेती नहीं की जा रही है, उसमें सीर अधिकारों को फर्जी और क़ानूनन अमान्य करार दिया जाना चाहिए–यह ख्याल किए बिना कि उस भूमि का क्षेत्रफल या भूस्वामी द्वारा चुकाया जाने वाला भू–राजस्व कितना है। जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून ने वास्तव में यही किया है, विकलांग सीर धारकों की भूमि को अलग रखते हुए, जिनको रैयतों की मर्जी पर बेदखली के योग्य ठहराया गया है।

अब अगर अधिवासियों को बेदखल होने की बात उठती है, क्योंकि जिनसे उन्होंने ज़मीन ली, उनके पास खुदकाश्त में सीर ज़मीन निश्चित रकबे से कम है या बिल्कुल नहीं है, तो वही तर्क उन बिचौलियों के सीरदारों की बेदखली के पक्ष में दिया जा सकता है जिनके पास कभी कोई सीर नहीं थी या जिन्होंने किसी ज़मीन पर खेती की ही नहीं, लेकिन अब वैसा करना चाहते हैं। अगर इस स्थिति को स्वीकार किया जाता है और अनुच्छेद 237 के तहत अधिसूचना जारी की जाती है तो जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून को फिर से नया रूप देना पड़ेगा और परिणाम घोर अनर्थकारी होंगे।

जहां तक काश्तकार–प्रमुख द्वारा अधिवासियों की बेदखली के दावे की बात है, उनका मामला अभी भी कमजोर है। उन्होंने खुद खेती करने के लिए भूस्वामी से ज़मीन ली थी। वैसा करने के बदले वे शोषक बन बैठे। शारीरिक दृष्टि से सक्षम ऐसे काश्तकारों को भूमि वापस किए जाने के पक्ष में एक भी तर्क नहीं है, जिन्होंने खुद जितना लगान चुकाते थे, उससे ज्यादा रकम उगाहने के लिए अपनी जोतें समाज के कम खुशनसीब सदस्यों को पट्टे पर दे दीं।

इस सम्बन्ध में यह याद किया जाना महत्त्वपूर्ण है कि सभी अधिवासियों की बेदखली, कुछ महीनों और राज्य के कुछ हिस्सों को छोड़कर पिछले सात वर्षों से, यानी 1946 में जब पिछले कांग्रेस मंत्रिमंडल ने कार्य भार संभाला था तभी से, रुकी हुई है। यह 1937–39 के प्रथम कांग्रेस

मंत्रिमंडल के पूरे कार्यकाल में भी स्थगित थी तथा 1940–44 के दौरान अवध में शिकमी काश्तकारों की बेदखली का स्थगन जारी रहा। अतः 1938 से लगातार अपनाई जा रही हमारी नीतियों के चलते वे यह उम्मीद पालने लगे हैं कि उन्हें बेदखल नहीं होना पड़ेगा। क्या वह उम्मीद अंततः धूल में मिला दी जाए?

आचार्य विनोबा के आंदोलन को कांग्रेस कार्य समिति और देशभर की कांग्रेस सरकारों का समर्थन प्राप्त है। इसका उद्देश्य उन्हें भूमि दिलाना है जो आज भूमिहीन हैं। जबकि अगर अधिसूचना जारी की जाती है तो वह उन लोगों को भूमिहीन बना देगी जिनके पास आज भूमि है। सचमुच यह एक विडम्बना होगी तथा शोषितों के प्रति सहानुभूति और उन आदर्शों के प्रति निष्ठा की हमारी घोषणाओं पर एक अजीब टिप्पणी होगी जिनके लिए आचार्य विनोबा जी आज खड़े हैं।

फिर, यही कोई आठ महीने पहले हमने महज उनके अधिकारों को मान्यता देने के लिए जो सिर्फ अधिवासी की श्रेणी में आते हैं, भूमि सुधार (पूरक) क़ानून बनाया। अनुच्छेद 237 के तहत अधिसूचना का अर्थ होगा कि महज कुछ सप्ताह या महीने पहले दाहिने हाथ से जो दिया उसे बाएं हाथ से ले लिया। कांग्रेस अब तक जिन बातों के लिए जूझती रही है उन सबका यह मजाक होगा।

आश्चर्य होता है यह देखकर कि हमारे कुछ दोस्त अधिवासियों के बारे में अपनाई गई नीति को कांग्रेस की बढ़ती अलोकप्रियता का एक कारण मानते हैं जैसा कि हाल के विधान सभा उपचुनावों में एक के बाद एक हमारे उम्मीदवारों की हारों से आभासित हुआ। फिर भी वास्तविकता यह है कि जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून द्वारा शिकमी काश्तकारों को दिए जाने वाले अधिकारों का सवाल तो मुद्दे में कहीं था ही नहीं। अलीगढ़ या इलाहाबाद जैसे शहरों या बदायूं के अर्ध–शहरी निर्वाचन क्षेत्र में इसे उठाया जाना सम्भव नहीं था। इसके विपरीत देवरियां में हमारे विरोधियों द्वारा हमें प्रतिगामी करार देने के इरादे से नारे उछाले गए थे क्योंकि भूमि किसानों के बीच समान रूप से बांटी या भूमिहीनों को दी नहीं गई थी। बहराइच में हमारे भूमि सुधारों को पराजय के आधा दर्जन कारणों में से एक के रूप में गिनाया गया क्योंकि कहा गया कि शिकमी काश्तकारों (अधिवासियों) को अधिकार प्रदान किए जाने से काश्तकार–प्रमुख विरोधी बन गए और शिकमी काश्तकार इसलिए विमुख हो गए कि जोर–जर्बदस्ती से उनके वे अधिकार छीने जा रहे थे (मुझे यह बताने की जरूरत नहीं कि क्यों), जो क़ानून के तहत उन्हें दिए गए थे। सीतापुर में कुल मिलाकर यह जोतों की चकबंदी का क़ानून था जो

एक मुद्दा था और अधिवासियों का सवाल तो जिक्र में बिल्कुल आया ही नहीं। यह मान लेने पर कि सीरदारों और भूमिधरों में अपने अधिवासियों को बेदखल करने का अधिकार न मिलने के कारण हमारे खिलाफ वोट दिए, हमें महज इसी कारण से बहुत से अधिवासियों के वोट मिलने चाहिए थे, क्योंकि हर सीरदार और भूमिधर के वोट हमारे खिलाफ गए थे। यह भी भुला दिया जाता है कि ऐसे सीरदार और भूमिधर जिनकी ज़मीनों पर कोई अधिवासी नहीं है, वे संख्या में उनसे कई गुना ज्यादा हैं जिनकी ज़मीनों पर अधिवासी हैं। (क्योंकि खतौनी के खण्ड–1 में दर्ज व्यक्तियों की संख्या 2,15,57,000 है जबकि खतौनी के खण्ड–2 में जो दर्ज हैं, उनकी संख्या सिर्फ 41,21,003 है।) यह सवाल कि क्यों इन लोगों ने हमें वोट नहीं दिए, जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून के आलोचकों द्वारा अनुत्तरित हैं।

हो सकता है देवरियां और बहराइच में कुछ अधिवासियों ने भी हमारे खिलाफ वोट दिए। लेकिन सवाल यह है कि अगर उन्होंने वैसा किया तो क्या शिकायत का हमें ज्यादा अधिकार है? यह कहना फिर से दुहराना होगा कि वे उन्हीं पुराने जमींदारों और काश्तकार–प्रमुखों को वही लगान चुकाते हैं क्योंकि बेदखली का भय आज भी उन्हें बहुत ज्यादा है। उनके लिए जमींदारी उन्मूलन की घण्टी अभी तक नहीं बजी है। यही नहीं, उनमें से बहुतेरे लोग राज्य में जमींदारी उन्मूलन के लिए निश्चित रूप से और भी बुरी स्थिति में हैं। अब जबकि काश्तकारों के विभिन्न वर्गों के अधिकारों को स्थायी आधार पर वैध बनाया जा रहा है, तो जिन अधिवासियों के नाम राजस्व के कागजात में दर्ज नहीं, उनकी बात तो दरकिनार, जिनके दर्ज हैं, उनके भी एक अच्छे खासे प्रतिशत को बल प्रयोग द्वारा उनकी जोतों से बाहर कर दिया है और जो लोग आज भूमिहीन बना दिए जाएंगे, वे हमेशा के लिए वैसे ही रहेंगे, क्योंकि भविष्य में पट्टा देने पर रोक लगा दी गयी है और वजह ठीक ही है।

तो फिर इसमें अचरज नहीं कि कांग्रेस सरकार के प्रति कृतज्ञ रहने या जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून को लेकर उत्साहित होने की वे कोई वह नहीं देखते।

अनुच्छेद 237 के तहत अधिसूचना जारी करने की ही मांग केवल नहीं है, बल्कि अधिवासियों के पक्ष में प्रविष्टियों को दुरुस्त करने की सुनिश्चितता के लिए बनाया गया भूमि सुधार (पूरक) क़ानून भी जिस ढंग से आलोचना की गिरफ्त में आया है, उसने मुझे कठघरे में खड़ा अभियुक्त जैसा बना दिया है या मुझे वैसा महसूस करा दिया है। फिर भी मुझे जिस बात ने दुःखी किया है, वह यह तथ्य है कि इस ओर इससे सम्बद्ध

सवालों पर बहसों के दौरान जो विचार व्यक्त किए गए, वे उस वातावरण के लिए बिल्कुल बेमेल थे, जिसमें कांग्रेस कर्मी पिछले साढ़े तीन दशक से सांस लेते और काम करते रहे हैं। समाज के खास–खास वर्गों और तबकों का उल्लेख किया गया है, बिना यह सोचे–समझे कि हम समग्र जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह भुला दिया गया है कि हम लोग तेजी से बदलते गतिशील युग में रह रहे हैं। जहां तक भूमि से सम्बन्धित मोर्चे का–और यह सबसे महत्त्वपूर्ण मोर्चा है–सवाल है, उत्तर प्रदेश में पहल का सूत्र अभी तक हमारे हाथों में है। इस बात को हमारे पुराने शत्रु भी अपनी आपसी बातचीत में स्वीकार करते हैं। जैसे ही पहल का यह सूत्र दूसरों के हाथों में जाएगा, कांग्रेस विगत की वस्तु हो जाएगी और इतिहास के कबाड़ के ढेर में फेंक दी जाएगी, जैसा कि बहुत से संगठनों के साथ अतीत में हुआ है।

जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून एक क्रांतिकारी उपाय था लेकिन कम से कम आरम्भिक अवस्था में इसके कार्यान्वयन को सुनिश्चित करने के लिए कांग्रेस कर्मियों द्वारा सकारात्मक रूप से कुछ किए जाने की जरूरत नहीं पड़ी। फिर भी भूमि सुधार (पूरक) क़ानून विस्तृत सम्भावनाओं से भरा कदम था, जिसका पूरा लाभ उठाने के लिए सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के सक्रिय सहयोग की आवश्यकता थी। लेकिन कांग्रेस कर्मी सोते रहे या कुछ जगहों में अपने बहुवार्षिक चुनाव लड़ते रहे, परिणामतः हमारे वे विरोधी, जिन्होंने गरीब कृषक समुदाय से सम्पर्क साध लिया था, उनका नेतृत्व करने लगे। अगली कतार के हमारे कुछ नेताओं ने कांग्रेस से ऐसे तत्त्वों को, जो जनता की जरूरतों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करते, निकाल बाहर करने या स्थानीय कांग्रेस कार्यकर्ताओं को क्रियाशील बनाने के बदले मुड़कर अपना सारा रोष मुझ पर उतार दिया। मैंने प्रशंसा की उम्मीद नहीं की थी, लेकिन अकल्पनीय ढंग से भी मैंने उस निन्दा की अपेक्षा नहीं की थी, जिसका मुझे सामना करना पड़ा था। ऐसा लगेगा कि हममें से कुछ लोग हमारे प्रगतिशील उपायों पर, जिनमें व्यापक रूप से स्वीकृत जोतों की चकबन्दी का क़ानून भी शामिल है, दुबारा सोचने लगे हैं तथा अपने कदमों को पीछे लौटाने के लिए उत्सुक हैं, यह अनुभव किए बिना कि हमें अपने राजनीतिक शत्रुओं को कोई मौका नहीं देना चाहिए, और यह कि अगर हमारा गैर–सरकारी संगठन निष्क्रिय हो जाता है तथा उत्साह गंवा बैठता है, तो नीतियों में संशोधन करने या चुपचाप खड़े रह जाने से–पीछे हम भले ही न लौटें हमारी बरबादी टल नहीं पाएगी।

भूमि सुधार (पुरक) क़ानून के बारे में एक तर्क यह दिया जाता है कि भूमिहीन लोगों के गिरोह भूमिधरों और सीरदारों को उनके क़ानूनन जायज

कब्जे से हटाने पर तुले हुए हैं और इस तरह अराजकता को उकसाया और बढ़ावा दिया जा रहा है, मानो कि यह सब मेरी ही चूकों और नीतियों का परिणाम हो। मैंने नैनीताल में कहा था कि ऐसा कुछ कहीं न तो हुआ है, न ही आशंकित होने की आवश्यकता है। बरसात आए अब पांच सप्ताह से ज्यादा हो चुके हैं, लेकिन हमने राज्य में कहीं भी भूमि को लेकर दंगे या हत्याएं होने के बारे में नहीं सुना है।

भूमि सम्बन्धी विवादों में दोषी भूस्वामी लोग हैं या भूमिहीन लोग और इसके बारे में कि भूमि सुधार (पूरक) क़ानून न्याय संगत था या नहीं (मैं यहां कहना चाहूंगा कि इस उपाय पर प्रवर समिति सर्वसम्मति से चाहती थी कि सरकार और भी आगे बढ़े), मेरे लिए सिर्फ भूमि सुधारों के ओ० एस० डी० श्री नासिर हुसैन की 28 नवम्बर 1952 की रिपोर्ट के निम्नांकित उद्धरण की तरफ ध्यान दिलाना जरूरी है, जिन्हें जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून लागू करने के उद्देश्य से पूर्व बनारस राज्य में भूमि काश्तकारी के अध्ययन के प्रति नियुक्त किया गया थाः

(7) खतौनी के खण्ड–2 की क्रमशः 13, 14 और 15 संख्यक श्रेणियों में दर्ज सोर और लगान रहित अनुग्राही के कब्जे में भूमि। इन श्रेणियों के कब्जे में वर्ष 1358 फसली में रु० 11,59,060 लगान के साथ कुल जोत क्षेत्र 5,125 एकड़ था। कुल जोत क्षेत्र का यह 21 प्रतिशत है तथा लगान का अनुपात रु० 19/10 बैठता है, जो काश्तकार–प्रमुख के नकदी लगान वाले क्षेत्र के रु० 5/2–औसत अनुपात से साढ़े तीन गुना अधिक है। वर्ष 1355 फसली की तुलना में कुल क्षेत्र में काफी कमी आई है। वर्ष 1355 फसली में खतौनी के खण्ड–2 में दर्ज क्षेत्र रु० 20,69,998 लगान के साथ 1,03,022 एकड़ था और आनुपातिक लगान रु० 20/–प्रति एकड़ के साथ कुल जोत क्षेत्र का वह 41.6 प्रतिशत था। ऐसा लगता है क्षेत्र में अचानक यह कमी (राज्य के उत्तर प्रदेश में) विलय के बाद के वर्षो में आई।

(यहां कोष्ठक में यह उल्लेख किया जा सकता है कि भदोही में पिछली 1 जुलाई की जिस किसान सभा को मैंने सम्बोधित किया था, उसके आयोजकों द्वारा सरकार से सिर्फ दो मांगें की गई थींः भूमि सुधार (पूरक) क़ानून के तहत प्रविष्टियां सुधारी जाएं तथा राज्य के शेष भागों की तरह यहां भी अधिवासियों को लगान में छूट दी जाए।)

यह स्थिति अकेले पूर्व बनारस राज्य की खासियत नहीं है। जिन दो तहसीलों से मूलतः बनारस ज़िला गठित हुआ, उनमें वर्ष 1352 फसली में खतौनी के खण्ड–2 में दर्ज व्यक्तियों के पास 1,15,000 एकड़ भूमि थी (देखेंः जेड, ए० सी० रिपोर्ट का वक्तव्य–15 भाग–2)। इसमें से 250

रुपये से ज्यादा भू–राजस्व चुकाने वाले जमींदारों से ली गई 9,000 एकड़ भूमि को (सीर काश्तकारों के कब्जे की 5,000 एकड़ भूमि बिना रजामंदी के दखलकारों की 4,000 एकड़ भूमि) घटाया जा सकता है क्योंकि इस क्षेत्र के दखलकार सीरदार हो चुके हैं। इस प्रकार 1352 फसली में अधिवासियों की 1,06,000 भूमि दर्ज की गई थी। ज़िले में अधिवासियों के औसत लगान के बारे में पूछे जाने पर जवाब में जो पत्र अतिरिक्त ज़िला मजिस्ट्रेट ने लिखा था, उसके अनुसार यह क्षेत्र 1359 फसली में घटकर 88,000 एकड़ रह गया।

इन बोलते हुए आंकड़ों को देखते हुए आगे यह टिप्पणी करना मुझे गैर–जरूरी लगना चाहिए कि भूमिधर और सीरदार या अधिवासी में से कौन–सा पक्ष आक्रामक रहा है तथा क़ानून को अपने हाथ में ले बैठा है और भूमि सुधार (पूरक) क़ानून जैसी क़ानूनी व्यवस्था आवश्यक थी या नहीं।

जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक मूलतः 12–15 मई 1949 को नैनीताल में हुई मंत्रिमंडल की बैठक में पारित हुआ था, जिसमें अनुच्छेद 237 जैसी कोई धारा नहीं थी। विधेयक ने सभी अधिवासियों को क़ानून लागू होने की तारीख से पांच वर्ष की अवधि बीत जाने के बाद भूमिधारी का दर्जा हासिल करने का अधिकार दिया था। दरअसल मसौदा कमेटी तो अधिवासी को फौरन उसी समय भूमिधारी का दर्जा हासिल करने का अधिकार देना चाहती थी, लेकिन तत्कालीन मुख्य सचिव ने, जो कमेटी के एक सदस्य थे, कतिपय प्रशासनिक कठिनाईयों का जिक्र किया, यही कारण है कि अधिकार प्राप्ति को कुछ समय के लिए स्थगित रखा गया।

उसके बाद 5 जून को लखनऊ में हुई मंत्रिमंडल की बैठक में एक निर्णय लिया गया था जिसके फलस्वरूप यह धारा उसमें शामिल की गई कि अधिसूचित क्षेत्र में जिस भूमिधर या सीरदार के पास 6.25 एकड़ से कम भूमि हो, वह प्रथमतः परती ज़मीन को खेती में लाकर और अगर वैसी भूमि उपलब्ध नहीं हो, तो अपने अधिवासी या अधिवासियों को बेदखल करके उस कमी को पूरा करेगा। मैंने जोरदार प्रतिवाद किया और फिर इस वैकल्पिक सुझाव पर भी विचार हुआ कि पांच वर्ष की अवधि के बाद सिर्फ वे अधिवासी अतिरिक्त भूमि से बेदखल किए जा सकेंगे, जिनके पास 6.25 एकड़ से अधिक ज़मीन होगी।

यह प्रवर समिति पर छोड़ा गया कि वह दो और प्रतिगामी कदम उठाए। सीमा 6.25 एकड़ से बढ़ाकर 8 एकड़ कर दी गई और जमींदार के बजाए यह अधिवासी था जिसे अपनी व्यवस्था खुद करने और हो सके तो गांव समाज से ज़मीन प्राप्त करने के लिए छोड़ दिया गया है।

जैसा कि अन्त में हुआ, यह मांग अर्थात शिकमी काश्तकारों को

काश्तकारी की सुरक्षा प्रदान किए जाने की मांग 1949 के जून महीने में इंडिया (इलाहाबाद ज़िला) में हुए प्रांतीय शोषित संघ के सम्मेलन द्वारा की गई एकमात्र आर्थिक और कृषि से सम्बन्धित मांग थी। संघों के गठन की वांछनीयता या अवांछनीयता के बारे में चाहे कुछ भी कहा जाए, खास तौर से आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से कि ये जन्म पर आधारित एक या एक से अधिक जातियों तक सीमित हैं—और इस सवाल पर मुख्यमंत्री मेरे विचारों से भली—भांति परिचित हैं—इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि इस मांग को स्वर देते हुए संघ महज हमारे कृषक समाज के कमजोर और गरीब तबके का ही प्रतिनिधित्व कर रहा था।

आर्थिक परिणाम जो सम्बद्ध पक्ष भुगतेंगे, उनकी बात तो अलग रही, अनुच्छेद 237 के तहत अधिसूचना की जबरदस्त राजनीतिक प्रतिक्रिया होगी, अनुच्छेद 234 की गलत व्याख्या के फलस्वरूप बनारस में पिछले अप्रैल और मई में जो आंदोलन हुआ था और जिसमें अधिवासियों के विरुद्ध बेदखली के मुकदमे दायर किए गए थे, उससे कुछ हद तक इसका अन्दाजा लगाया जा सकता है। प्रजा में समाजवादियों को मौका मिला और उन्होंने प्रदर्शन का आयोजन और नेतृत्व किया।

कांग्रेस के हित में और देश के हित में हमें यही उचित लगता है कि जो भी क़ानूनी ढंग से ज़मीन रखता है, उसे वहां से निकाल बाहर नहीं किया जाए। ज़मीन चाहे जितनी भी कम हो, भोक्ता को एक ऐसी सुरक्षा भावना देती है जो कोई और नहीं दे सकती। क्योंकि बुरे साल यद्यपि आ सकते हैं, लेकिन अपने स्वामी को यह कभी पूरी तरह हताश नहीं करती। भविष्य में समृद्धि की उम्मीद हमेशा रहती है और ऐसा नहीं कि वह अक्सर फलीभूत न हो। फिर, जिस आदमी के पास आधा एकड़ भी ज़मीन है, उसे अपने पास कुछ होने का बोध है और इसी लिए जीवन में स्थिरता है। जिस आदमी के पास कुछ है, उसे एक दुनिया उस आदमी से अलग कर देती है जिसके पास कुछ नहीं है। जो आज भूमिहीन हैं या कल वैसा ही बना दिए जाएंगे, वे आसानी से उनके विघटनकारी और समाज विरोधी शक्तियों के साथ मिलने के बहकावे में आ जाएंगे, जिन्हें इसी तरह के मौके की तलाश रहती है।

जैसा कि मैं एक बार मुख्यमंत्री को बता चुका हूं, अधिसूचना कांग्रेस के लिए आत्मघाती सिद्ध होगी, खास तौर से राज्य के पूर्वी हिस्सों में जहां यह उत्तर प्रदेश के अन्य हिस्सों की तुलना में पहले से ही कमजोर है।

नोट कुछ लम्बा हो गया है, लेकिन संबंधित मुद्दे के महत्त्व ने इसे औचित्यपूर्ण बना दिया है। न केवल लाखों लोगों का भाग्य इससे प्रभावित होगा, बल्कि ऐसे अन्य लाखों के दृष्टिकोण और आचरण पर भी इसका

असर पड़ेगा जो किसी न किसी रूप में इन जड़ से उखड़े परिवारों से जुड़े हो सकते हैं। किसी भी हालत में यह पूर्वी ज़िलों का राजनीतिक ढांचा काफी हद तक तय कर देगा।

अतः मैं चाहूंगा कि सरकार इस विषय में शीघ्र निर्णय ले। वर्तमान अनिश्चितता से किसी का भला नहीं हो रहा। इसे हटाने के पक्ष में कारण काफी पुरजोर हैं। अगर इसे स्वीकार नहीं किया जाता है तो दूसरे बेहतर विकल्प के तौर पर मैं यह सुझाव पेश करूंगा कि जिन भूमिधरों और सीरदारों के पास कोई खुद की भूमि नहीं है या 6.25 एकड़ (10 मानक बीघे) से कम भूमि है, उन्हें अपने सिर्फ ऐसे ही अधिवासियों को उस अतिरिक्त भूमि से बेदखल करने की अनुमति मिले, जिनके पास सभी तरह की जोतों को मिलाकर 3.125 एकड़ (5 मानक बीघे) से अधिक हो, लेकिन शर्त यह रहे कि भूमिधर और सीरदार के पास अगर पहले से ही भूमि हो तो वह कुल मिलाकर 6.25 एकड़ से ज्यादा नहीं हो। इससे आगे जाना मुमकिन नहीं होगा।

—चरण सिंह
7 अगस्त 1953

इस बीच जो आशंकाएं पैदा हुई उन्हें दूर करने के लिए चरण सिंह ने अगले दिसम्बर में मुख्यमंत्री को भेजे एक और नोट में निम्नांकित पैराग्राफ शामिल थाः

> जहां तक शिकमी काश्तकार का दर्जा ऊंचा करने के प्रस्ताव के औचित्य का सवाल है, जिसका जिक्र उनके 6 दिसम्बर के नोट में हुआ है, उसके बारे में मैं यह निवेदन कर सकता हूं कि उन्हें सिर्फ सीरदार के दर्जे पर प्रोन्नत किए जाने का प्रस्ताव है, बशर्ते वे अपने काश्तकार–प्रमुख के लगान का पांच गुना उसके नाम जमा कर दें। केवल बिचौलियों के सीर के बेदखल काश्तकार ही ज़मीन की सर्किल दर का पन्द्रह गुना चुका देने पर भूमिधारी के रूप में प्रोन्नत होने के लिए प्रस्तावित हैं, क्योंकि उनके मामले में बिचौलिये और वास्तविक जोतने वाले के बीच कोई काश्तकार–प्रमुख नहीं है। अगर हम इन लोगों को भी सीरदार बना दें तो सरकार स्वामित्व के अधिकारों तथा जोतने के अधिकारों यानी सीर के अधिकारों, दोनों तरह के अधिकारों के लिए बिचौलिये को मुआवज़ा देने के लिए बाध्य होगी।
>
> —चरण सिंह
> 17 दिसम्बर 1953

चरण सिंह का 7 अगस्त 1953 का नोट मिलने पर पंडित गोबिन्द बल्लभ पंत ने सुझाव दिया कि वे जिन निष्कर्षों पर पहुंचे हैं, वे पर्याप्त रूप से सही हैं या नहीं, यह जानने के लिए नमूने के तौर पर सर्वेक्षण कराया जाए। चरण सिंह ने उनसे कहा कि सर्वेक्षण कराने की जरूरत नहीं है, क्योंकि अपने विभाग के तथ्यों और आंकड़ों की उनकी जानकारी तथा उत्तर प्रदेश के एक दूसरे से भिन्न क्षेत्रों के देहाती वातावरण की उनकी समझ अदभुत थी। फिर भी पंडित पंत अड़े रहे और सर्वेक्षण का आदेश दे दिया गया।

छुटपुट नमूने की पद्धति से सर्वेक्षण के लिए नौ ज़िलों की 37 तहसीलों में 74 गाँव चुने गए जहां तुलनात्मक दृष्टि से राज्य के अधिवासियों की संख्या बहुत ज्यादा थी। सर्वेक्षण की रिपोर्ट ने चरण सिंह की पूर्वधारणाओं की सच्चाई की पुष्टि की। (देखें: राजस्व सचिव का 16 फरवरी 1954 का नोट, जिसे आगे पुनः प्रस्तुत किया गया है)। राजस्व सचिवालय में जो रिपोर्ट फरवरी 1954 में प्राप्त हुई, उसने दर्शाया कि सभी भूमिधरों और सीरदारों में से केवल 16.8 प्रतिशत ने ज़मीनें पट्टे पर लगाई थीं, इनमें से 11.85 प्रतिशत यानी कुल के केवल 2 प्रतिशत ने अपनी सारी ज़मीनें पट्टे पर लगाई थीं तथा अन्य व्यवसाय अपना लिए थे। मर्जी पर टिके इन किसानों के 82.4 प्रतिशत का अपनी ज़मीन पर पांच वर्ष से अधिक समय से कब्जा था तथा लगभग 88 प्रतिशत के पास गुजारे के लिए. खेती के अलावा कोई दूसरा साधन नहीं था।

राजस्व मंत्री

राजस्व मंत्री के आदेशों के अनुसार, फर्रुखाबाद, बनारस (भदोही और चकिया तहसीलों को छोड़कर) जौनपुर, बलिया, बस्ती, आजमगढ़ हरदोई, फैजाबाद और गोंडा ज़िलों में शिकमी काश्तकारी के प्रतिदर्श सर्वेक्षण किया गया। इन ज़िलों को इसलिए चुना गया कि यहां शिकमी बन्दोबस्ती बहुत व्यापक रूप से हुई लगती है। इस क्षेत्र में कुल 31, 301 गांव हैं जिनमें छुटपुट तौर पर 74 गांव चुने गए और वहां जांच–पड़ताल की गई।

जे० ए० सी० रिपोर्ट, खण्ड–2 के अनुसार इन ज़िलों में 792.0 हजार एकड़ का क्षेत्र शिकमी काश्तकारों और सीरदारों के कब्जे में था। प्रतिदर्शी परिणामों (तालिका–2) के मुताबिक उस वर्ष उनके कब्जे में 810.0 हजार एकड़ का क्षेत्र था। इस प्रकार वास्तविक आंकड़े और प्रतिदर्शी सर्वेक्षण के परिणाम में फर्क सिर्फ 2 प्रतिशत के लगभग है। इससे यह स्पष्ट होता है कि निम्न आधार होने के बावजूद प्रतिदर्श सर्वेक्षण का परिणाम बिलकुल सही है।

निम्नांकित परिणाम महत्त्वपूर्ण हैं

(क) भूमिधरों और सीरदारों में से केवल 16.8 प्रतिशत ने अपनी कुल जोत या उसके अंश की शिकमी बन्दोबस्ती की है। इस तरह अधिवासियों आदि की समस्या काश्तकार–जोतदारों के 83.2 प्रतिशत के लिए कोई मतलब नहीं रखती।

(ख) अधिवासियों और असामियों में 51.4 प्रतिशत वे लोग हैं, जिनका 10 साल से ज्यादा समय से अपनी भूमि पर दखल है। उन्हें अब अपनी भूमि से वंचित कर देना कष्टकारी होगा। उनके जमींदारों ने उन्हें बेदखल करने के अवसर से तब लाभ नहीं उठाया था जबकि वैसा वे कर करते थे। अन्य 31 प्रतिशत उन लोगों का है, जिनका 10 और 5 साल के बीच दखल रहा। अतः हाल के अधिवासी या आसामी सिर्फ 17.6 प्रतिशत हैं।

(ग) अधिवासियों और असामियों के पास जिन भूमिधरों और सीरदारों की ज़मीन है, उनमें से 88.15 प्रतिशत के पास दूसरी तरह की ज़मीन भी है, 2.37 प्रतिशत नौकरी कर रहे हैं और 0.62 प्रतिशत व्यापार में लगे हैं। इस तरह 91.14 प्रतिशत वे लोग हैं जिनके जीवन–निर्वाह के अपने–अपने व्यवसाय हैं। सिर्फ 8.86 प्रतिशत लोगे ऐसे हैं जो श्रमिक आदि हैं और उनके पास कोई ज़मीन नहीं है। इससे साफ झलकता है कि यह चीख–पुकार कमोवेश बनावटी है कि भूमिपति लोग गहरे संकट में हैं, क्योंकि वे अपने

अधिवासियों को बेदखल नहीं कर सकते, तथा यह बहुत ही छोटे अल्प–संख्यकों की ओर से मचाई जा रही है।

(हस्ताक्षर)
जहरूल हसन
15 फरवरी, 1954

सचिव का उपर्युक्त नोट प्राप्त होने पर राजस्व मंत्री ने 2 मार्च को इस विषय पर दूसरा नोट इस प्रकार लिखा और फिर आग्रह किया कि बेदखली के बजाए सीरदारी या भूमिधारी के अधिकार सीधे प्राप्त करने का अवसर दिया जाए।

मुख्यमंत्री

पिछले अगस्त में अधिवासियों की समस्या पर जब मैंने एक लम्बा नोट प्रस्तुत किया था तब आपने छुटपुट नमूने की पद्धति से सर्वे किये जाने

की इच्छा जाहिर की थी, ताकि हम बेहतर ढंग से निर्णय ले सकें। वैसा ही किया गया है।

इस सर्वेक्षण से इस विचार की पुष्टि हुई है कि जिन जमींदारों और काश्तकार–प्रमुखों ने अपनी ज़मीनें दूसरों को पट्टे पर नहीं दी थीं, उनमें से ज्यादातर शायद अपनी लगान की आमदनी पर निर्भर नहीं थे, बल्कि किसी न किसी दूसरे व्यवसाय में लगे हुए थे। अधिवासियों वाले भूमिधरों। और सीरदारों में 88 प्रतिशत से अधिक खेती में लगे हुए हैं, 3 प्रतिशत व्यापार और नौकरी में हैं, अन्य 3 प्रतिशत हस्तशिल्प, कुटीर उद्योग आदि में लगे हुए कारीगर या कर्मचारी हैं तथा सिर्फ 6 प्रतिशत मजदूर के रूप में काम कर रहे हैं। गैर–व्यावसायिक धंधों में लगे 12 प्रतिशत लोगों के पास अवश्य ही बहुत थोड़ी ज़मीन होगी, अन्यथा अपनी सारी ज़मीन शिकमी काश्तकारों को देकर वे खुद मजदूरी, नौकरी या किसी और व्यवसाय को नहीं अपना लेते।

यह भी साफ है कि इन किसानों–अधिवासियों के पास कोई और ऐसा आधार नहीं कि उसका सहारा लें। इनमें से 88.30 प्रतिशत खेती में लगे हुए हैं। अगर इन्हें बेदखल किया गया तो ये राह के भिखारी बन जायेंगे।

उन सभी बातों का जिक्र करना मेरे लिए जरूरी नहीं है, जिन्हें अपने पिछले नोट में मैं लिख चुका हूं। यही कहना काफी होगा कि मान लें कि तीन व्यक्तियों को अधिवासी के तौर पर खतौनी के भाग–II में दर्ज किया गया, एक साथ मिलकर वे एक परिवार का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो फिर 50 लाख आबादी के 10 लाख परिवार इसमें आते हैं। अब अगर एक ज़िले के अधिवासियों की बेदखली के लिए अनुच्छेद 237 के तहत अधिसूचना जारी की जाती है, तो उसे समूचे राज्य तक विस्तार देना होगा। एक परिवार के पास औसतन सिर्फ 2.6 एकड़ ज़मीन है। लेकिन चूंकि एक अधिवासी का औसत खाता एक प्रविष्ट में आधा एकड़ से कम है, अतः महज एक भूमिधर या सीरदार की खातिर हम कई लोगों को, कुछ मामलों में एक दर्जन से ज्यादा लोगों को, बेदखल कर देंगे। यह अधिसूचना, जो लाखों लोगों को भूमिहीन बना डालेगी, हमारी सरकार और हमारे राजनीतिक संगठन कांग्रेस की, जिन्होंने भूदान आंदोलन को अपना समर्थन दिया है, नीतियों के प्रति तीव्र विरोधाभास होगा। एक साल से भी ज्यादा पहले बनाये गये भूमि सुधार (अनुपूरक) क़ानून द्वारा चालू की गई प्रक्रिया को भी यह पलट देगी।

इन सामूहिक बेदखलियों के राजनीतिक परिणाम की कल्पना सहज ही की जा सकती है। राज्य में काम कर रही जो उपद्रवकारी असामाजिक

शक्तियां देहाती क्षेत्र में अपनी पकड़ खोती जा रही हैं, उन्हें इससे अप्रत्याशित बल मिलेगा और मुझे यकीन है कि इस अधिसूचना पर इस कदर शोर–शराबा मचेगा तथा इसके प्रभाव इतने अनर्थकारी होंगे कि जल्द ही इसे वापस लेना पड़ेगा।

इन लाखों अधिवासियों के लिए जमींदारी उन्मूलन का बहुत ही कम या बिल्कुल ही मतलब नहीं रहा है। वे आज भी उन्हीं जमींदारों या काश्तकार प्रमुखों को पुरानी दर से लगान चुका रहे हैं। बेदखली का खतरा आज भी उनके सिर पर मंडरा रहा है। उनका भविष्य अभी भी अनिश्चित है। अनिश्चय की इस भावना को किसी–न–किसी तरह दूर किया जाना चाहिए। बल्कि उसी तरीके से जो कि लाजिमी है। अगर उन्हें बेदखल किया गया तो जमींदारी उन्मूलन उनके लिए अभिशाप होगा तथा स्वराज का उनके लिए कोई अर्थ नहीं रहेगा।

जोतों की चकबंदी के बारे में भी पहले एक निर्णय लिया जा चुका है जो जल्दी ही अमल में आने को है। ज़मीन के जो छोटे–छोटे टुकड़े अधिवासियों ने सम्भवतः कई लोगों से लिए होंगे, उन्हें एक चक या ब्लाक में मिला दिया जाना है–अगर हम यह निश्चय करते हैं कि अधिवासियों का कब्जा उस पर बना रहे या फिर उसे भूमिधरों और सीरदारों की जोतों में मिला दिया जाना है–अगर हम अधिवासियों की बेदखली के लिए अधिसूचना जारी करने का निश्चय करते हैं।

जरूरी नहीं कि मैं मुख्यमंत्री का एक बार और समय नष्ट करूं, लेकिन रिपोर्ट ऑन राजस्थान जागीरदारी एबॉलिशन (जिसे मैंने पिछले अगस्त का नोट लिख चुकने के बाद देखा था) में उनकी खुद की टिप्पणी को उद्धृत करने की छूट लूंगा, जबकि एक प्रस्ताव था कि जमींदारों को खुदकाश्त के लिए अधिक ज़मीन उपलब्ध करने की दृष्टि से काश्तकारों के कब्जे की ज़मीनें उनके और जमींदारों के बीच बांट दी जाएं और उस पर फैसले का दायित्व मुख्यमंत्री पर छोड़ दिया गया था।

यह साफ है कि जागीरदारों को खुदकाश्त उपलब्ध कराने के लिए काश्तकारों की जोतें खंडित करने के गम्भीर आर्थिक परिणाम होंगे। छोटी जोत वाले काश्तकारों के लिए अपनी ज़मीन का एक हिस्सा खो देने से सम्बन्धित बाध्यता की बात अलग रहे, तो भी यह गलत होगा कि आर्थिक जोतों को अनार्थिक और अनार्थिक जोतों को ज्यादा अनार्थिक बना दिया जाए। जागीरदारों के लिए भी यह सम्भव नहीं होगा कि काश्तकारों से प्राप्त ज़मीन के छोटे–छोटे टुकड़ों को एक साथ मिला लें। सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विनियोजन की प्रक्रिया जिससे

बहुसंख्यक काश्तकारों की यत्नपूर्वक संजोयी ज़मीन छिन जाएगी जैसा कि जागीरदार चाहते हैं–वैमनस्य, कटुता और दलीय प्रतिद्वंद्विता को जन्म देगी, जबकि भूमि सुधार की किसी भी योजना का लक्ष्य इनसे बचना ही होना चाहिए।

यह कोई खाली स्लेट नहीं जिस पर हमें लिखना है। कुछ सम्बद्ध राज्यों द्वारा बनाये गये काश्तकारी क़ानूनों का उल्लेख किया जा चुका है जिनके तहत काश्तकारों को काश्तकारी की निश्चितता प्रदान की गई थी। देश में काश्तकारी क़ानून की जो मौजूदा स्थिति चल रही है, उसे भी दृष्टिगत रखना जरूरी है। जमींदारी उन्मूलन के फलस्वरूप किसान स्वाभाविक रूप से अपनी और भी बेहतर स्थिति की कल्पना करने लगे हैं। इसके विपरीत अगर अब उन्हें बेदखली की स्थिति का सामना करना पड़े तो यह हर तरह से भूमि सुधार की भावना के विरुद्ध एक प्रतिगामी कदम होगा। यहां आचार्य विनोबा भावे द्वारा शुरू किए गए भूदान आन्दोलन और उनके नारे 'ज़मीन उसकी जो जोते' का उल्लेख प्रासंगिक होगा

"इन स्थितियों में मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि जागीरदारों को खुदकाश्त उपलब्ध कराने की खातिर किसानों की अनिवार्य बेदखली नहीं होनी चाहिए."

मैं सिर्फ यही जोड़ना चाहूंगा कि राजस्थान में दो तर्क या अलग पहचान वाली विशिष्टताएं थीं जिन्हें 'भूमिया' या जागीरदार अपने पक्ष में प्रस्तुत कर सकते थे, लेकिन उत्तर प्रदेश के जमींदार या काश्तकार–प्रमुख वैसा नहीं कर सकते। बहुतेरे जमींदार सेना में या कहीं और कार्यरत थे तथा अपने काश्तकारों के कब्जे की ज़मीनों पर कुओं, बांधों या तालाबों के निर्माण द्वारा अपनी बचतें विकास कार्यों में लगा देते थे। 12 गांवों के एक सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हुआ कि काश्तकारों की जोतों पर पाए गए 13,000 कुओं में तकरीबन 11,000 कुएं जागीरदारों द्वारा या उनकी सहायता से निर्मित हुए थे।

यहां अधिवासियों का मामला काफी मजबूत है।

(हस्ताक्षर)
चरण सिंह
2 मार्च, 1954

मुख्यमंत्री अंततः राजस्व मंत्री से सहमत हुए और आदेश दिया कि इस विषय को मंत्रिमंडल के सामने रखा जा सकता है (15 मार्च 1954 का निम्नांकित नोट देखें)।

टिप्पणियां और आदेश

राजस्व मंत्री को उनके सूझबूझ भरे नोट के लिए धन्यवाद। मैंने कृषि विभाग के प्रमुख सांख्यिकीविद की रिपोर्ट भी दिलचस्पी के साथ पढ़ ली है। संसाधनों की अपर्याप्तता के बारे में उन्हीं नौ ज़िलों के 0.24 प्रतिशत मौजूदा गांवों तक सीमित रहना था, जिनमें से ज्यादातर पूर्वी क्षेत्र में हैं। मैं राजस्व मंत्री द्वारा की गई टिप्पणियों की प्रभाविकता की भरपूर सराहना करता हूं। नमूना सर्वेक्षण ने कम–से–कम हमें कुछ सामग्री दी है और उसके परिणामों को नजरअंदाज या सरकारी तौर पर खारिज नहीं किया जा सकता। शायद वे मौजूदा परिस्थिति का अनुमानिक प्रतिनिधित्व करते हैं। लगता है कि छः भूमिधरों और सीरदारों में सिर्फ एक ने अपनी जोत का कुल या एक हिस्सा पट्टे पर उठाया है। असामियों और अधिवासियों के कब्जे की भूमि का औसत रकबा प्रति व्यक्ति आधा एकड़ से कुछ कम ही होगा। फिर भी उनमें से 88 प्रतिशत कृषि पर निर्भर हैं इसका स्पष्टीकरण पाना आसान नहीं है। बाकी के लिए व्यवसायों का ढांचा वस्तुगत तौर पर भूमिधरों और सीरदारों से भिन्न नहीं प्रतीत होता। वे अस्थायी श्रमिक हैं, कृषि और गैर–कृषि दोनों ही क्षेत्रों में उनका पूरा वजूद अधिवासियों से बहुत कम नहीं है। ऐसा लगता है कि लगभग 17.6 प्रतिशत अधिवासियों और असामियों के खाते 5 साल से भी कम अवधि के हैं। यह विषय महत्त्वपूर्ण है और इसे मंत्रिमंडल के समक्ष रखा जा सकता।

(हस्ताक्षर)
जी. बी. पंत
15 मार्च 1954

बाबू सम्पूर्णानन्द, ठाकुर हुकुम सिंह और ठाकुर हरगोविन्द सिंह फिर भी–अधिवासियों को स्थायी अधिकार प्रदान किये जाने के बिल्कुल खिलाफ थे। इसलिए उन्होंने जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार के उन प्रासंगिक प्रावधानों का, जिन्हें चरण सिंह ने सम्भवतः मार्च 1954 में मंत्रिमंडल के सामने विचारार्थ रखा था, तीव्र विरोध किया। फलतः निर्णय को स्थगित कर दिया गया। यह सवाल उनके (चरण सिंह के) द्वारा दूसरी और फिर तीसरी बार भी उठाया गया। लेकिन ऐसा हुआ कि बाबू सम्पूर्णानन्द दोनों अवसरों पर अनुपस्थित रहे और निर्णय बार–बार स्थगित होता रहा। दूसरी तरफ एक और भी कारण से, जैसे जब तक अधिवासियों के अधिकारों पर निर्णय नहीं ले लिया जाता, तब तक जोतों की चकबंदी से सम्बन्धित क़ानून को अंतिम रूप नहीं दिया जा सकता।

वह क़ानून जिसे कृषि उत्पादकता बढ़ाने के लिए राजस्व मंत्री बहुत आवश्यक समझते थे, चरण सिंह इस बात के लिए चिंतित थे कि इस उपाय को विधि–संग्रह में स्थान मिल जाए।

अतः चरण सिंह विक्षुब्ध हो जून 1954 के चौथे सप्ताह में पंतजी के पास गए और राजस्व विभाग छोड़ने की पेशकश कर दी। मुख्यमंत्री ने तुरन्त उन तीनों मंत्रियों को बुलावा भेजा जिन्होंने आपत्ति जताई थी। मगर उनमें से दो ही उपलब्ध थे। मुख्यमंत्री ने उन्हें बताया कि खूब सोच–विचार कर लेने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि अपने विधेयक या प्रस्ताव के जरिए चरण सिंह जो उपलब्धि चाहते थे, वह जनहित में है। इस पर दोनों महानुभाव झटपट सहमत हो गए। उपाय को अंतिम रूप देने में चूंकि देरी हो चुकी थी और विधान सभा पहले ही स्थगित हो गई थी, इसलिए अब मंत्रिमंडल की सहमति प्राप्त की गई और एक अध्यादेश जारी करने का निर्णय लिया गया। अध्यादेश में प्रावधान था कि काश्तकार प्रमुख को चुकाए जाने वाले लगान का पांच गुना चुकाने पर सभी शिकमी काश्तकार सीरदार के दर्जे पर और सर्किल दर का पन्द्रह गुना जमींदार को चुकाने पर सीर ज़मीनों के सभी काश्तकार यानी सीरदार भूमिधर के दर्जे पर प्रोन्नत समझे जायेंगे।

यह जानकर कि अधिवासियों के सवाल पर सरकार एक अध्यादेश जारी करने जा रही है, अलगू राय शास्त्री ने, जो उस समय प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष थे, 25 जून 1954 को पंडित गोविन्द बल्लभ पंत को पत्र लिखा कि उन्हें सुनवाई का मौका दिया जाए। अतः श्री अलगू राय शास्त्री से बातचीत होने तक के लिए अध्यादेश को जारी करने से रोक दिया गया। आखिर काफी मनाने–बुझाने के बाद श्री शास्त्री ने जब अध्यादेश पर अपनी सहमति दे दी तब कहीं जाकर वह लागू हो पाया। श्री शास्त्री की आपत्ति के पीछे वजह साफ थी पूर्वी ज़िलों के अन्य प्रमुख कांग्रेसियों की तरह वे भी पिछड़ी और अनुसूचित जातियों के सदस्यों को, जिनका प्रतिशत अधिवासियों में बहुत ज्यादा है, कोई अधिकार दिए जाने के खिलाफ थे।

हमारे समाज के कृषिमूलक ढांचे में दलितों के अधिकारों की रक्षा की जरूरत को लेकर चरण सिंह का जो नजरिया था, उसे कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं द्वारा स्वीकृति मिली। प्रधानमंत्री के रूप में श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा मुख्यमंत्रियों को सम्बोधित 5 अगस्त 1954 के 'पाक्षिक नोट' से लिए गए निम्नांकित उद्धरणों से यह बात साफ हो जाएगी।

20. यहां भूमि समस्या है और हमने जमींदारी और जागीरदारी प्रथा

के खात्मे के लिए बहुत कुछ करने का श्रेय अपने ऊपर लिया है, हालांकि भारत के कई हिस्सों में कुछ हद तक वह आज भी मौजूद है। लेकिन इस भूमि सुधार की प्रगति को लेकर हमारे मन में सन्देह कुलबुलाता है। निःसंदेह हमने अच्छा किया है और एक खास तरह का बिचौलिया रुखसत हो चुका है। लेकिन कई बिचौलिये आज भी मौजूद हैं। हमारी यह दीर्घ घोषित नीति रही है कि सभी बिचौलिये खत्म हों और जो किसान खुद ज़मीन जोतता है, वह अपने भूखण्ड का मालिक हो जाए। उसमें हम अभी तक कामयाब नहीं हुए हैं और हम पाते हैं कि जो क़ानून हमने बनाए हैं, उनमें व्यापक रूप से बच निकलने के कई छेद रह गए हैं। दरअसल क़ानून खुद उन बातों की इजाजत दे डालते हैं जिससे हमने बचना चाहा था। खास तौर से मुझे गहरा धक्का लगता है जब देखता हूं कि बहुत से किसान आज भी बेदखल हो रहे हैं। ज़मीन को खुदकाश्त घोषित कर या निजी खेती के लिए आरक्षित कर यकीनन ऐसा बार–बार किया जाता है। इस सबका कुल मिलाकर नतीजा यही है कि किसान बेदखल हो रहे हैं। यह हकीकत है कि आज भी लोगों के पास सैकड़ों एकड़, कभी–कभी हजार या उससे भी ज्यादा एकड़ ज़मीन है। नतीजा वह नहीं निकला जिसकी हमें अपेक्षा थी।

21. जो काश्तकार बेदखल किए गए हैं, वे अपनी दुःखगाथा लेकर उनके पास आते हैं। वह क्या कहें उनसे? उनके पास कौन सा जवाब है उनके लिए? दूसरी दिशाओं में उनकी सारी उपलब्धियां, भविष्य के लिए उनकी सारी योजनाएं उनके लिए कोई मतलब नहीं रखतीं, अगर उन्हें उस ज़मीन से अलग कर दिया जाए जिसे वे वर्षों से जोतते रहे हैं?

    हमारे नए भूमि सुधारों ने उनकी हालत बेहतर बनाने की जगह उसे वस्तुतः और भी बदतर बनाया है। निश्चय ही यह ऐसी बात है जिसे वे जानबूझकर स्वीकार नहीं कर सकते।

22. भूमि सुधारों की पूरी नीति असली खेतिहर का बोझ हटाने के अलावा किसानों में ज़मीन की आमदनी का समुचित वितरण करने और इस तरह उन्हें ज्यादा क्रय–शक्ति प्रदान करने के लिए थी। इस तरीके से आंतरिक बाजार विस्तृत होता और देश की उत्पादन शक्तियों का विकास होता। हम तब तक अपना उत्पादन नहीं बढ़ा सकते, जब तक अपनी खपत नहीं बढ़ा लेते। हम तब तक अपनी खपत नहीं बढ़ा सकते, जब तक कि बड़ी तादाद में लोगों के पास खरीदने की

> क्षमता न हो। उन्हें याद है फोर्ड फाउण्डेशन के उन विशेषज्ञों के साथ हुई बातचीत, जो यहां कुटीर और लघु उद्योगों के बारे में हमें सलाह देने के लिए आए थे। इन विशेषज्ञों में से कुछ ने उनसे कहा था कि ऐसे विस्तृत बाजार के भविष्य की कल्पना कितनी उत्तेजक है, जो भारत ने दिया है और दे सकता है। एक बार वृहत्तर क्रय शक्ति का चक्का चला कि वृहत्तर खपत और वृहत्तर उत्पादन चलता ही जाता है, उसकी कोई सीमा नहीं होती। निश्चित रूप से यह सिर्फ ज़मीन पर नहीं बल्कि उद्योग पर और भी ज्यादा लागू होता है। खासतौर से यह छोटे उद्योगों पर लागू होता है, जिन्हें बहुत सी ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करना है, जिनकी जरूरत हमारे गांवों को रहती है।

अधिवासियों से सम्बन्धित जिस अध्यादेश का जिक्र ऊपर किया जा चुका है उसे नियमित अधिनियम का रूप दिया जाना था। इसलिए एक विधेयक में उसे समाहित किया गया था, जिसमें वे कमियां दूर करने वाले प्रावधान थे, जो जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून लागू होने के बाद के दो वर्षों में सामने आई थीं। विधान सभा में उसे पेश किया जा चुका था और पूर्ववर्ती मई महीने में प्रवर समिति को सौंपा गया था। राजस्व मंत्री चरण सिंह ने प्रवर समिति द्वारा अनुशंसित विधेयक विधान सभा में विचारार्थ पेश करते हुए 13 सितम्बर 1954 को अन्य बातों के अलावा यह कहाः

मौजूदा क़ानून के तहत अधिवासी 1952 में क़ानून लागू होने के बाद पांच साल बीत जाने पर ही भूमिधारी के अधिकार प्राप्त कर सकते थे। सरकार ने राज्य में उन क्षेत्रों को अधिसूचित करने के अपने अधिकार को भी सुरक्षित रखा जहां ज़मीन का जोतदार अपने अधिवासियों को बेदखल कर सकता था, ताकि उसकी जोत 8 एकड़ की हो जाए। इस बाद वाले प्रावधान को समाप्त किया जा रहा है तथा सीरदारी का दर्जा सभी अधिवासियों को दिया जा रहा है, इस तथ्य को ध्यान में रखे बिना कि उसके जमींदार भूमिधर हैं या सीरदार तथा इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए बिना कुछ भुगतान किए। यह एक बहुत ही क्रांतिकारी प्रस्ताव है। भविष्य में यहां सिर्फ भूमिधर और सीरदार होंगे। अवश्य ही वे असामी हमेशा रहेंगे ही, जो विकलांग भूमिधरों और सीरदारों की ज़मीन जोत रहे होंगे और उनकी संख्या बहुत कम होगी। सदन को गर्व होना चाहिए कि वह इस प्रावधान को कानूनी रूप दे रहा है। ऐसा करके इसने देश में कृषि सुधार के क्षेत्र में अग्रणी होने के अपने दावे का औचित्य सिद्ध किया है।

यह सुनिश्चित करने के लिए कि अधिवासियों को स्थायी अधिकार

देने के सरकार के इरादे के मुताबिक ही काम हो रहा है और तथाकथित 'स्वेच्छा से समर्पण' जैसी कोई बात कही नहीं, राजस्व मंत्री ने भूमि सुधार आयुक्त से राज्य के सभी ज़िला मजिस्ट्रेटों और कलक्टरों के नाम एक परिपत्र जारी करने के लिए कहा, तो आयुक्त ने राजस्व मंत्री के साथ विस्तृत बातचीत के बाद 18 अक्टूबर 1955 को वैसा ही किया। परिपत्र से उद्धरण नीचे दिए जा रहे हैं:

गोपनीय

भूमि सुधार आयुक्त,
उत्तर प्रदेश, सेक्शन–2
लखनऊ

की ओर से

उत्तर प्रदेश के सभी ज़िला अधिकारियों के नाम
(टिहरी गढ़वाल, गढ़वाल और अल्मोड़ा को छोड़कर)
लखनऊ, दिनांक, 18 अक्टूबर 1955
संख्या–144

महोदय,

समय–समय पर ज़िलों से प्राप्त रिपोर्टों से उन पूर्व अधिवासियों से भू–राजस्व की वसूली के मामले में आ रही कुछ कठिनाइयों का पता चलता है, जो उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून, 1950 के अनुच्छेद 240–ए के तहत 30 अक्टूबर 1954 को जारी अधिसूचना को देखते हुए अब सीरदार हो गए हैं। यह भी समझ लिया जाना चाहिए कि महज भू–राजस्व की वसूली से भी ज्यादा कुछ दांव पर लगा हुआ है। हो सकता है पूर्व जोतदारों और पूर्व अधिवासियों के बीच मिलीभगत हो या पूर्व–जोतदारों का दावा मान लेने के लिए वे मजबूर हों। इस तरह यह साफ संकेत मिलता है कि भू–राजस्व की वसूली के अलावा इस मिलीभगत को मात देना और समाज के उस कमजोर वर्ग को सुरक्षा प्रदान करना भी हमारा कर्त्तव्य है, जिसे बहुमूल्य अधिकार दिए जा चुके हैं।

शुरुआत ऐसे हो कि पहले फसली साल 1362 की खतौनी के अनुसार पूर्व–अधिवासियों से सम्बन्धित जमाबंदी की जांच की जाए तथा उन सभी जमाबंदी खातों को साफ–साफ चिह्नित कर लिया जाए, जिनमें दर्ज अधिवासी विधवा या नाबालिग हों।

अगला कदम जांची हुई जमाबंदियों को इस स्पष्ट निर्देश के साथ वसूली करने वाले अमीन के हाथ में देना होगा कि वह उन खातों से वसूली का प्रयास नहीं करेगा जिन्हें शारीरिक तौर पर अक्षम जोतदारों के रूप में चिह्नित किया जा चुका है। बाकी खातों के मामले में अमीन उन पूर्व–अधिवासियों से सामान्य तौर पर वसूली करेगा जो सीरदार के रूप में अपने मौजूदा दर्जे से इंकार नहीं करता और भुगतान के अपने दायित्व से नहीं मुकरता –ऐसा करते हुए वह ऐसा दबाव (उचित क़ानून के तहत) भी डाल सकता है जो जरूरी और वाजिब हो। उन जमाबंदी खातों के मामले में, जिनमें दर्ज अधिवासी खुद सीरदार होने का दावा नहीं कबूलता और फलस्वरूप भू–राजस्व चुकाने से इंकार करता है, अमीन कोई वसूली तो नहीं करेगा लेकिन सिर्फ यह टिप्पणी दर्ज करेगा कि वह व्यक्ति जोत से सम्बन्धित होने से इंकार करता है।

संक्षेप में स्थिति यह होगी कि जब तक पैरा–6 में की गई व्याख्या के अनुसार सक्षम न्यायालय द्वारा आदेश जारी नहीं किए जाते, तब तक उन खातों से जिनमें भूमिधारी स्पष्टतः शारीरिक दृष्टि से अक्षम चिह्नित है, तथा उन दर्ज पूर्व–अधिवासियों से जो सीरदार के रूप में अपना दर्जा नहीं कबूलते, भू–राजस्व की वसूली नहीं की जाएगी।

वसूली के लिए नायब तहसीलदारों का अगला कदम होगा कि वे उन गांवों का दौरा करें जहां ऐसे खाते हैं जिनमें अमीन ने भू–राजस्व चुकाने के दायित्व को नहीं कबूलने की बात दर्ज की है। नायब तहसीलदार ऐसे खाताधारियों से कोई वसूली नहीं करेगा लेकिन हर मामले की तहकीकात करेगा। वह ऐसे काश्तकारों के बयान दर्ज करेगा, यह निश्चित करेगा कि किस आधार पर दायित्व से इंकार किया जा रहा है तथा गांव में उपलब्ध साक्ष्यों से यह पता लगाएगा कि 30 अक्टूबर 1954 को किसका कब्जा था और जांच की तारीख को किसके कब्जे में है। बेहतर साक्ष्य दे सकने वाले लोग हैं–लेखपाल, भूमि प्रबंधन समिति के अध्यक्ष और सदस्य तथा आस–पास के खेतों के किसान। वसूली का नायब तहसीलदार तब अपनी जांच रिपोर्ट तैयार करेगा और हर मामले के साक्ष्यों के ज्ञापन के साथ उसे तहसीलदार के जरिए अनुमंडल अधिकारी को देगा।

मैं संक्षेप में उपरोक्त पैरा में उल्लेखित नायब तहसीलदार की जांच रिपोर्ट के महत्त्व पर रोशनी डालना चाहता हूं। यह एक खुला रहस्य है कि कुछ 'पूर्व–भूमिधारी' उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून के अध्याय 9–ए द्वारा लाए गए सुधारों को विफल करने की कोशिश में लगे रहे हैं। उनमें से कुछ ने सुधार लागू होने से पहले ही अधिवासियों

को अपनी जोते सौंप देने के लिए बाध्य किया है। कुछ ने 'भूल सुधार अभियान' का लाभ उठाते हुए बहुत से मामलों में यह प्रयास किया और शायद आज भी कर रहे हैं कि दर्ज अधिवासी जोत पर अपना कब्जा होने की बात से मुकर जाएं। सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां ऐसी हैं कि अपने नए अधिकारों से वंचित किए जाने के प्रयासों का विरोध करना पूर्व–अधिवासियों के लिए कठिन है। राजस्व प्रशासन का दायित्व है कि जहां तक हो सके वह ऐसे प्रयासों को प्रभावहीन कर दे। जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून के अनुच्छेद 240–ए के तहत अधिसूचना जारी होने की तारीख महत्त्वपूर्ण है और प्रासंगिक तथ्य यह है कि दर्ज अधिवासी का कब्जा उस तारीख को था या नहीं। अगर उस तारीख को कब्जा था लेकिन मिलीभगत या दबाव के चलते बाद में उसने कब्जा छोड़ दिया था या अब उस पर दावा नहीं करता, तो माना जाएगा कि उसने अपनी जोत समर्पित कर दी, जो फिर गांव समाज की सम्पत्ति हो जाएगी। फलस्वरूप अनधिकृत कब्जे की समाप्ति के लिए जमींदारी उन्मूलन क़ानून के नियम 115–सी से 115–एच तक सक्रिय हो उठेंगे। ऐसे मामलों में आप वसूली के नायब तहसीलदार की रिपोर्ट के आधार पर आगे बढ़ेंगे, गांव समाज के अमूल्य अधिकारों के हनन को रोकने के लिए उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून के अनुच्छेद 240–जी के तहत आपत्ति का मामला दायर करेंगे।

मैं आपसे अनुरोध करूंगा कि आप व्यक्तिगत रूप से राजस्व विभाग के नायब तहसीलदार स्तर तक के कर्मचारियों को विस्तार से इस परिपत्र के प्रावधानों के बारे में बताएंगे, जो फिर अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को यह सब बताएंगे। इस परिपत्र की अतिरिक्त प्रतियां संलग्न हैं जिन्हें नायब तहसीलदार के स्तर तक वितरित किया जाना है तथा इस सबूत के तौर पर उन सबके हस्ताक्षर ले लेने हैं कि उन्होंने इसे देख और समझ लिया है।

आपका विश्वस्त,
(ह) जे. निगम
आई. सी. एस.

इस आधिकारिक परिपत्र को बल प्रदान करने के लिए चरण सिंह ने प्रदेश कांग्रेस कमेटी को इस बात के लिए राजी किया कि वह ज़िला कांग्रेस कमेटी को यह सुनिश्चित करने की सलाह दे कि जिन गरीब किसानों को अपनी जोतों पर स्थाई अधिकार मिले हुए हैं, उन पर 'स्वेच्छिक सुपुर्दगी' के लिए दबाव नहीं डाला जाए। फिर भी इस सलाह पर सचमुच अमल

किया गया या नहीं, यह केवल अनुमान लगाने की बात है। यह सब सम्बद्ध ज़िले के कांग्रेसी नेताओं की अवधारणा पर निर्भर करता है।

फिर जो लोग गरीब अधिवासियों के जीवन निर्वाह के साधनों को हथियाना चाहते थे, उन्हें रोकने के लिए उन्होंने (चरण सिंह ने) गाजीपुर और जौनपुर ज़िले के देहाती क्षेत्रों में आयोजित दो विशाल सभाओं में घोषणा की कि अगर भूतपूर्व शोषकों ने अधिवासियों को बेदखल करने की कोशिश की, तो वे अपने अधिकारों के लिए लाठी लेकर खड़े हो जाएंगे और उनके पांव अपने खेत या खेतों पर होंगे। इस घोषणा ने गरीब किसानों का हौसला बढ़ाया।

जैसा कि पिछले पृष्ठों में संकेत किया जा चुका है, राज्य के ज्यादातर मध्यवर्ती और पूर्वी भागों के देहाती क्षेत्रों में भूतपूर्व जमींदार और काश्तकार, जिनका वहां की सामाजिक और आर्थिक सत्ता पर लगभग पूरा एकाधिकार था, समाज के उन कमजोर और गरीब तबकों को अपनी छोटी–छोटी जोतें सौंप देने के लिए डरा–धमका रहे थे, जिन्हें राज्य सरकार ने कब्जे या स्वामित्व के स्थायी अधिकार दे दिए थे। इस मामले में यानी 'स्वैच्छिक सुपुर्दगी' के मामले में डॉ० सम्पूर्णानन्द (जो पंत जी के 31 दिसम्बर 1954 को दिल्ली चले जाने के बाद से मुख्यमंत्री थे) का अपना ज़िला वाराणसी सबसे ज्यादा कुख्यात था। मुख्यमंत्री को सम्बोधित राजस्व मंत्री के दिनांक 22 अक्टूबर 1955 के निम्नांकित नोट से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

मुख्यमंत्री

इन आवेदन पत्रों पर नजर डालना चाहेंगे। इनमें से दो कम्युनिस्ट समर्थित किसान सभा से आए हैं, इसलिए अति रंजित हो सकते हैं। लेकिन अपने कर्त्तव्य से चूक जाऊंगा अगर मैं अपनी इस भावना को अभिव्यक्ति नहीं दूं कि भूतपूर्व शिकमी काश्तकारों को, खासतौर से बनारस ज़िले के उस भाग के जो कभी बनारस राज्य था, उनके क़ानूनी अधिकार दिला पाने में हम कामयाब नहीं हुए हैं। मुख्यमंत्री के पूर्ववर्ती को दिए गए पिछले नवम्बर के अपने नोट में मैंने यह दर्शाया था कि शिकमी काश्तकारों के कब्जे का क्षेत्र, जो फसली साल 1355 (1 जुलाई 1947–30 जून 1948) में 1,03,000 एकड़ था, वह फसली साल 1359 (1 जुलाई 1951–30 जून 1952) में घटकर 50,000 एकड़ पर आ गया। मुख्यमंत्री भी यह नोट देख चुके थे। इस क्षेत्र के शिकमी काश्तकारों की जोतों पर उन्हें 30 अक्टूबर 1954 को सीरदार के रूप में स्थायी अधिकार दे दिए गए थे। उस तारीख से अब तक गरीब काश्तकारों से 48,000

से ज्यादा सुपुर्दगियां प्राप्त की गई हैं मेरा दिमाग इस मामले में बिल्कुल साफ है कि इन सुपुर्दगियों में से ज्यादातर जोर–जबरदस्ती से हासिल की गईं। ज़मीन पर क़ानून द्वारा प्रदत्त अधिकार का दावा सामान्यतः कोई नहीं छोड़ता। मेरे विचार का सहभागी वह कलक्टर है जो दलितों की सहायता के लिए बहुत कुछ कर रहा है। मैं यह भी बताना चाहूंगा कि राज्य का सिर्फ यही एक टुकड़ा है, जहां इतने बड़े पैमाने पर शिकमी काश्तकार अपने अधिकारों से वंचित किए गए हैं या किए जा रहे हैं।

इन हालात के लिए एक से ज्यादा कारण जिम्मेदार हैं। एस०डी०ओ० और कुछ पुलिस अधिकारियों के रवैये निश्चित रूप से इसके दो कारण हैं। राजस्व उपमंत्री भी, जो हाल ही में उस क्षेत्र का दौरा कर चुके हैं, समस्या के प्रति एस०डी०ओ० के रवैये के बारे में ऐसी ही धारणा रखते हैं। मुख्यमंत्री को काश्तकारों की बेदखली की समस्या के बारे में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी और प्रधानमंत्री के दृष्टिकोण का पता है, जिसे उन्होंने परिपत्र में अभिव्यक्ति दी है।

गलतफहमी नहीं हो, इसलिए मैंने उस क्षेत्र में जाने या वहां सभा में भाषण करने या दूसरे कदम सुझाने से अपने आपको रोके रखा है। मुख्यमंत्री जैसा उचित समझें, करें।

(हस्ताक्षर)
चरण सिंह
22 अक्टूबर 1955

तीन साल बाद पं० जवाहरलाल नेहरू, इस तथ्य को भूलते हुए कि उनके और उनके मंत्रिमंडल द्वारा अनुमोदित पहली और दूसरी दोनों ही पंचवर्षीय योजनाओं में जमींदारों के पवित्र 'पुनर्ग्रहण के अधिकार' के तहत काश्तकारों की बेदखली का प्रावधान था, मुख्यमंत्री के नाम नीचे उद्धृत 5 सितम्बर 1957 के अपने पत्र में पुनः 'काश्तकारों की बेदखली पर रोक की सार्थकता और महत्ता' पर लौट आते हैं। जैसा कि अगले पृष्ठो में जोतदारों के मुकाबले खेत मजदूरों के बढ़ते अनुपात से सम्बन्धित आंकड़े बताएंगे, बेदखलियां पण्डित नेहरू के अपने दौर में और यहां तक कि सत्तर वाले दशक के दौरान भी बेरोकटोक जारी रहीं।

गोपनीय

संख्या 1713–पी. एम. ए 57
नई दिल्ली
5 सितम्बर 1957

प्रिय मुख्यमंत्री,

हाल ही में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में भूमि समस्या पर लम्बी बहसें चली थीं। आप में से बहुतों ने उनमें भाग लिया ही होगा। मैं फिलहाल इस समस्या के अनेक पहलुओं का जिक्र नहीं कर रहा हूं। हालांकि वे महत्त्वपूर्ण हैं। लेकिन मुझे लगता है कि जो सबसे ज्यादा अर्थपूर्ण और महत्त्वपूर्ण है, वह है काश्तकारों की बेदखली को रोकना। समय–समय पर कई राज्यों में बेदखलियां जारी रहने की और कभी–कभी बड़े पैमाने पर ऐसा होने की सूचनाएं आती रहती हैं। दरअसल जो उपाय सुझाए गए होते हैं, वे ही इस तरह की बेदखली के सबब बन जाते हैं।

मैं सोचता हूं कि हर राज्य को इस स्थिति से तत्काल और प्रभावी ढंग से निपटना ही चाहिए। अगर क़ानून में खामी है तो उसे दुरुस्त करने के लिए अभी ही कुछ किया जाना चाहिए। लेकिन क़ानून के अलावा यह प्रशासनिक ढांचा है जो मामले को प्रभावी ढंग से निपटा सकता है, अगर वह ऐसा ठान ले। मेरा ख्याल है कि ज़िला मजिस्ट्रेट और दूसरे लोग इस मामले में लापरवाह हैं। मुझे यकीन है कि वे काफी कुछ कर सकते हैं, अगर उन्हें बेदखली पर रोक के अनिवार्य महत्त्व के बारे में बताया जाए।

कांग्रेस अध्यक्ष ने खास तौर से इस तरफ मेरा ध्यान खींचा है। इस विषय को मैं उन्हीं की तरह काफी गम्भीरता से लेता हूं।

सद्भावनाओं सहित

डॉ० सम्पूर्णानन्द
मुख्यमंत्री, उत्तर प्रदेश
लखनऊ

(हस्ताक्षर)
जवाहरलाल नेहरू

मुख्यमंत्री ने उपर्युक्त पत्र 10 सितम्बर को राजस्व मंत्री के पास अनुप्रेषित किया, यह जानकारी मांगते हुए कि पिछले सात वर्षों के दौरान उत्तर प्रदेश में बेदखलियां हुई हैं या नहीं, और अगर हुई हैं तो क्या आंकड़े

मिलना सम्भव है, खासतौर से सरकार द्वारा प्रकाशित। चरण सिंह ने उत्तर इस प्रकार दिया:

मुख्यमंत्री

हमारे राज्य में उल्लेख योग्य या गिनाने लायक बेदखलियां सिर्फ बनारस ज़िले के भदोही में हुई हैं। जैसा कि मुख्यमंत्री को याद होगा, मैंने इसकी सूचना 1954 के आखिरी चरण में उनके पूर्ववर्ती को तथा 1955 के शुरू में कभी खुद मुख्यमंत्री को भी दी थी। लेकिन अपने नियंत्रण से बाहर के कुछ तत्त्वों के चलते मैं खामोश रह गया था। अगर मुख्यमंत्री चाहते हैं तो आंकड़े जुटाए जा सकते हैं।

हमारे क़ानून काफी सक्षम रहे हैं। हमने शिकमी काश्तकारों, घरेलू फार्मों के बेदखली काश्तकारों सहित सभी काश्तकारों को सुरक्षा दी है और बिना–तस्फिया–लागू के रूप में दाखिला लेने वाले तक को क़ानून की निगाह में अतिक्रमणकारी ठहराया है। योजना मंत्री श्री गुलजारी लाल ने अपने भाषण और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्यों के बीच प्रचारित नोट में भी हमारे उपायों के कारगर ढंग से लागू किए जाने का उल्लेख किया। अपने इसी नोट में उन्होंने उत्तर प्रदेश को प्रथम श्रेणी में रखा।

प्रधानमंत्री, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी या योजना आयोग द्वारा (काश्तकारों की जिस बेदखली का जिक्र अक्सर किया जाता है वह उत्तर प्रदेश की अपेक्षा कुछ अन्य राज्यों में हुई है। मैं मुख्यमंत्री का ध्यान श्री गुलजारी लाल नन्दा के नोट के बगल वाले हिस्से की तरफ ले जाना चाहूंगा। दूसरे राज्यों में काश्तकार ज्यादातर जमींदारों और काश्तकार–प्रमुखों या प्रशासन की ढिलाई के चलते बेदखल हुए हैं। हमने अपने राज्य में पुनर्ग्रहण के अधिकार को मान्यता नहीं दी है और पूरे प्रशासन तंत्र को पता है कि अपनी नीतियों को अमली रूप देने और भूमि सुधारों के अपने इरादों को वास्तविकता प्रदान करने के मामले में सरकार कितनी सजग है।

(हस्ताक्षर)
चरण सिंह
10 सितम्बर 1957

डॉ० सम्पूर्णानन्द ने प्रधानमंत्री को उत्तर इस प्रकार दिया:

डी. ओ. नं. ए/534/57

लखनऊ
1/4 अक्टूबर 1957

प्रिय प्रधानमंत्री,

कुछ समय पहले आपने उन शिकायतों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए एक पत्र मुझे भेजा था, जो काश्तकारों की बेदखली के बारे में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की पिछली बैठक में और अन्यत्र भी चर्चा का विषय बनी थीं। आपको याद होगा कि राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थायी समिति की पिछली बैठक में भी यह सवाल उठा था। जैसा कि वहां की बहसों से स्पष्ट होगा, उत्तर प्रदेश में काश्तकारों की बेदखली का सवाल ही नहीं उठता क्योंकि हमारा काश्तकारी क़ानून किसी भी स्तर पर पूर्व बिचौलियों द्वारा पुनर्ग्रहण का कोई प्रावधान नहीं रखता। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की पिछली बैठक में प्रचारित भूमि सुधारों से सम्बन्धित नोट में जैसा कि उल्लेख किया गया था, उत्तर प्रदेश भारत के उन दो राज्यों में एक है, जहां "सभी काश्तकारों को राज्य के साथ सीधे सम्पर्क में लाया गया है और पूरी सुरक्षा दी गई है।" 1954 और 1955 में तथाकथित स्वैच्छिक सुपुर्दगी के कुछ मामले भदोही में हुए थे, जो पुराने बनारस राज्य का एक भाग है और अब वाराणसी ज़िले में मिल चुका है। तब से ऐसा कोई मामला सामने नहीं आया है।

सद्भावनाओं सहित

श्री जवाहरलाल नेहरू
प्रधानमंत्री
नई दिल्ली

(हस्ताक्षर)
सम्पूर्णानन्द

जैसा कि असावधान पाठक भी लक्ष्य करेंगे, मुख्यमंत्री का यह स्वीकार करना कि 1954 या 1955 में भदोही में तथाकथित सुपुर्दगी के कुछ मामले हुए थे, तथ्य की दृष्टि से गलत था।

७

कमजोर और पिछड़े वर्गों को भूमि सुधारों से लाभ

पिछड़ा वर्ग सम्मेलन हालांकि सभी पार्टियों के कार्यकर्ताओं के लिए खुला था, मगर उसके तेवर कांग्रेस–विरोधी नहीं थे, उसमें दरअसल कांग्रेसियों का बोलबाला था। फिर धीरे–धीरे शोषित संघ की, जो ज्यादातर वंचित वर्गों के विक्षुब्ध युवा लोगों का संगठन था, उसमें प्रमुखता होने पर उसके आर्थिक और राजनीतिक क्षितिजों का व्यापक विस्तार हुआ। लेकिन सामाजिक सोपान के निचले डंडों पर स्थित लोगों के खिलाफ प्रभुता सम्पन्न या ऊंची जाति के हिन्दुओं का पूर्वाग्रह उस स्थिति तक पहुंच चुका था कि जब चरण सिंह ने जून 1956 में फैजाबाद ज़िले के गोसाईगंज में होने वाले पिछड़े वर्गों के राज्यस्तरीय सम्मेलन की बैठक में भाग लेने का फैसला किया, तो प्रदेश कांग्रेस कमेटी के तत्कालीन अध्यक्ष श्री मुनीशर दत्त उपाध्याय ने उनके लिए उस सम्मेलन में नहीं भाग लेने का लिखित आदेश जारी कर दिया। फिर भी उन्होंने उस सम्मेलन में भाग लिया और अध्यक्ष को लिखा कि अगर उनका यह कदम अनुशासनहीनता का द्योतक या किसी भी तरह जनहित या कांग्रेस हित के विरुद्ध किया गया आचरण साबित हो पाए, तो वे अनुशासनात्मक कार्रवाई को झेलने के लिए तैयार हैं। अंततः श्री उपाध्याय की समझ में आ गया कि बहादुरी दिखाने से बेहतर है विवेक से काम लेना और उन्होंने उस अधिसूचना पर जोर नहीं दिया जो उन्होंने जारी की थी।

बड़े अचरज की बात है कि भूमि सम्बन्धी समस्या के बारे में चरण सिंह की जो समझ थी, उसके प्रति उनका जो रुख था, उसे तीन निर्दोष स्रोतों से पुष्टि मिली, जैसे जनगणना रिपोर्ट 1951, और जैसा कि पाठक आगामी पृष्ठों पर नई दिल्ली से निकलने वाले दैनिक इंडियन एक्सप्रेस और पेट्रियाट को उनके संवाददाताओं द्वारा 1981 में प्रेषित दो संवादों में देखेंगे।

जनगणना रिपोर्ट 1951 चरणसिंह के रुख का दो तरह से समर्थन करती हैः प्रथम नीचे दी गई तालिका 7.1 दर्शाती है कि उत्तर प्रदेश में

प्रत्येक 100 कृषिकर्मियों (बिना मजदूरी लिए काम करने वाले पारिवारिक सदस्यों सहित) में किसानों के परिवारों के कृषिकर्मियों और खेत मजदूरों के परिवारों के कृषिकर्मियों का अनुपात 1931 के 82:18 से बदलकर 1951 में 90:10 हो गया।

तालिका 7.1

	संख्या लाखों में		
	1931	1951	वृद्धि+ कमी–
कृषि कर्मियों की कुल संख्या (बिना मजदूरी वाले पारिवारिक सहायक सहित):			
[I] खेतिहर किसान	141	179	+38
[II] खेतिहर मजदूर	31	20	–11
	172	199	+27

नोटः भारतीय जनगणना, 1952 का दस्तावेज I (अंतिम जनसंख्या तालिकाएं) के अनुसार पूरे देश में खेतिहरों के साथ मजदूरों का अनुपात वर्ष 1951 में 27:100 (बाद के आंकड़े में 1.0 से 1.25 प्रतिशत खदानों में कार्यरत मजदूर शामिल) था।

स्रोतः द सेंसस रिपोर्ट आफ इंडिया, 1951 खंड–1 भाग–1 बी, पृष्ठ 210

अब ऊपर की तालिका–7.1 में निहित खेतिहरों और खेतिहर मजदूरों के इस अनुपात की व्याख्या जरूरी है। उत्तर प्रदेश के सेंसस आपरेशन के सुपरिटेंडेंट द्वारा इस सम्बन्ध में भारत के पदेन जनसंख्या आयुक्त को पेश की गई रिपोर्ट के अनुसार राज्य में खेतिहर मजदूरों की संख्या में 1931 के मुकाबले 1951 में कमी हो जाने के पीछे यह तथ्य जिम्मेवार है कि "बहुत से लोग जिन्हें कल तक महज मजदूर कहा जाता था, बावजूद इसके कि वे जमींदार की सीर या खुदकाश्त ज़मीनें जोत रहे थे, वे ही अब विधायी और प्रशासनिक उपायों के फलस्वरूप अपनी जोत की ज़मीन के काश्तकार के रूप में अपने नाम दर्ज करा पाने में कामयाब हुए।" उन्होंने आगे "मध्यवर्ती मैदानी प्रभाग में खेतिहर मजदूरों की संख्या में उल्लेखनीय गिरावट" का जिक्र करते हुए कहा कि यह "इस तथ्य के चलते हुई कि भूमि सुधार क़ानून की बदौलत बहुत से भूतपूर्व मजदूर तालुकेदारी वाले ज़िलों में काश्तकार बन गए थे।" इसमें यह जोड़ा जा सकता है कि उत्तर

प्रदेश सेंसस आपरेशन के सुपरिटेंडेंट ने जिन "विधायी और प्रशासनिक उपायों" का जिक्र किया था, उन्हें 1946 में ही कांग्रेस के सत्ता में आने के तुरन्त बाद पांच–साला अवधि में अपनाया गया था।

दूसरे, सेंसस रिपोर्ट 1951 जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून से हरिजनों को हुए लाभों की व्याख्या इस प्रकार करती हैः भाग–II, खंड I–ए में दी गई तालिका यानी संख्या 383 के अनुसार उत्तर प्रदेश में सामान्य आबादी की तुलना में अनुसूचित जातियों की आजीविका ढांचा निम्न प्रकार हैः

तालिका 7.2

	आबादी	
आजीविका वर्ग	सामान्य	अनुसूचित जाति
सारे वर्ग	1000	1000
सारे कृषक वर्ग	742	785
पूर्णतः या मुख्यतः स्वामित्व वाली ज़मीन के किसान और उनके आश्रित	623	525
पूर्णतः या मुख्यतः बिना स्वामित्य वाली ज़मीन के किसान और उनके आश्रित	51	84
खेतिहर मजदूर और उनके आश्रित	57	172
खेती नहीं करने वाले भू–स्वामी खेती का लगान पाने वाले, और उनके आश्रित	11	4
गैर कृषि वर्ग (आश्रितों समेत)	258	215

स्रोतः द सेंसस रिपोर्ट आफ इंडिया, 1951, भाग–II खंड I–ए।

भूमि अगर पुश्तैनी दखलकारी के अधिकार के साथ किसी काश्तकारी के अन्तर्गत जोत में थी, तो वह 'स्वामित्व प्राप्त' समझी गई, भले ही किसी और को देने का अधिकार उसमें निहित नहीं रहा हो। किसी और तरह की काश्तकारी वाली भूमि को 'स्वामित्वरहित' माना गया ताकि सारे अधिवासी काश्तकार–जोतदारों के आजीविका वर्ग–II के अन्तर्गत आ सकें।

अब, उत्तर प्रदेश के राजस्व रिकार्डों में फसली साल 1352 (30 जून

1947 को समाप्ति) के दौरान दर्ज खुदकाश्त वाले काश्तकारों, शिकमी काश्तकारों के साथ–साथ लगान–मुक्त अनुग्राहियों और रियायती दर से निर्धारित लगान चुकाने वाले अनुग्राहियों तथा बाकायदा अनुमति प्राप्त किए बिना खेती कर रहे जोतदारों अर्थात वे सारे जोतदार जिनका भूमि पर कब्जा बहुत कुछ भूस्वामी की मर्जी और सहूलियत पर निर्भर था तथा जिनके नाम खतौनी के भाग–II में दर्ज किए गए थे। उनकी संख्या 41 लाख 20 हजार थी और 36 लाख 60 हजार एकड़ भूमि पर उनका दखल था (जमींदारी उन्मूलन समिति की रिपोर्ट, 1948 के भाग–II का वक्तव्य–6 देखें)। फिर भी चूंकि उपर्युक्त व्यक्तियों की गणना एकाधिक बार हुई थी और क्योंकि विभिन्न पट्टादाताओं और भूस्वामियों के एक से अधिक भूखंड उनके पास थे, इसलिए इन जोतदारों की संख्या उससे काफी कम थी जो ऊपर दिए गए आंकड़े बताते हैं–राजस्व के कागजात में दर्ज उनकी संख्या 41,21,400 से 2/5 कम हो सकती है।

जमींदारी उन्मूलन समिति की रिपोर्ट 1948 में दिखाई गई स्वामित्वरहित जोतों के जोतदारों की यह संख्या फिर भी सिर्फ उन्हीं क्षेत्रों से सम्बन्ध रखती है जहां जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून बुनियादी तौर पर लागू किया गया था। इस संख्या में रामपुर, बनारस की रियासतों, कासवर राज परगना, दूधी क्षेत्र, विलयित इलाकों और अन्य सरकारी भूसम्पत्तियों के साथ–साथ अल्मोड़ा और गढ़वाल ज़िलों और कुमायूं डिवीजन के नैनीताल ज़िले की पहाड़ी पट्टियों में पड़ने वाली जोतों की संख्या भी जरूर जोड़ी जानी चाहिए। इन क्षेत्रों के जोत–दारों की संख्या आसानी से 50 हजार से अधिक मानी जा सकती है, जिसे मिलाने पर कुल संख्या लगभग 50 लाख होगी। इस हिसाब में बहुत से ऐसे जोतदारों की संख्या भी जोड़ी जानी है, जिनके नाम बाद में 1952–54 के दौरान छेड़े गए भूमि–रिकार्डो में 'भूल सुधार अभियान' के फलस्वरूप राजस्व रिकार्डों में दर्ज किए गए थे।

जमींदारी उन्मूलन समिति की रिपोर्ट के भाग–II के पृष्ठ 8 पर दी गई तालिका–6 (खतौनी, भाग–II) में गिनाए गए जोतदारों के अलावा जोतदारों के दो और वर्ग, हरिजन और गैर–हरिजन दोनों, भी थे जिनकी ज़मीनें पहले दी गई तालिका के आजीविका वर्ग–II की परिभाषा के अन्तर्गत आती थीं, अर्थात (क) राजस्व के खातों में दर्ज गैर–दखली काश्तकार जिनकी संख्या 2,29,000 थी और वर्ष 1945–46 के दौरान जिनके अधीन कुल 2,35,000 एकड़ का क्षेत्र पड़ता था, तथा साथ ही (ख) वे भी जिनके नाम 1950 में दर्ज नहीं थे, जो जनगणना के आंकड़ों से सम्बद्ध थे, मगर बाद में जिन्हें अधिवासियों के अधिकार में समाविष्ट कर लिया गया। जाहिर है कि इन

काश्तकारों की जोतों की संख्या, जो अवश्य ही ध्यान देने योग्य है, ऊपर दी गई संख्या 41 लाख 20 हजार के बाहर है।

हो सकता है कि कुछ आलोचक यह तर्क उछालें कि राजस्व खाते के मुताबिक चूंकि औसत अधिवासी के पास सिर्फ हर एकड़ का दसवां हिस्सा है और चूंकि यह रकबा एक परिवार के गुजर–बसर के लिए नाकाफी है, इसलिए यह सुधार या उपाय व्यवहारतः किसी काम का नहीं। लेकिन, ऐसा है नहीं, क्योंकि इसके दो काफी अच्छे कारण हैं, जैसे, प्रथम, इस तरह से दर्ज हर अधिवासी के पास दो या अधिक जोतें हैं जिनसे प्रति परिवार का औसत दो एकड़ या ऐसा ही कुछ हो जाता है। दूसरे, श्री श्रीकांत आप्टे के सूरत (गुजरात) से तीन मील दूर रांदेर स्थित चौथाई एकड़ के फार्म के नीचे दिए गए उदाहरण से–जिसे हालांकि अन्तिम बिंदु का मामला समझा जा सकता है–स्पष्ट होगा कि एक एकड़ अच्छी ज़मीन लगातार मेहनत मिलने पर एक परिवार को रोटी कपड़ा देने में समर्थ हो सकती है। हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली के एक संवाददाता ने 29 जनवरी 1957 के अंक में इस प्रकार लिखाः

> वह अपने जीवन की सारी जरूरतें–खाना और कपड़ा पूरी करने के लिए अपने भूखंड पर खेती इस ढंग से करता है कि सालाना 400 रुपये की बचत भी हो जाती है। वह अपनी ज़मीन पर औसतन प्रतिदिन चार घंटे हाथ के औजारों से (बिना बैलों के) काम करता है, सिंचाई के लिए डेढ़ मील दूर की नदी से पानी सिर पर ढोकर लाता है। जिस खाद का वह उपयोग करता है, वह उसके अपने ही मल–मूत्र और उसकी बकरियों की लीद से उपलब्ध होती है, जिनके लिए चारा खेत के बाड़े की क्रमिक कटाई–छंटाई से मिल जाता है। बकरियों के लिए चारा जुटाने के क्रम में एक चक्र पूरा करने में छः सप्ताह लगते हैं और इस बीच कटाई–छटाई का अगला चक्र शुरू करने के लिए बाड़ा तैयार हो जाता है।
>
> श्रीकांत पिछले पांच साल तक इसी तरह अपने खेत में काम करता रहा और अब मानो आधुनिक कृषि उत्पादों के मामले में पीछे नहीं रहने की धुन में नयी कृषि तकनीकों और कृत्रिम खाद का प्रयोग करते हुए वह अपने खेत में बड़े–बड़े आकार की उत्कृष्ट सब्जियां उगाने लगा है। कभी तीन फुट से चार इंच कम लम्बी गाजर आपने देखी है? अगर नहीं तो रांदेर में आप्टे के खेत पर चले जाइए। सिर्फ विशालकाय गाजर ही नहीं, दैत्याकार मूलियां (प्रत्येक का वजन 5 पौंड) और शुतुरमुर्ग के अंडे जितने बड़े एक–एक पौंड वजन वाले प्याज भी आपको वहां मिलेंगे।

> कपास आप्टे की नकदी फसल है। वह सिर्फ 20 पौधे लगाता है जो डेढ़ से पौने दो मन तक रुई देते हैं। लगभग 10 सेर से उसकी निजी जरूरत पूरी होती है, बाकी को वह बेच डालता है, जैसे कि अपनी फालतू सब्जियां बेच देता है। इसी तरह वह सालाना 400 रुपये अतिरिक्त कमा लेता है जिनसे अपने गांव में वह एक बालमंदिर और एक पुस्तकालय चलाता है।

श्रीकांत आप्टे अपने खेत में साल भर में सिर्फ नौ महीने काम करता है। आचार्य विनोबा भावे ने उससे अपनी तकनीक का प्रचार करने के लिए कहा है, जिसके बारे में आप्टे का दावा है कि उसे अपनाना 'हर आदमी के लिए सम्भव' है। आचार्य विनोबा ने इसे 'भूदान की व्यावहारिक किताब की भूमिका' कहा है।

फिर, 1956 से, जिस वर्ष से श्री आप्टे के फार्म के आंकड़े सम्बन्ध रखते हैं, कृषि के क्षेत्र में महान तकनीकी प्रगति हुई है, जैसा कि जापान और अन्य देशों के उदाहरण बताते हैं एक एकड़ से आज उसका दो गुना उत्पादन मिल सकता है जितना 20 साल पहले मिलता था।

'इंडियन एक्सप्रेस' के नवम्बर 1981 के अंक में प्रकाशित नीरज राय के 'इन यू० पी० डकैत्स डेनः गवर्नमैंट पर्सक्युटिंग द यादवास' (उत्तर प्रदेश में डकैतों के अड्डे पर सरकार द्वारा यादवों का उत्पीड़न) शीर्षक लेख में कहा गया हैः

> लम्बे समय से यह वास्तविकता रही है कि इस राज्य में ऊंची जाति के लोग समृद्ध रहे हैं और रुपया पैसा ब्राह्मणों और ठाकुरों के पास रहा है। राज्य में भूमि सुधार लागू होने पर यादव,* जो पिछड़े हुए थे, साठ** वाले दशक के आखिरी वर्षों में छोटी–छोटी जोतें हासिल करने लगे।
>
> यादवों की समृद्धि के फलस्वरूप मैनपुरी के बहुत से क्षेत्रों में कई ब्राह्मण अपनी ज़मीनें बेचकर अन्य ऐसे क्षेत्रों में जा बसे हैं जहां उनकी अपनी ही बिरादरी के लोग ज्यादा संख्या में रहते हैं।
>
> नीचे पैट्रियट, नई दिल्ली के 27 नवम्बर 1981 के अंक में प्रकाशित सलाहुद्दीन उस्मान के लेख का एक अंश दिया जा रहा हैः

---

* उत्तर प्रदेश में अनुसूचित जातियों को छोड़कर पिछड़े वर्गों में यादवों का समुदाय बहुसंख्यक है।

** 'पचास' को 'साठ' बताना चूक है।

> जमींदारी उन्मूलन के समय इस क्षेत्र में जमींदार आम तौर पर ऊंची जातियों के लोग थे। फिर हमारे ठाकुर या 'ब्राह्मण' डकैत थे जिन्होंने भूमि के प्रतिद्वंद्वी दावेदार की हत्या करके बन्दूक और बीहड़ दर्रे चुन लिए थे। जमींदारी उन्मूलन के बाद ज़मीन वास्तविक खेतिहर वर्गों, यादवों और केवटों, के हाथ में चली गई तो यादव और केवट गिरोहों का उदय हुआ। ठाकुर अब भी थे, मगर अपनी भूसम्पत्तियों और बड़ी–बड़ी जोतें खोकर पीछे की तरफ खिसक गए। फिर भी, अपना अस्तित्व उन्होंने खो नहीं दिया। उनमें सन्तोष और राधे जैसे छोटे डकैत थे, जिन्होंने देवली हत्याकांड को अंजाम दिया था।

दोनों संवाददाताओं ने अपनी–अपनी रिपोर्टों में जो कुछ कहा है, उससे कोई सहमत हो या नहीं हो, मगर एक बात साफ है। राज्य सरकार द्वारा भूमि सुधारों के उपाय किए जाने के फलस्वरूप पिछड़े वर्ग अब समाज में दोयम दर्जे की भूमिका निभाने को तैयार नहीं हैं। कोई भी उन्हें 'छोटी जात' या 'नीची जात' का कहकर बुला नहीं सकता, जैसा कि तथाकथित ऊंची जातियों के लोग, खास तौर से उत्तर प्रदेश के पूर्वी हिस्सों में, कहा करते थे।

८

जोतों की चकबंदी

मुख्य रूप से भूमि पर पड़ते दबाव, हमारे उत्तराधिकार के क़ानूनों तथा पुराकालीन गांव के बड़े बुजुर्गों की आकांक्षा के चलते, जबकि मनुष्य ने प्रकृति पर आज जैसी विजय नहीं हासिल की थी और इसी कारण सिंचाई के साधन और कृषि की अन्य सुविधाएं प्राप्त करने में असमर्थ था, तब कुछ किसानों के पास सारी अच्छी ज़मीन न चली जाए और दूसरों के पास घटिया ज़मीन ही न रह जाए या सारी ज़मीन पर एक ही तरह की फसल न उगाई जाने लगे, इसे रोकने के लिए गांव की सारी कृषि योग्य भूमि छोटे–छोटे खेतों में बंटती गई और आज भी बंटी और बिखरी हुई है। इस तरह की प्रणाली में असुविधाएं इतनी ज्यादा हैं कि कृषि अर्थनीति के विशेषज्ञों ने एक स्वामी के बिखरे खेतों को एक ही भूखंड में चकबंदी करने या किसी भी तरह भूखंडों की संख्या कम करने को कृषि विकास की दिशा में पहला कदम माना है। भूमि की चकबंदी के परिणाम स्वरूप कृषि उत्पादन के तीनों तत्त्वों–भूमि, पूंजी और श्रम–की उत्पादकता में बढ़त होती है।

सिंचाई और जल की निकासी पर नियंत्रण रखना इससे आसान होगा और फलस्वरूप भूमि का बेहतर उपयोग होगा। अभी तो खेत इस तरह जहां–तहां बिखरे हुए हैं कि किसी किसान के लिए अक्सर खेत में, कुआं खोदना तक सस्ता नहीं पड़ता और बहुत सारे किसानों के लिए यह आसान नहीं होता कि वे मिल–जुलकर कुआं खोद लें और उसका इस्तेमाल करें। राज्य द्वारा जहां नहर और ट्यूबवैल से सिंचाई की सुविधाएं उपलब्ध की गई हैं, वहां भी खेत छोटे–छोटे और इधर–उधर बिखरे होने के परिणामस्वरूप पानी की बहुत बरबादी होती है। किसी के भी बहुत सारे खेतों तक लम्बे–लम्बे नालों के जरिये पानी पहुंचाना पड़ता है।

चकबंदी मेंड़ों की संख्या को घटाएगी और इस तरह ज़मीन की बचत करेगी। फिर, ज़मीन अगर एक जगह होगी तो चोरों और जानवरों आदि का अतिक्रमण रोकने के लिए उसे बाड़ आदि से घेरा जा सकेगा। कृतंकों और टिड्डियों जैसे कीटों तथा बीमारियों पर काबू पाना तब कम

मुश्किल होगा। इस तरह ज़मीन जो कुछ भी पैदा करती है, उसकी बेहतर देखभाल और सुरक्षा हो पाएगी।

सीमा रेखा को लेकर, सिंचाई और जल निकासी के अधिकार को लेकर तथा भूमि के खातों में हुई चूकों के–जो एक ही व्यक्ति की जोत में अनेक छोटे–छोटे खेतों के रहने पर हो सकती हैं –चलते उठने वाले सारे विवाद लगभग खत्म हो जायेंगे और इस तरह मुकदमेबाजी और उस पर होने वाली पैसे की बर्बादी बीते युग की बात रह जायेगी। बैलों का, जो भारतीय किसान की मुख्य पूंजी है, बेहतर उपयोग हो सकेगा क्योंकि आज एक छोटे खेत से दूसरे छोटे–छोटे खेतों तक उन्हें हांक कर ले जाने में जो समय की बरबादी होती है, उसे बचा लिया जाएगा।

मानव–श्रम भी अधिक सक्षम ढंग से लगाया जा सकेगा। बैलों को हांक कर एक खेत से दूसरे खेत तक ले जाने में समय सिर्फ बैलों का नहीं बल्कि स्वयं किसान का भी नष्ट होता है। उत्तर प्रदेश में बस्ती ज़िले की एक तहसील डुमरियागंज में औसतन एक किसान के पास तीस खेत (भूखंड) थे, जिनका कुल रकबा मुश्किल से 3.5 एकड़ हो पाता था। इसका मतलब है कि औसतन एक खेत का रकबा 500 वर्ग गज या इसी के आस–पास था। जब इन तीस खेतों को मिलाकर दो या तीन बड़े खेतों में बदल दिया गया, तब आज तक जो मानव–श्रम–बरबाद होता रहा और जिसे अब बचा लिया गया है, उसकी सिर्फ कल्पना की जा सकती है।

चकबंदी के बाद किसान को खेती के सारे औजार अपने चक या जोत पर ले जाने होंगे, जहां वह एक या कई मकान और पशुओं के बांधने रहने की जगह–बनवा लेगा, भूसा और दूसरे चारे जमा करके रखेगा, गड्ढे में खाद इकट्ठी करेगा, दांवनी के लिए जगह सुरक्षित रखेगा और गन्ने का रस निकालने के लिए साधरण–सा कोल्हू बैठा लेगा। वहीं से वह अपनी उस ज़मीन पर खेती के कामकाज करेगा जो अब उसके आस–पास ही और उसकी पहुंच के भीतर है। उसकी ज़मीन, उसका पैसा या जो भी पूंजी वह खेती में लगा पाने में समर्थ है, उसका तथा उसके बैलों का श्रम–सबका बेहतर उपयोग और दोहन हो पाएगा। वह पहले से कहीं ज्यादा निगरानी रख पाएगा। जो खेती इन स्थितियों में होगी वह इंग्लैंड और दूसरे देशों की आवासीय क्षेत्र वाली खेती की तरह होगी और उपज कहीं ज्यादा देगी।

दरअसल, जोतों की चकबंदी एक ऐसी स्थिति है जो ग्रामीण क्षेत्र के सभी या किसी भी विकास के पहले आती है। जमींदारी प्रथा के उन्मूलन, राज्य–भर में सामान्य और एकरूप भू–काश्तकारी के प्रवेश तथा अधिवासियों की समस्या के समाधान ने सुधार के रास्ते प्रशस्त कर दिये हैं।

उत्तर प्रदेश की सरकार ने 1953 में जोत चकबंदी क़ानून बनाया और जो उसके अगले साल अमल में आया। सरकार ने समय बरबाद किये बिना आवश्यक पूर्णकालिक कर्मचारियों की भर्ती की और उन्हें प्रशिक्षित किया।

पांच स्तरीय–हर निचला स्तर तुरन्त बाद के उच्चतर स्तर की प्रत्यक्ष निगरानी में–कर्मचारीवृन्द उपलब्ध किये गए, जिनके लिए सम्बन्धित गांव में या आस–पास ही कहीं निवास करना जरूरी था। हर गांव में चकबंदी समितियां नियुक्त की गईं, जो गांव पंचायत की उपसमितियां थीं। चकबंदी कर्मचारियों को कदम–कदम पर इन समितियों के साथ सलाह–मशविरा करना था। ज़िला स्तर पर चकबंदी के लिए कलक्टर की अध्यक्षता में एक ज़िला सलाहकार समिति भी थी। इसके सदस्य अन्य लोगों के अलावा विधान सभा के क्षेत्रीय प्रतिनिधि और सैटलमेंट अधिकारी थे।

उत्तर प्रदेश के योजना सलाहकार सर अलबर्ट मायर ने विकास आयुक्त, उत्तर प्रदेश को अपने 3 सितम्बर 1955 के पत्र में चकबंदी की कार्यवाहियों के बारे में अपनी भावना को इस प्रकार व्यक्त किया:

> "खेतों की चकबंदी का प्रयास जारी देखकर मुझे लगता है कि एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और लगभग क्रांतिकारी कार्य सम्पन्न किया जा रहा है, और जैसा कि उन्नाव में मैंने लक्ष्य किया, कर्मचारीगण अच्छा काम कर रहे हैं, खास तौर से यह गौर करते हुए कि उनमें से कितने ही नये रंगरूट हैं।"

फिर भी, यह उनका और उत्तर प्रदेश के किसान वर्ग का दुर्भाग्य था कि चकबंदी योजना का जोरदार विरोध हुआ, न केवल सोशलिस्ट पार्टी के सदस्यों द्वारा बल्कि चरण सिंह के कुछ अपने सहयोगियों द्वारा भी। उनका आरोप था कि यह लोकप्रिय नहीं हुई और कांग्रेस सरकार के नाम पर इससे बट्टा लग गया। अतः अप्रैल 1956 में उनके इस्तीफा देने के एक सप्ताह के भीतर ही डा० सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता वाली राज्य सरकार ने राजस्व विभाग में उनके उत्तराधिकारी ठाकुर हुकुम सिंह का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि इस योजना का संचालन स्थगित कर दिया जाए। एक महीने के भीतर ही इस फैसले को रद्द करना पड़ा था क्योंकि किसान हाय–तौबा मचाने लगे थे और राष्ट्रीय योजना आयोग ने इस योजना को फिर से चालू करने का आग्रह किया था। फिर भी यह अनेक में से एक उदाहरण है जो चरण सिंह के सहयोगियों की समस्याओं को या जनता के प्रति उनकी चिन्ता को समझने के लिए एक टिप्पणी का काम करता

है। आज निर्विवाद रूप से यह माना जाता है कि जोतों की चकबंदी राज्य के किसानों के लिए एक महान वरदान रही है।

दूसरे मुद्दे पर जाने से पहले यह उल्लेख प्रासंगिक होगा कि राजस्व मंत्री द्वारा सार्वजनिक दायित्व के रूप में जो योजनाएं और उपाय अमल में लाए गए उनमें जोतों की चकबंदी में भ्रष्टाचार की गुंजाइश सबसे ज्यादा थी। बहुत से भू–स्वामियों के पास अलग–अलग तरह की ज़मीन होना और अपने उन भूखंडों से लगाव रखना–ये भ्रष्टाचार के प्रमुख कारक हैं। ये दोनों ही तत्त्व चकबंदी कर्मचारियों को नाजायज लाभ कमाने के पर्याप्त अवसर देते हैं। लेकिन चरण सिंह की जैसी कि आदत थी, उन्होंने योजना के इस पहलू पर कड़ी चौकसी बरती। विपक्ष ने भी विधान सभा में इस तथ्य को स्वीकार किया।

किसानों की आर्थिक स्थिति पर भू–जोतों की चकबंदी के लाभकारी प्रभाव का पता अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कृषि विशेषज्ञ वुल्फ लैंडजिस्की की उन टिप्पणियों से चलता है, जो उन्होंने फोर्ड फाउण्डेशन के सामने रखी थीं। इस फाउण्डेशन ने भारत के हर राज्य के एक–एक ज़िले में आई. ए. डी. पी. (इन्टेन्सिव एग्रीकल्चरल डवलपमेंट प्रोग्राम) के लिए धन जुटाया था। उत्तर प्रदेश में ज़िला अलीगढ़ को चुना गया था।

एक और तथ्य है जिसे कार्यक्रम के अनुकूलन के लिए काम करना चाहिए, एक ऐसी अनुकूलता जिससे अलीगढ़ के सभी किसान लाभ उठा सकें। हमारा संकेत कृषि सुधार के एक अन्य पहलू की ओर है, यानी अलीगढ़ में भूमि की चकबंदी का जोरदार और कामयाब कार्यक्रम। यह काम इस ज़िले में 1955 में शुरू हुआ। कोई भी यात्री इसकी उपस्थिति से अनजान नहीं रह सकता, और हमने जो कुछ देखा है, उससे इस जानकारी पर सवाल नहीं उठ सकता कि गांवों में 75 प्रतिशत काम पूरा हो चुका है। यह काम 1963–64 की ग्रीष्मकालीन फसल तक पूरा हो जाना है। जिन गांवों में यह काम दो वर्ष पहले पूरा हो गया था, वहां इस कार्यक्रम का असर हमारे लिए बिल्कुल साफ था। इसके सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम का पता उन नये कुओं से चलता है, जो किसान अपनी चकबंद ज़मीन पर बनाते जा रहे हैं। एक गांव में इस कार्यक्रम के पूरा होने पर 28 कुएं बनाये जा चुके थे। वे कुएं 1200 से 2000 रुपये तक की लागत होने के कारण महंगे हैं और अपर्याप्त ऋण तथा ईंटों और सीमेंट की अपर्याप्त आपूर्ति की समस्या नहीं रहे तो जल्द आने वाले वर्षों में ही अलीगढ़ उनसे अट जाएगा। फिलहाल, अलीगढ़ के 500,000 सिंचित एकड़ में से 200,000 एकड़ को पानी सतही कुओं से ही मिलता है। किसान के लिए यह 'अनुभूत आवश्यकता' है और यह एक इस प्रकार की सिंचाई है जिस

पर उसका अपना नियंत्रण है। निम्नांकित प्रश्न और उत्तर इसका निचोड़ हैं; क्योंकि किसान के लिए पानी और खास तौर से उसके अपने कुएं का पानी जो अर्थ रखता है वैसा कुछ और नहीं रखता। हमने कहा, "मान लें कि हम आपको 1500 रुपये देते हैं। उन्हें आप अपनी बेटी के विवाह पर खर्च करेंगे या कुएं की खुदाई पर।" किसान ने उत्तर दिया, "मैं एक कुआं खोद लूंगा। मेरे खेत में कुआं होगा तो मुझे अपनी बेटी के लिए वर नहीं ढूंढन पड़ेगा, वही खुद उसे ढूंढ लेगा।"

९

केरल की स्थिति के साथ तुलना

उत्तर प्रदेश में जिन भूमि सुधार के उपायों को अमली रूप पचास वाले दशक के मध्य में दिया गया, वह अपने चरित्र में केरल के कम्युनिस्ट मंत्रिमंडल द्वारा स्थापित 1957 के एग्रेरियन रिलेशंस बिल के मुकाबले कहीं ज्यादा क्रांतिकारी और दूरगामी थे। उत्तर प्रदेश के राजस्व सचिवालय द्वारा तैयार किए गए नोट से इस बात का खुलासा हो जाएगा, जिसमें केरल बिल, जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून का तुलनात्मक अध्ययन किया गया था। इस नोट को सरकारी फाइल में रखा गया था। चरण सिंह इस नोट के आधार पर अखबारों के लिए लेख लिखना चाहते थे, लेकिन समयाभाव के चलते वैसा नहीं कर पाये। नोट नीचे दिया जा रहा है।

केरल एग्रेरियन रिलेशंस बिल और उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन एवं भूमि सुधार क़ानून 1950 का तुलनात्मक अध्ययन

राजस्व (अ) फाइल सं. 2174 / 57

1. केरल में जमींदारी को उन्मूलित करना प्रस्तावित नहीं है। इसका सबूत बिल अपने आप ही दे देता है कि इसका नाम एग्रेरियन रिलेशंस बिल है। बिना जोती हुई भूमि अभी भी जमींदारों के हाथ में रहेगी और उसे ग्राम समुदाय को नहीं सौपा जाएगा जैसा कि उत्तर प्रदेश में किया गया है। रैय्यत, जिन्हें क्रय मूल्य चुकाना है, फिर भी रैय्यत ही रहेंगे। बहुत से स्थायी काश्तकार और ज्यादातर अधीनस्थ काश्तकार इस प्रकार बिल में निहित लाभों से वंचित रहेंगे।

2. केरल में सार्वजनिक, धार्मिक या धर्मार्थ न्यासों के काश्तकारों को अपने कब्जे की भूमि को खरीदने का अधिकार नहीं दिया गया है। लेकिन उत्तर प्रदेश में स्थिति वैसी नहीं है। यहां ऊपर उल्लेखित संस्थाओं के काश्तकारों को भी भूमि सुधारों के लाभ दिए गए हैं। ऐसी संस्थाओं के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से राज्य सरकार ने उनके लिए वार्षिक अनुदान मंजूर किए हैं और ऊपर से उन्हें उसी दर से

मुआवज़ा चुकाने का प्रावधान रखा है, जिसके लिए निजी भू–स्वामी या जमींदार अधिकृत हैं।

3. केरल में अधिकतम दर पर निर्धारित उचित लगान का 16 गुना क्रय मूल्य तय किया गया है। यह दर सचमुच बहुत ऊंची है, जबकि इसकी तुलना हम लगान के 10 गुना से करते हैं, जो कि उत्तर प्रदेश में भूमिधारी के अधिकार प्राप्त करने के लिए अपेक्षित क्रय मूल्य है।
4. केरल बिल के अध्याय III के तहत सरकार को सौंपी गई फालतू ज़मीन लैंड बोर्ड द्वारा ऐसे व्यक्तियों को देने का प्रस्ताव है, जिनके पास कोई ज़मीन नहीं है या हदबंदी सीमा की अपेक्षा कम ज़मीन है। इस तरह जिन लोगों को भूमि आबंटित की जाएगी, उनके लिए बोर्ड को उसका मूल्य चुकाना लाजिमी होगा। इस सम्बन्ध में बोर्ड के अनुच्छेद 70 में उल्लेखित प्राथमिकता क्रम का ध्यान रखना होगा। भूमिहीन खेतिहर मजदूर उस सूची में चौथे नंबर पर हैं। केरल बिल के ये प्रावधान दिखाते हैं कि भूमिहीन मजदूरों तक के लिए, जो हमारे समाज के सबसे कमजोर तबके हैं, उन्हें दी जा रही भूमि का पूरा मूल्य चुकाना जरूरी होगा। उत्तर प्रदेश में भूमिहीन खेतिहर मजदूर, प्राथमिकता सूची में न सिर्फ दूसरे जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून 1950 के नंबर पर हैं बल्कि इसके तहत उन्हें आबंटित भूमि का कोई अधिमूल्य चुकाना भी उनके लिए जरूरी नहीं होगा। यह स्पष्ट है कि केरल में जिन भूमिहीन व्यक्तियों के लाभ के लिए हदबंदी लगायी गई है, वे इस योजना का पूरा लाभ उठा पाने में समर्थ नहीं होंगे।
5. उत्तर प्रदेश में पुनर्ग्रहण का कोई अधिकार नहीं दिया गया है, जबकि केरल के जमींदार अस्थायी काश्तकारों से ज़मीन के पुनर्ग्रहण का अधिकार रखते हैं–ऐसे रैय्यतों से, जिनका अप्रैल 1957 में पिछले पांच वर्षों से ज़मीन पर लगातार कब्जा नहीं रहा। जिन रैय्यतों ने अनाज के रूप में लगान चुकाया लेकिन खेत या खेतों पर अप्रैल 1957 में पिछले दस वर्षों से कम अवधि तक ही लगातार कब्जा रहा, उनके लिए भी काश्तकारी निश्चित नहीं की गई।
6. एग्रेरियन रिलेशंस बिल के तहत गठित किए गए न्यायाधिकरण भूमि के लगान निश्चित करने के लिए अधिकृत हैं–कृषि उत्पादन के एक चौथाई की दर से, अगर सिंचाई की सुविधा सार्वजनिक या राज्य के स्रोत से जुटाई गई हो और उत्पाद के 1/6 से 1/12 तक की दर से अगर सिंचाई की सुविधा किसी निजी स्रोत से उपलब्ध की गई हो। शुष्क ज़मीनों के लिए लगान उत्पाद के 1/16 की दर से

तय किया जाएगा। अब ये दरें उत्तर प्रदेश में किसानों द्वारा चुकाई जाने वाली दरों की अपेक्षा कहीं ज्यादा ऊंची हैं। किसी भी मामले में मौजूदा बाजार–दरों से विनिमय कृषि उत्पाद के 1/20 से ज्यादा लगान उत्तर प्रदेश में नहीं है। उत्तर प्रदेश में लगान चौथे दशक में निश्चित किए गए थे, यानी बीस साल से भी ज्यादा पहले, जबकि देश आर्थिक मंदी के दौर से गुजर रहा था।

7. उत्तर प्रदेश में विकलांग व्यक्तियों को छोड़कर किसी भी तरह की शिकमी बटाईदारी पर पूरा प्रतिबंध है। केरल में भी ऐसा लगता है कि बिल के अनुच्छेद 32 के तहत जोतदार काश्तकारों द्वारा बटाई लगाने पर पाबंदी लगा दी गई है, लेकिन हकीकत यह है कि उत्तर प्रदेश की तरह वहां जोतदार काश्तकारों द्वारा भोगाधिकार के साथ बंधक लगाने पर कोई रोक नहीं होने से, यह पाबंदी व्यर्थ ही जा सकती है और किसी दूसरे रूप में ही सही, शिकमी बटाईदारी जारी रहेगी। यह जमींदार–रैय्यत की प्रथा को फिर से जन्म दे सकती है।

8. केरल में सिर्फ स्थायी काश्तकार अपनी आवास भूमियों के अधिकारों का हस्तांतरण कर सकते हैं। दूसरी तरह के काश्तकार क़ानूनन वैसा नहीं कर सकते। उत्तर प्रदेश में उत्तराधिकार और हस्तांतरण के अधिकार सभी व्यक्तियों को दिए गए हैं, जहां तक कि गांव की आबादियों में उनके द्वारा निर्मित घरों का सम्बन्ध है।

जबकि उत्तर प्रदेश के भूमि सुधार उपाय इतने क्रांतिकारी थे कि वाराणसी के कम्युनिस्ट श्री उदल और बांदा ज़िले के बबेरू के समाजवादी विधायक श्री जागेश्वर यादव जैसे विपक्षी सदस्यों तक ने अपने–अपने निर्वाचन क्षेत्रों की सभाओं में इन उपायों के बारे में भाषण देने के लिए चरण सिंह को आमंत्रित किया।

चरण सिंह ने उन महानुभावों को साफ–साफ बताया कि उनके भाषण कुल मिलाकर राजनीतिक रूप से उन्हें कमजोर करेंगे और कांग्रेस को मजबूत बनायेंगे। इस पर उनकी प्रतिक्रिया थी कि राजनीतिक लाभ या हानि उन्हें चाहे जो हो, इन सभाओं का कम से कम यह असर तो होगा

---

* पाठक जैसा कि गौर कर चुके हैं कि ऐसे दोषपूर्ण उपाय का नतीजा है केरल में खेतिहर मजदूरों और जोतदारों का अनुपात, जो 1960 के 92:100 से बढ़कर 1970 में 172:100 हो गया–देश भर में दोनों समय–बिंदुओं पर उच्चतम, छोटे और हाशिये पर के जिन किसानों को अपनी जोतों से निकाल बाहर किया गया, वे खेतिहर मजदूरों की जमात में जा मिले।

ही कि दलित जनता को रोशनी मिलेगी और वह अपने पैरों पर खड़ी हो सकेगी। चरण सिंह ने श्री जोगेश्वर यादव का आमंत्रण तो स्वीकार किया, श्री, उदल की इच्छा पूरी नहीं कर पाये, क्योंकि उन्हें डर था कि इससे डा. संपूर्णानन्द और पंडित त्रिपाठी जैसे अपने मंत्रिमंडलीय सहयोगियों के मन में कहीं कभी न दूर होने वाली गलतफहमी न पैदा हो जाए।

चरण सिंह की भूमि सुधार सम्बन्धी नीतियों ने हालांकि सीधे कांग्रेस कर्मियों के उस लक्ष्य को पूरा किया था जिसकी घोषणा वे अंग्रेजी हुकूमत के समय से ही जोरदार ढंग से करते आ रहे थे और इस तरह जनता का दिल जीत कर कांग्रेस को मजबूती प्रदान की थी, फिर भी प्रदेश कांग्रेस कमेटी और बनारस, गोंडा, बहराईच, बाराबंकी, लखनऊ, बरेली और हमीरपुर की ज़िला कांग्रेस ने, जिनमें ऐसे लोग काफी थे जिनकी दलितों के प्रति बहुत या बिल्कुल ही सहानुभूति नहीं थी, चरण सिंह की इस पहल का उपयोग नहीं किया कि लोगों को जा–जाकर यह बताने का अभियान चलाते कि उनकी राहत के लिए सरकार ने क्या–क्या उपाय किये। वे लोग या तो उदासीन थे या विरोधी भाव रखते थे। उनके कुछ सहयोगियों ने तो बजाय इसके कि उनका फूलों–गुलदस्तों से स्वागत करते, जिसके कि वे अधिकारी थे, उन पर ईंट–पत्थर बरसाए।

यही नहीं कुछ ज़िला कांग्रेस कमेटियां और कुछ चोटी के कांग्रेस कर्मी, उन भूमि सुधारों के प्रति उदासीन थे जो उनकी अपनी ही सरकार की देन थे, बल्कि जब भी चरण सिंह गरीब किसानों के नेताओं और प्रतिनिधियों द्वारा सार्वजनिक सभाओं में जमींदारी उन्मूलन क़ानून के लाभकारी प्रावधानों के बारे में भाषण करने के लिए बुलाए जाते, चाहे वह इलाहाबाद, कानपुर, गाजीपुर या किसी और जगह की हो, तब प्रमुख स्थानीय कांग्रेस कर्मी उनकी आलोचना किया करते थे और उनके अपने मंत्रिमंडलीय सहयोगी ही उन लोगों को उकसाते रहते थे।

१०

पर्वतीय क्षेत्रों में जमींदारी प्रथा कैसे समाप्त हुई

अब हम कुमायूं चलें, किसी को भी न केवल दुःख ही होगा बल्कि बड़े दर्द पंडित पंत की पावन स्मृति की बात करेगा, जिनके दिल में वैसे तो गरीबों के लिए. इतनी सहानुभूति थी और ग्रामीणों की, खास तौर से किसानों की दिक्कतों और समस्याओं की ऐसी समझ थी कि उनके समर्थन के बिना उत्तर प्रदेश में भूमि सुधार के उपायों को जो अचूक और क्रांतिकारी थे–विधि–पुस्तिका में स्थान मिल ही नहीं पाता मगर वही कुमायूं के उनकी मर्जी पर आश्रित काश्तकारों को जिन्हें 'सीरतान' कहा जाता था और जो क्षेत्र के कृषक समाज में 11 प्रतिशत थे, स्थायी अधिकार (सीरदारी) दिए जाने के पक्ष में नहीं थे। उन काश्तकारों में कम–से–कम आधे काश्तकार (शिल्पकार कहलाने वाले) तो पर्वतीय अनुसूचित जातियों से संबंध रखते थे। कारण कुछ भी रहा हो, पंतजी अपने लखनऊ वाले कार्यकाल के दौरान कुमायूं क्षेत्र में भूमि सुधारों को लागू करने के लिए ज्यादा उत्सुक नहीं थे। यह तो उनके दिल्ली चले जाने के बाद (31 दिसम्बर 1954) हुआ कि चरण सिंह कुमायूं में जमींदारी उन्मूलन के लिए एक विधेयक विधान सभा में पेश कर पाये।

उपर्युक्त विधेयक जिस समय (ठीक–ठीक समय अभी निश्चित नहीं कर पाता) विधान सभा में पेश किया गया था, उस समय चरण सिंह उसके हर अनुच्छेद की तह में नहीं जा पाये थे। जैसे ही वे समय निकाल पाये, उन्होंने विधेयक पर बारीकी से गौर किया और राजस्व सचिव को सम्बोधित 19 मई 1956 के नोट में अपनी प्रतिक्रियाएं इस प्रकार व्यक्त कीं:

राजस्व सचिव

1. नैनीताल जाते हुए (वाया मेरठ) मैं कुमायूं जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक के अनुच्छेदों को गौर से पढ़ पाया, जिसे विधान सभा में पेश किया जा चुका है। उसके उद्देश्यों और कारणों के वक्तव्य

को देखकर मैं जैसे हैरान रह गया था। लगता है मैंने बगैर ध्यान दिये जोश में आकर उस पर दस्तखत किया था। वक्तव्य जैसा जिस रूप में है, उससे गलत फहमी पैदा हो सकती है और उस क्षेत्र के हिस्सेदारों और बुद्धिजीवियों के रवैये को देखते हुए आग में घी डालने का काम कर सकता है। अतः मैं चाहूंगा कि वक्तव्य के दूसरे अनुच्छेद का मसौदा फिर से इस प्रकार तैयार किया जाए:

2. इस विधेयक की प्रमुख विशेषताएं हैं

(1) 'खैलकारी' ज़मीनों के मामले में हिस्सेदारों के अधिकार उनकी लगान की आय के 12 गुना के बराबर मुआवज़ा चुका कर अधिग्रहीत किए जाएंगे। निजी जंगलों का अधिग्रहण नहीं किया जाएगा और उनके स्वामियों का स्वामित्व उन पर आज की तरह ही बना रहेगा।

(2) ऐसा समझा जायेगा कि हिस्सेदारों और खेलकारों की वास्तविक कब्जे की भूमि उन्हें भूमिधर के रूप में तथा सीरतानों की भूमि उन्हें असामी के रूप में बन्दोबस्त कर दी गई है। मतलब यह है कि आगे से कुमायूं के काश्तकार–जोतदार भी उन्हीं नामों से जाने जाएंगे जिनसे मैदानी भागों में जाने जाते हैं।

(3) भूमिधरों को 2.5 'नाली' तक भूमि पुर्नगृहीत करने का अधिकार होगा जो कि उसके घर के साथ लगी और किसी असामी द्वारा जोती जा रही हो सकती है।

(4) क़ानून से सम्बद्ध भाग के लागू होने के एक वर्ष की अवधि के भीतर असामी अपनी जोत की ज़मीनों पर भूमिधारी के अधिकार, उसके द्वारा चुकाये जाने वाले लगान का 15 गुना चुका कर खरीदने को स्वतन्त्र होगा, बशर्ते उसका भूमिधर ऐसे अधिकार बेचने को राजी हो। खरीदने वाले को वही भू–राजस्व चुकाना होगा जो बेचने वाला चुका रहा था।

(5) ऊपर बतायी गयी अवधि के बीत जाने पर राज्य सरकार एक अधिसूचना जारी कर लगान के बारह गुना के बराबर मुआवज़े का भुगतान कर असामियों द्वारा जोती जा रही ज़मीनों पर से उन भूमिधरों के अधिकारों का अधिग्रहण करेगी, जो अपंगता के शिकार हैं या संघीय सैन्य बलों में सेवारत नहीं हैं। इस अधिसूचना के जारी होने पर ऐसा समझा जाएगा कि असामियों की सीरदार के रूप में बन्दोबस्ती हो चुकी है। मैदानी भागों की तरह ये सीरदार अपने लगान का दस गुना चुका कर भूमिधारी

के अधिकार हासिल कर सकेंगे। ऐसे भूमिधरों का भू–राजस्व उस लगान का आधा होगा जो वे असामी या सीरदार के रूप में चुका रहे थे।

(6) भूमि प्रबंधन, उत्तराधिकार आदि के बारे में उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून 1950 के प्रावधान उसके अपनाये जाने और अपेक्षित संशोधन के बाद उस क्षेत्र पर लागू होंगे।

सचिव कृपया वक्तव्य को मुद्रित करा लें तथा एक प्रति संशोधित प्रति के साथ विधान सभा के सदस्यों को भेज दें। अगर सचिव सहमत नहीं है तो वह कल सुबह मुझसे मेरठ के सर्किट हाउस में फोन से सम्पर्क सकते हैं!

(हस्ताक्षर)
चरण सिंह
19 मई 1956

कुमायूं में भूमि सुधारों के सवाल पर चर्चा के विचार से पंतजी ने चरण सिंह को तीन बार बुलावा भेजा, लेकिन दो अवसरों पर उन्होंने अपने मन की बात जाहिर नहीं होने दी। यह तो तीसरा अवसर था जब उन्होंने कहा कि कुमायूं में जोतें इतनी छोटी–छोटी हैं कि हिस्सेदारों के (पर्वतीय क्षेत्रों में जमींदार इसी नाम से जाने जाते थे) अधिकारों को खत्म किया जाना और सीरतानों को स्थायी अधिकार प्रदान किया जाना कतई जरूरी नहीं। चरण सिंह ने विनम्रतापूर्वक असहमति जतायी। उन्होंने पंत जी से कहा कि मैदानों के अधिवासियों के मामले में जो तर्क दिए जाते हैं, वे समान रूप से पर्वतीय क्षेत्रों के सीरतानों के मामले में भी लागू होते हैं तथा उनके नजरिए को मंजूर किए जाने पर तो उनकी बदनामी होगी।

इस बीच जो विधेयक विधान सभा में पेश किया जा चुका था, वह 1957 के आम चुनाव के चलते रद्द हो गया था और उसके बाद दूसरा विधेयक प्रस्तुत करना पड़ा था। यह उल्लेख यहां अप्रासंगिक नहीं होगा कि देश में तब तक कहीं भी पर्वतीय क्षेत्रों में जमींदारी को समाप्त करने और भूमि सुधार लागू करने के प्रयास नहीं हुए थे। फिर भी विधेयक को प्रवर समिति को सौंपे जाने के प्रस्ताव पर बहस के दौरान श्री जगमोहन सिंह नेगी ने, जो उस समय उपमंत्री थे और पर्वतीय क्षेत्र के गढ़वाल ज़िले से आते थे तथा श्री नारायणदत्त तिवारी ने भी जो विधान सभा में विपक्षी प्रजा समाजवादी दल के नेता थे, उसके सुधारात्मक प्रावधानों के विरोध में जोरदार भाषण दिए। प्रवर समिति में श्री नारायणदत्त तिवारी (आजकल उत्तर प्रदेश के मंत्री) प्रस्ताव को आगे बढ़ाने के बजाए यह

सुझाव लेकर आए कि विधेयक को मध्यस्थता के लिए पं० गोविन्दबल्लभ पंत को सौंप दिया जाए। इस प्रयास के पीछे जो कारण था, वह स्पष्ट था। मगर चरण सिंह ने इस आधार पर इसे मानने से इंकार किया कि प्रवर समिति उत्तर प्रदेश विधायिका की समिति या उपज है तथा वही इस सुझाव को मंजूर करे और इस तरह अपना दायित्व किसी बाहरी सत्ता को सौंप दें। प्रवर समिति ने रिपोर्ट वैसी ही दी जैसा राजस्व मंत्री चाहते थे। यह उल्लेख करना यहां अप्रासंगिक नहीं होगा कि कुमायूं के शोषितों का पक्षधर होने के इस रवैये ने पंत जी को उनसे बहुत दूर कर दिया। पंडित पंत के साथ उनके इस अलगाव ने और इसके साथ ही सहकारी कृषि के सवाल को लेकर चरण सिंह पर पंडित नेहरू की नाराजगी ने व्यक्तिगत तौर पर राजस्व मंत्री को तथा राज्य में भविष्य के राजनीतिक घटनाक्रम को बुरी तरह प्रभावित किया।

११

सहकारी कृषि

जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून में यह व्यवस्था थी कि गांव समाज (जो गांव के सभी वयस्क निवासियों की सदस्यता वाली एक संस्था थी) के दस या इससे अधिक भूमिधारी या सीरदारी अधिकार वाले सदस्य, यदि चाहें तो एक सहकारी फार्म गठित और संचालित कर सकते हैं। सहकारी फार्म का निबन्धन हो जाने के बाद भूमिधर, सीरदार या उनके अधीनस्थ असामियों की जोतों समेत गांव की सारी जोतों की ज़मीन सहकारी फार्म को समर्पित समझी जाएगी।

सहकारी फार्म खोलने के सम्बन्ध में यह प्रावधान हालांकि महज कागजी रह गया, राज्य सरकार इसके बारे में गम्भीर नहीं थी और उसने इसे सिर्फ राष्ट्रीय स्तर के नेता वर्ग की सनक की तुष्टि के लिए विधि–पुस्तिका में स्थान दिया था। फिर भी, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्य समिति देश में सहकारी कृषि की शुरुआत के लिए जनवरी 1959 के दूसरे सप्ताह में आयोजित नागपुर के कांग्रेस अधिवेशन में एक प्रस्ताव लेकर सामने आई।

प्रस्ताव इस प्रकार थाः

> भावी कृषि का ढांचा सहकारी संयुक्त खेती का होना चाहिए, जिसमें संयुक्त खेती के लिए भूमि को एकत्रित किया जाएगा, किसानों के स्वामित्व अधिकार बने रहेंगे और असली उत्पादन में उन्हें अपनी भूमि के अनुपात से अपना हिस्सा मिलता रहेगा। फिर, वे लोग भी संयुक्त खेती के क्रम में किए गए अपने काम के अनुपात से अपना हिस्सा प्राप्त करेंगे जो भूमि पर वास्तव में काम करेंगे, चाहे भूखंड पर उनका स्वामित्व हो या न हो।
>
> संयुक्त खेती को संस्थागत रूप देने से पहले, शुरुआती कदम के तौर पर, देश भर में सेवा–सहकारियां गठित की जानी चाहिए। इस चरण का काम तीन वर्षों की अवधि में पूरा कर लिया जाना चाहिए। इस अवधि के दौरान भी जहां कहीं सम्भव हो और किसानों की आम सहमति हो, वहां संयुक्त खेती शुरू की जा सकती है।

> अतिरिक्त भूमि (बड़े फार्मों पर हदबन्दी लागू होने से उपलब्ध) पंचायतों को सौंपी जानी चाहिए और सहकारियों द्वारा उसकी देखरेख होनी चाहिए।

चरण सिंह ने, जो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य और उत्तर प्रदेश के राजस्व मंत्री थे, सहकारी खेती के विरोध में बहुत ही जोरदार और तर्कपूर्ण ढंग से अपना पक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि भूमि और श्रम के एकत्रीकरण से कृषि के उत्पादन में वृद्धि होने के बजाए कमी ही आएगी और फिर यह योजना अव्यावहारिक होने के साथ–साथ हमारी लोकतांत्रिक जीवन–पद्धति के प्रतिकूल भी है।

उन्होंने बीस वाले दशक के दौरान सोवियत संघ में स्थापित कोलखोज या सामूहिक फार्म का गहरा अध्ययन किया था और इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि यह हमारी समस्याओं का किसी अन्य भूमि व्यवस्था की अपेक्षा बेहतर समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकता। उन्होंने 1946 में 'एबोलिशन ऑफ जमींदारी'* (जमींदारी का उन्मूलन) शीर्षक पुस्तक लिखी थी जिसमें उन्होंने अपने उपर्युक्त दृष्टिकोण की वकालत की थी। उन्होंने 1956 में भी 'व्हैदर को–ऑपरेटिव फार्मिंग?' (सहकारी कृषि किधर?) शीर्षक पुस्तक लिखी थी जिसकी भूमिका उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ० सम्पूर्णानन्द ने लिखी थी। उन्होंने 1958 में 'को–ऑपरेटिव फार्मिंग एक्सरेड' ** (सहकारी कृषि की पड़ताल) शीर्षक से एक और भी विस्तृत पुस्तक लिखी थी, जिसे 5 जनवरी 1959 को नागपुर अधिवेशन के लिए लखनऊ से रवाना होने से पहले ही वह अन्तिम रूप दे चुके थे। यह पुस्तक संशोधित और परिवर्धित रूप में 'इंडियाज पावर्टी एण्ड इट्स सोल्यूशन'*** (भारत की गरीबी और इसका समाधान) शीर्षक से पुनः प्रकाशित हुई थी। इसके पृष्ठ 165–66 पर ये अनुच्छेद थेः

> सामूहिक मवेशी फार्म की सिफारिश करते हुए महात्मा गांधी ने 15 फरवरी 1942 के 'हरिजन' में लिखा थाः
>
> मेरा दृढ़ विश्वास है कि हम कृषि से तब तक पूरा लाभ नहीं उठा सकेंगे जब तक कि सहकारी कृषि को अपना नहीं लेते। क्या यह तर्कसंगत नहीं है कि किसी गांव के एक सौ परिवारों के लिए यह कहीं बेहतर है कि

---

* किताबिस्तान, इलाहाबाद, 1947

** एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1959

*** एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई

वे सामूहिक रूप से अपनी ज़मीन पर खेती करें और उससे होने वाली आमदनी को बांट लें, बजाए इसके कि ज़मीन को जैसे–तैसे सौ भागों में विभाजित कर लें?

और जो बात ज़मीन पर लागू होती है वही समान रूप से मवेशियों पर भी।

फिर भी, जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है, यह तर्कसंगत नहीं है कि छोटे–छोटे टुकड़ों में विभाजित और अलग–अलग रूप से जोते जाने वाले भूखंडों की अपेक्षा एक इकाई के रूप में संयुक्त रूप से संचालित बड़ा भूखंड प्रति एकड़ ज्यादा उपज दे।

सहकारी कृषि के पक्षधर जब अपना मुद्दा उछालने के लिए गांधीजी की राय का हवाला देते हैं तो उन्हे यह याद रखना चाहिए कि गांधीजी विश्वगुरु थे, और हर क्षेत्र तथा देश के विश्वगुरुओं का यही विश्वास और उपदेश रहा है कि प्रेम–भावना का इतना व्यापक विस्तार हो कि पूरा गांव देश और वस्तुतः सारा विश्व उसके दायरे में आ जाए। 'वसुधैव कुटुम्बकम्', यानी पूरा विश्व एक परिवार है, यह प्राचीन आदर्श हमारे धार्मिक आख्यानों में अन्तर्निहित है। लेकिन राजनैतिक दल और प्रशासक पृथ्वी पर ईश्वर के साम्राज्य के लिए कार्य नहीं करते या योजना नहीं बनाते। जो कुछ भविष्य में व्यवहार्य है, उसी के लिए वे कार्य करते हैं।

महात्मा जी स्वयं सावधान कर गए थे कि सहकारी खेती "सिर्फ तभी संभव होगी जब लोग एक–दूसरे से मैत्रीभाव रखेंगे और एक परिवार की तरह रहेंगे। जब वह सुखमय स्थिति आएगी, जब साम्प्रदायिक उपद्रव विगत दिनों की बात हो जाएंगे..." फिर भी उन्होंने चेताया था कि सहकारिता जबरन या मजबूर करके बिलकुल नहीं लाई जानी चाहिए, यह ऊपर से लादी नहीं जाए, इसे बिलकुल अहिंसा पर आधारित और नीचे से ऊपर की ओर विकसित होना चाहिए।

महात्मा जी ने जिस 'सुखमय स्थिति' या आपसी सम्बन्धों की बात कही थी वह आ गई है या नहीं, इसका निर्णय किसी बाहरी एजेन्सी को नहीं बल्कि स्वयं किसानों को करना है।

फिर, महात्मा गांधी के मन में कोई दुविधा या गांठ नहीं थी, न ही विवेक पर एकाधिकार का उनका दावा था। संयुक्त कृषि के बारे में उनकी टिप्पणियों पर मैं सम्मानपूर्वक कहना चाहूंगा कि वे कुछ आकस्मिक तौर पर की गई थीं। इस समस्या पर वे कुछ समय निकाल पाये होते और वास्तविक क्षेत्र का अनुभव उन्होंने कर लिया होता तो अपनी भूल को

स्वीकारने में भी उन्हें हिचक नहीं होती। उन्होंने प्रतिष्ठा को अपने मार्ग में कभी आने नहीं दिया।

न ही कोई माटी का पुतला मनुष्य, जो कि हम हैं, सभी अन्य बातों में गांधीजी ने जो कुछ कहा या उपदेश दिया उसी का अनुसरण करता है, उदाहरण के लिए, जनसंख्या नियंत्रण के एकमात्र वांछनीय साधन के रूप में उन्होंने आत्म–संयम की वकालत की थी, लेकिन योजना आयोग और भारत सरकार उत्साहपूर्वक उन्हीं सारे आधुनिक उपायों का प्रचार कर रही है जो गांधी जी के लिए निषिद्ध थे।

जनवरी (1959) के दूसरे सप्ताह में हुई अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक की कार्यवाही की प्रेस रिपोर्ट के निम्नांकिन उद्धरणों से पता चलेगा कि कांग्रेस प्रतिनिधियों के मन पर चरण सिंह के भाषण ने कैसी जबरदस्त छाप छोड़ी थी तथा यह भी कि चोटी के कांग्रेसी नेताओं तक में अपनी बात खुलकर कहने के लिए राजनीतिक साहस की कितनी कमी थीः

'करेंट', बम्बई, 14 जनवरी 1959 से उद्धृत

"प्रस्ताव के आधारमूलक सिद्धान्तों के कुछ विरोधियों का नेतृत्व उत्तर प्रदेश के राजस्व मंत्री श्री चरण सिंह ने किया, जिन्होंने आगाह किया कि सहकारी कृषि को लाया जाना भारतीय लोकतन्त्र के लिए मृत्यु का सन्देश होगा।"

"इस अधिवेशन में चरण सिंह ने 'विरोध पक्ष के नेता' की भूमिका निभाई और साफ–साफ प्रतिनिधियों से कहा कि सहकारी कृषि सफल नहीं होगी और यह कि खाद्यान्नों का राज्य–व्यापार बिलकुल ही अव्यावहारिक है। अत्यधिक राष्ट्रीयकरण की नीति की उन्होंने जब भर्त्सना की तब प्रतिनिधियों ने करतल ध्वनि की। मगर जब प्रस्ताव पर मत लिए गए तब मुश्किल से आधे दर्जन हाथ विरोध में उठे।"

"वह दिन श्री नेहरू का रहा। प्रतिनिधि जानते थे कि प्रधानमंत्री उनके मत इसके पक्ष में चाहते हैं और उन्होंने दिए।"

"चोटी के नेताओं और कार्यसमिति के सदस्यों समेत जिन अनेक कांग्रेसियों से मैं मिला, वे पूरे प्रस्ताव को लेकर खुले तौर पर संशयग्रस्त थे। उन्होंने कहा कि सहकारी कृषि और राज्य द्वारा खाद्यान्नों का व्यापार दोनों की विफलता निश्चित है।"

"उन्होंने प्रस्ताव का विरोध क्यों नहीं किया।" मैंने पूछा।

विशिष्ट उत्तर मुझे केन्द्रीय मंत्रिमंडल के एक सदस्य से मिला।

"हमें पता है कि हमारा विरोध प्रधानमंत्री को पसंद नहीं। हम दरअसल उन्हें नाखुश नहीं करना चाहते।"

'नेशनल हेराल्ड' 18 जनवरी 1959 से उद्धृत

चरण सिंह द्वारा सहकारी कृषि का विरोधः राज्य-व्यापार से असन्तोष बढ़ने की सम्भावना

अभयंकरनगर, जनवरी 1: उत्तर प्रदेश के राजस्व मंत्री चरण सिंह ने आज कांग्रेस की विषय समिति में प्रस्ताव पर बहस के दौरान कृषि ढांचे से सम्बन्धित पूरे प्रस्ताव का सेवा सहकारियों के गठन और पुनः प्राप्त की गई भूमि पर सरकार द्वारा खेती वाले प्रावधानों को छोड़ते हुए, विरोध किया।

श्री चरण सिंह ने कहा कि वह बड़ी–बड़ी जोतों को तोड़ने और भूमिहीनों में उनके वितरण के विरुद्ध नहीं थे। वह चाहते थे कि यहां काम सरकार के सीधे सामने आये बिना सम्पन्न हो। इसलिए उन्होंने सुझाव दिया कि सरकार को बड़ी जोतों के लिए एक कराधान कार्यक्रम इस तरह से तैयार करना चाहिए कि अपने जोत–क्षेत्र में कमी लाना उनके लिए आवश्यक हो जाए। उन्होंने कहा कि अगर ऐसी पद्धति नहीं अपनाई गई और सरकार ने भूमि वितरण की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ली, तो लोगों में असन्तोष फैलेगा ही और विपक्षी दल उस स्थिति का पूरा लाभ उठाएंगे।

श्री चरण सिंह इस तरह की सहकारियों के पीछे दिए जाने वाले इस मूल तर्क से असहमत थे कि भूमि के एकत्रीकरण से उत्पादन बढ़ाने में सहायता मिलेगी। कृषि उत्पादन में वृद्धि का रास्ता संसाधनों का एकत्रीकरण है, भूमि का नहीं। सेवा–सहकारियों के विचार का उन्होंने समर्थन किया क्योंकि उन्हें संसाधनों का एकत्रीकरण नहीं करना पड़ेगा।

सहकारी फार्म

श्री चरण सिंह ने कहा कि सहकारी फार्म भारत में सफल नहीं होंगे। उन्हें विश्व में कहीं भी सफलता नहीं मिली है, इजरायल को छोड़कर, जहां की स्थितियां भिन्न थीं। चीन तक में सहकारी फार्म एक अस्थायी दौर साबित हुए और अंततः सामूहिक फार्मो और कम्यूनों ने उनकी जगह ली।

उन्होंने कहा कि एक इस तथ्य का अवश्य ही यथार्वादी ढंग से सामना किया जाना है कि सारी वैज्ञानिक उपलब्धियों के बावजूद मनुष्य का मन अभी तक उसी तंग नाले में विचर रहा है, जहां दो हजार साल

पहले विचरता था। अगर स्वामित्व को तुरन्त समाप्त कर दिया गया तो किसान सहकारी में शामिल होंगे ही नहीं, अगर स्वामित्व अधिकार बना रहे तो किसान एक या दो मौसम तक सहकारी खेती करेंगे, लेकिन उसके बाद उससे निकलने की कोशिश करेंगे। अगर यह समझ लिया जाए कि जोतदार इस तरह का स्वार्थी जीव नहीं और वह खेती के सहकारी मार्ग को पूरा समर्थन देगा, तो वह 'संन्यासी' हो जाएगा और खेतिहर नहीं रह जायेगा।

राज्य-व्यापार

श्री चरण सिंह ने कहा कि अगर सरकार ने खाद्यान्नों के थोक व्यापार को अपने हाथ में ले लिया तो तर्कपूर्ण कदम यह होगा कि खुदरा व्यापार को भी हाथ में ले ले। अगर खुदरा व्यापार निजी व्यापारियों के पास रहने दिया गया तो राज्य मशीनरी खुदरा व्यापारियों को लाइसेंस देगी, जिसका अर्थ होगा—पक्षपात की गुंजाइश।

खाद्यान्नों के थोक और खुदरा व्यापार को हाथ में लेते हुए सरकार कारोबार की एक बहुत ही बड़ी जिम्मेदारी हाथ में ले रही होगी तथा नौकरशाही तन्त्र का विस्तार होगा। 'अनाजों के भंडारण के लिए गोदाम कहां हैं?' उन्होंने पूछा। उन्हें आशंका थी कि खाद्यान्नों के राज्य व्यापार से देश में असंतोष की भावना का व्यापक विस्तार होगा।

दैनिक 'हिन्दुस्तान' से उद्धृत

कृषि पुनर्गठन सम्बन्धी प्रस्ताव विषय समिति में स्वीकृत

10—1—59

उत्तर प्रदेश के मालमंत्री श्री चरण सिंह ने प्रस्ताव के विरोध में तर्कपूर्ण दलील देकर विषय समिति का दिल और दिमाग तो जीत लिया, किन्तु जबान नहीं जीत सके।

श्री चरण सिंह के विचारों का सदस्यों तथा हजारों श्रोताओं ने बार—बार जोरों की तालियां बजाकर स्वागत किया। उनकी दलीलों का उत्तर देने के लिए चार मंत्रियों—केन्द्रीय मंत्री श्री अजित प्रसाद जैन और श्री एस० एन० मिश्र तथा मध्य प्रदेश के मंत्री श्री गंगवाल और मद्रास के वित्तमंत्री श्री सुब्रह्म ने प्रयत्न किया। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है

कि वे उनकी एक भी तर्कपूर्ण दलील का उत्तर नहीं दे सके। श्री अजित प्रसाद जैन को यह स्वीकार करना पड़ा कि श्री चरण सिंह की दलीलें भावपूर्ण नहीं, तर्कपूर्ण हैं।

नागपुर कांग्रेस अधिवेशनः एक सिंहावलोकन

19—1—1959

विषय समिति की बैठक में योजना सम्बन्धी प्रस्ताव पर बहस के समय हस्तक्षेप करते हुए नेहरू जी ने प्रस्ताव के आलोचकों का इतना अधिक मजाक उड़ाया और उन पर इतने क्रुद्ध हो गए कि विषय समिति के सदस्य तथा अधिवेशन के प्रतिनिधि इस हद तक डरे हुए थे कि उन्हें समूचे अधिवेशन में कांग्रेस कार्य—समिति के प्रस्तावों की आलोचना करने की हिम्मत ही नहीं हुई। उत्तर प्रदेश के मंत्री चौ० चरण सिंह ही एक मात्र ऐसे व्यक्ति निकले, जिन्होंने नेहरू जी की उपस्थिति में भी प्रस्ताव का जबर्दस्त विरोध किया और प्रभावशाली भाषण दिया। कांग्रेस के इस अधिवेशन में गये व्यक्तियों से यदि आप पूछें कि इस अधिवेशन में किसका भाषण सबसे अधिक जोरदार था, तो उनका उत्तर होगा, चरण सिंह का।

दैनिक 'नवभारत टाइम्स', दिनांक 22—1—1959 से उद्धृत

चरण सिंह द्वारा कृषि प्रस्ताव का विरोध

इस प्रस्ताव पर हुए सारे ही विवाद में प्रस्ताव के विरोध में यदि कोई तगड़ा भाषण हुआ, तो वह उत्तर प्रदेश के माल मंत्री श्री चरण सिंह का था। उन्होंने सेवा सहकारिता समिति तथा परती ज़मीन, इस विषय से सम्बन्धित प्रस्ताव के दो अंशो को छोड़कर प्रस्ताव की हर बात का विरोध किया। उनके विरोध में न हिचकिचाहट थी और न संकोच। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि वह प्रस्तुत विषय से इतने परिचित थे कि अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने जो तर्क प्रस्तुत किए, वे ऐसे ठोस आंकड़ों पर आधारित थे कि उनके वाद प्रस्ताव के पक्ष में बोलने वाले वक्ताओं में से किसी ने उनकी प्रामाणिकताओं को चुनौती नहीं दी।

नेहरू के स्थान पर राजनैतिक पार्टी का कोई भी दूसरा नेता होता, तो वह वहीं और उसी समय मंच पर चरण सिंह को उनकी योग्यतापूर्ण वक्तृता के लिए बधाई देता, लेकिन नेहरू उल्टे क्षुब्ध और कुपित हुए।

जैसी कि अन्त में इसकी परिणति हुई, इस महत्त्वपूर्ण सवाल पर चरण सिंह द्वारा अपने विचारों की अभिव्यक्ति ही उनके उस इस्तीफे की मंजूरी का मुख्य कारण साबित हुई, जो उन्होंने मार्च 1959 में दिया था।

प्रधानमंत्री की 2 मार्च 1959 को लखनऊ की यात्रा के दौरान चरण सिंह ने उन्हें बताया कि मुख्यमंत्री डॉ० सम्पूर्णानन्द राज्य को एक साफ–सुथरा और सक्षम प्रशासन देने में असमर्थ हैं तथा उन्हें पता नहीं कि जनता, खासकर गांवों में रहने वाली जनता किन समस्याओं से जूझ रही है, या कौन–सा विषय या विभाग किस मंत्रालय के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आता है, और भ्रष्टाचार या अक्षमता पर तो वे त्यौरी चढ़ाते ही नहीं। अपनी बातचीत के क्रम में वह अपने साथ 13 मार्च का लिखा तथ्यों व दलीलों से भरा एक सोलह पृष्ठ का पत्र भी ले गए थे, ताकि प्रधानमंत्री यदि इस मुद्दे को मुख्यमंत्री के समक्ष उठाना चाहें तो संदर्भ तैयार मिले। फिर भी नेहरू की प्रतिक्रिया उसके ठीक विपरीत थी, जिसकी चरण सिंह को अपेक्षा थी, इसका आभास निम्नांकित टिप्पणियों से मिलेगा जो प्रधानमंत्री ने–21 मार्च के अपने उत्तर में की थीं:

> "हम एक ऐसे देश में कार्यरत हैं जो अपने अनेक गुणों के होते हुए भी, सामाजिक और आर्थिक तौर पर पिछड़ा हुआ है, और इन सभी पिछड़ेपन के परिणाम हम भुगतते हैं; चाहे जो भी करें डॉ० सम्पूर्णानन्द की विफलताएं एक बुद्धिजीवी की विफलताएं हैं, जो कभी–कभी उनके रास्ते में आ जाता है। उनका वही गुण व्यक्तियों और समूहों से दूर रखने की कोशिश में उनकी राह में आता है। मैं उनके या किसी अन्य व्यक्ति की अच्छी बातों या कमियों के बारे में सरलतापूर्वक लिख सकता हूं। इससे अधिक मदद नहीं मिलेगी। हमें व्यक्तियों को वैसे ही लेना है जैसे वे हैं और परिस्थितियां जैसी हैं, उसी पर निर्णय लेना है।" (अतिरिक्त बल)
>
> चरण सिंह ने उपर्युक्त पत्र का उत्तर देते हुए 3 अप्रैल 1959 को उन्हें इस प्रकार लिखा:
>
> "अब, मैं अगर आपके 21 मार्च के पत्र में उत्तर प्रदेश सरकार के मामले में कुछ नहीं करने और डॉ० संपूर्णानन्द को उनकी मर्जी के अनुसार कार्य करने देने के लिए दी गयी दलीलों का संक्षिप्त उत्तर दे रहा हूं तो इसके लिए क्षमा किए जाने की मुझे उम्मीद है। ऐसा लगता है कि आपके अनुसार व्यक्ति जबकि महत्त्वपूर्ण है तो प्रशासन में अक्षमता और दृढ़ता की कमी का असली कारण देश के सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन में निहित है। मैं मतभेद अर्ज करता हूं: मेरी राय में असली कारण व्यक्तियों

में निहित है, अर्थात इसमें कि सरकार के सदस्य स्वयं सक्षम हैं या नहीं और उनके निजी आचरण नुक्ताचीनी से ऊपर हैं या नहीं तथा जनता को ऊपर उठाने के लिए समर्पण भावना उनमें कूट–कूट कर भरी हुई है या नहीं। व्यक्ति उतने ही समर्पण–भावना परिस्थितियों के सर्जक हैं जितने कि वे उनकी देन हैं।

यह सच है कि हममें से सर्वोत्तम के विरुद्ध किसी किस्म का आरोपण किया जा सकता है, लेकिन डॉ० सस्पूर्णानन्द के विरुद्ध जो आरोपण मैंने किया है, वह महज किसी या साधारण किस्म का आरोपण नहीं है। ऐसे आरोपण उनके पूर्ववर्ती के विरुद्ध या बम्बई और मद्रास के मुख्यमंत्रियों के विरुद्ध नहीं किए जा सकते थे। भारत की कांग्रेसी सरकार के सिवा अन्य किसी भी देश की लोकतांत्रिक सरकार ऐसे आरोपण की एक चौथाई से ही बीहड़ों में ठोकरें खाने के लिए भेज दी गयी होती और उस पर अफसोस जताने के लिए कोई भी नहीं होता। सार्वजनिक आचरण का अच्छा स्तर नहीं कायम कर पाने के लिए या किसी देश द्वारा अपने प्रतिनिधियों से जो अपेक्षा की जाती है, उसके घोरतम उल्लंघन को माफ कर देने के लिए यह बहाना नहीं चल सकता कि हमारा देश सामाजिक और आर्थिक तौर पर पिछड़ा हुआ है...।

पंडित जी, मुझे क्षमा करें अगर मैं यह अनुभव करूं कि कोई ऐसी बात है जिसका गुण–दोष से कुछ लेना–देना नहीं, लेकिन जो उत्तर प्रदेश में सही–सही कुछ करने से आपको रोकती है। मैं ईमानदारी से यकीन करता हूं और इस यकीन के पीछे समुचित तर्क हैं कि संयुक्त खेती अव्यावहारिक है, यह लोकतन्त्र को क्षति पहुंचाएगी, उत्पादन में कमी लाएगी और बेरोजगारी का कारण बनेगी। ये विचार सिर्फ मेरे नहीं बल्कि कम–से–कम 90 प्रतिशत कांग्रेस कार्यकर्ताओं के हैं जो मूलतः किसान हैं या देहाती क्षेत्र की स्थितियों के बारे में हर बात की जानकारी रखते हैं। लेकिन किसी में साहस नहीं कि खुले तौर पर इससे असहमति जाहिर करें। और यही महारोग है, जिससे आज कांग्रेस संगठन ग्रस्त है...।"

चरण सिंह ने अपना पत्र यह कहते हुए समाप्त किया कि वह महसूस करते हैं कि कुछ सवालों पर अपने विचारों के चलते पासा उनके खिलाफ है और यह समय ही बताएगा कि वह सही थे या गलत।

नेहरू जी ने जवाब में चरण सिंह की टिप्पणियों पर अपनी प्रतिक्रिया 3 अप्रैल 1959 के पत्र में इस प्रकार जाहिर कीः

"आपने अपने पत्र के अन्त में अपनी इस भावना का हवाला दिया है कि कुछ सवालों पर अपने विचारों के चलते आप असुविधाओं के बीच संघर्षरत रहे हैं। मैं समझता हूं कि आपका मतलब संयुक्त सहकारी खेती से है। मैं नहीं सोचता कि इसी खास बात ने वास्तव में किसी निर्णय को प्रभावित किया, हालांकि यह हो सकता है कि अनजाने में इसको छाप पड़ी हो।" (अतिरिक्त बल)

अब, ऐसा कोई भी व्यक्ति, जो कांग्रेस में कुछ हैसियत रखता रहा हो या देश के सार्वजनिक मामलों का अच्छा जानकार रहा हो, इससे सम्भवतः इंकार नहीं कर सकता था कि चरण सिंह के बारे में पंडित नेहरू के मन पर उसी तरह की 'छाप' पड़ चुकी थी जिसका जिक्र उन्होंने ऊपर दिए गए पत्र में किया, क्योंकि चरण सिंह ने पूरी शक्ति से सहकारी खेती की उनकी प्रिय योजना का विरोध करने की धृष्टता की थी, जिससे चरण सिंह की राय में, देश की कृषि अर्थव्यवस्था चौपट हो जाती।

भारतीय पत्रकारिता के महारथी और उत्तर प्रदेश कांग्रेसी अखबार 'नेशनल हेराल्ड', लखनऊ के लिए जवाहरलाल नेहरू द्वारा चुने गए संपादक श्री चलपति राव ने चरण सिंह के इस्तीफे को स्वीकार किए जाने के मुद्दे पर 23 अप्रैल 1959 को उनकी प्रशंसा में लिखा थाः

चरण सिंह का इस्तीफा

श्री चरण सिंह के इस्तीफे में वैयक्तिक और सांगठनिक दोनों ही तरह की त्रासदी निहित है। उनका जाना उत्तर प्रदेश प्रशासन के लिए एक क्षति है और डॉ० संपूर्णानन्द ने भी एक ऐसे योग्य, अति उत्साही और घोर परिश्रमी सहयोगी को खो दिया है जो अपनी सत्यनिष्ठा के लिए प्रसिद्ध है, जबकि ऐसी प्रसिद्धि आज दुर्लभ है। ऐसे बहुत से अवसर थे जब नीति को लेकर चरण सिंह से हमारा गम्भीर मतभेद रहा, लेकिन उद्देश्य के प्रति उनकी ईमानदारी, संबद्ध विषय की उनकी जानकारी और कर्तव्य के प्रति उनकी निष्ठा पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लग सकता था। अपने अंतिम कार्यकाल के दौरान वह विद्युत और सिंचाई जैसे बहुत ही बदनाम, उन दो विभागों में व्याप्त भ्रष्टाचार की जांच का व्यापक रूप से प्रशंसित कार्य कर रहे थे, जो ताजा खबरों के अनुसार अब उनके इस्तीफे की मंजूरी पर जश्न मनाने के लिए तैयार बैठे हैं, लेकिन खोजी जांच से जो बच नहीं सकते। कहानी का यह हिस्सा फिर भी पूर्ण नहीं है, और चरण सिंह के वर्तमान इस्तीफे को अवश्य ही उस इस्तीफे के क्रम में

लेना चाहिए जो उन्होंने नवम्बर 1957 में, उन्हीं के वक्तव्य के अनुसार "प्रशासन में मितव्ययिता, ईमानदारी, दक्षता, सार्वजनिक आचरण में ऊंचे मानदंड और जनता को ऊपर उठाने के लिए वास्तविक प्रयासों के मुद्दे पर" दिया था। ऐसा लगता है कि मुद्दे इस वर्तमान इस्तीफे से भी जुड़े हैं, लेकिन इन मुद्दों पर वह विस्तार से वक्तव्य विधान सभा की आगामी बैठक में देना चाहते हैं। फिलहाल तो वह अंतरिम आरोप लगा ही चुके हैं जिन्हें जनता अगर स्वीकार नहीं करती तो उत्तर देने के लिए कुछ जिम्मेदार व्यक्तियों को सामने आना है। कुप्रशासन सबसे बड़ा आरोप है, जिसका ताजा चित्र है रिहन्द बांध की बिजली का आवंटन इस तरीके से होना कि व्यवहारतः जनता के लिए बहुत ही कम बिजली बचे। रिहन्द बांध की बिजली के बंटवारे के बारे में सरकार चुप बैठी नहीं रह सकती, क्योंकि उससे जनता का व्यापक हित जुड़ा है।

चरण सिंह के इस्तीफे को लेकर श्री के० एम० मुन्शी (उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल और भारत सरकार के पूर्व कृषि मंत्री) ने 19 अगस्त 1959 को लखनऊ में आयोजित स्वतन्त्र पार्टी के अधिवेशन में अध्यक्ष की हैसियत से भाषण करते हुए जो टिप्पणियां की थीं, उन्हें पाठकों के लिए यहां उद्धृत करना प्रासंगिक होगा।

चरण सिंह का मामला

श्री चरण सिंह, जिन्हें आप सब अच्छी तरह जानते हैं, देश के एक बहुत ही योग्य और ईमानदार मंत्री के रूप में जिन्हें मैंने जाना है, भूमि सुधार के सबसे बड़े विशेषज्ञों में से एक हैं। सहकारी कृषि की उन्होंने निन्दा की है। स्वभावतः नागपुर प्रस्ताव के विरोध के आरोप उन पर लगे हैं। क्योंकि जो लोग सहकारी कृषि का विरोध करते हैं, वे हमारे जनकल्याण–विशेषज्ञों की निगाह में 'धोखेबाज', 'अविवेकी' और 'लोकतन्त्र–विरोधी' हैं हां साम्यवादी सर्वहारावाद के तरीके से।

वे पूछते हैं, विकल्प क्या है, और 'पिलेट' की तरह किसी जवाब का इंतजार नहीं करते। कोई भी व्यक्ति, जो सोचने में असमर्थ नहीं और साम्य–वादी नियोजन की तकनीक का आग्रह नहीं रखता, उसे लगेगा कि भारत जैसी मुक्त अर्थव्यवस्था में आर्थिक आजादी सिर्फ कृषि आधार को मजबूत बनाने पर मिल सकती है, कि विदेशी रोटी से मुक्ति को ही आर्थिक मुक्ति की सर्वोपरि शर्त होना है, कि आहार और कच्चे माल ही किसी औद्योगिक ढांचे को सुनिश्चित आधार उपलब्ध करा सकते हैं।

> लेकिन हमारे निकट–साम्यवादी जनकल्याण–विशेषज्ञों को नहीं। (देखें, 'पायनियर', लखनऊ, 30 अगस्त 1959)

भारत की जनता ने 1959 से अब तक कांग्रेस पार्टी द्वारा उपलब्ध कराये गए, चार प्रधानमंत्री और आधे दर्जन खाद्य और कृषि मंत्री देख लिए हैं और उसे इसके बारे में अनगिनत लम्बे–चौड़े भाषण और वक्तव्य पिलाए गए हैं, लेकिन सहकारी खेती और खाद्यान्नों के राज्य व्यापार से देश आज भी उतना ही दूर है, जितनी कभी था।

१२

हदबंदी का लागू होना और भूमि का पुनर्वितरण

चरण सिंह ने उस कृषि आय–कर क़ानून को निरस्त कर दिया जिसे मोटे तौर पर लगान प्राप्त करने वालों या बड़े जोतदारों की आय पर कर लगाने की दृष्टि से 1948 में अधिनियमित किया गया था। जहां तक जमींदारों का सवाल था, सन् 1952 में जमींदारी उन्मूलन हो जाने के बाद वह क़ानून निष्प्रभावी और बेमानी हो चला था तथा भ्रष्टाचार और उन बड़े किसानों को परेशान किये जाने का स्रोत बना हुआ था, जो वस्तुतः अपनी ज़मीनों पर खेती करते थे। वे यह भी कर सकते थे कि अपनी सारी भूमि या उसका कुछ हिस्सा परती छोड़ दें और कर देने से बच जाएं। इसका मतलब था राष्ट्रीय उत्पादन में कमी और सरकारी खजाने को नुकसान भी। फिर, कोई सरकारी एजेन्सी या कोई ऐसा तरीका नहीं होने से –जिसके जरिये प्रत्येक बड़े किसान के उत्पादन का मूल्य आंका जा सके–काफी तादाद में ऐसे किसान आय–कर चुकाने से बच सकते थे और बचे भी, जो कर चुकाने योग्य थे।

इसलिए यह सवाल उठा कि ऐसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के क़ानूनी या वास्तविक कब्जे वाले फार्मों के बारे में क्या किया जाए जिन्हें जमींदारों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। सामाजिक न्याय और भारत की आर्थिक परिस्थितियों का तकाजा था कि बहुत ज्यादा खेत अपने पास रखने की इजाजात किसी को भी नहीं मिले, क्योंकि भूमि प्रकृति की देन है और यह मनुष्य के उद्यम और कार्य–कुशलता की उपज नहीं है।

अनेक सार्वजनिक नेताओं और प्रशासकों के रवैये के विपरीत चरण सिंह हमेशा छोटे फार्मों की वकालत करते आ रहे थे। हालांकि कोरे सिद्धान्त के तौर पर प्रति एकड़ उत्पादन की दृष्टि से फार्म का आकार अप्रासंगिक था, अर्थात् यह कि बड़े फार्म को प्रति एकड़ उतनी ही उपज देनी चाहिए जितनी कि छोटा फार्म देता है (ज्यादा नहीं, क्योंकि कृषि क्षेत्र में कोई आर्थिक मानदण्ड नहीं है); फिर भी उनकी स्पष्ट धारणा थी कि कृषि एक जीवन–प्रक्रिया है, इसलिए सुनिश्चित परिस्थितियों के तहत

वास्तविक व्यवहार में फार्म का आकार जैसे–जैसे बढ़ता है, (दूसरे शब्दों में, जैसे–जैसे मानव श्रम के उपयोग और निगरानी में कमी होने लगती है), प्रति एकड़ उत्पादन में कमी आती है।

अतः यह अपेक्षा की जाती थी कि निरन्तर लोगों के हितैषी होने के कारण वह (चरण सिंह) उत्तर प्रदेश में हदबंदी लागू करने और फालतू ज़मीन का पुनर्वितरण करने में जल्दबाजी दिखाएंगे तथा इस प्रकार राज्य के भूमिहीन या उप–सीमान्त और सीमान्त कृषकों को अतिरिक्त भूमि उपलब्ध होगी। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसके विपरीत 1955 में उन्होंने उत्तर प्रदेश की विधान सभा में विपक्ष द्वारा इस तरह के प्रस्तावों पर बल दिये जाने का विरोध किया।

लखनऊ से निकलने वाले कांग्रेसी दैनिक अखबार 'नेशनल हेराल्ड' ने 17 मार्च 1955 के अंक में उनके इस रवैये की आलोचना की। उसके सम्पादकीय का आरम्भिक वाक्य इस प्रकार थाः

> राज्य सरकार के भूमि सुधार के रिकार्ड के प्रशंसक होने के नाते हम सोमवार को उत्तर प्रदेश विधान सभा में भूमि के पुनर्वितरण के सिद्धान्त का चरण सिंह द्वारा किये गये विरोध को समझ नहीं पा रहे हैं।

अगले ही दिन राजस्व मंत्री ने एक पत्र के जरिए 'नेशनल हेराल्ड' को इसका जवाब दिया, जो उसके 18 मार्च 1955 के अंक में प्रकाशित हुआ और यहां पुनः उद्धृत हैः

लखनऊ
18 मार्च 1955

प्रिय सम्पादक,

कल के अपने सम्पादकीय में आपने भूमि के पुनर्वितरण से सम्बन्धित मेरे विचारों पर गौर किया, इसके लिए आभारी हूं।

भूमि पुनर्वितरण का सवाल कुछ सदस्यों द्वारा उस समय यों ही प्रायः आकस्मिक रूप से उठाया गया था, जब वे एक कटौती प्रस्ताव पर बोल रहे थे। मैंने इसीलिए उसका संक्षिप्त उत्तर दिया था, जितना वह संक्षिप्त था उससे भी संक्षिप्त 'नेशनल हेराल्ड' में प्रकाशित उसकी रिपोर्ट थी, इसलिए पूर्णतः मुझे अपने विचार व्यक्त करने का अवसर उस समय मिला था जब अगस्त 1954 में श्री गेंदा सिंह ने इसी विषय पर एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पेश किया था। मैंने 14 मार्च को पिछले अवसर की भांति ही

साफ–साफ कहा था कि मुझे भूमि पुनर्वितरण के सिद्धान्त पर कोई आपत्ति नहीं है। यही नहीं, मैं 1942 से ही, जब मैंने जेल में 'जमींदारी उन्मूलन' पर एक किताब लिखी थी, यह मानता रहा हूं कि हमारे देश की परिस्थितियों के अनुसार बड़ी जोतों के लिए यहां कोई जगह नहीं है। मैं हमेशा बेझिझक यह विचार फैलाता रहा हूं कि छोटी जोतों की अपेक्षा बड़ी जोतें प्रति एकड़ कम उपज देती हैं तथा रोजगार भी कम लोगों के लिए उपलब्ध कराती हैं और यह कि आर्थिक इकाई, चाहे वह सामूहिक रूप से काम करने वालों की हो या निजी स्वामित्व की और किराये के श्रमिकों द्वारा चलाई जाने वाली हो अथवा कृषि क्षेत्र की या निर्माणकारी उद्योग की हो, जितनी ही बड़ी होगी, उतनी ही कम वहां काम करने वालों की स्वतंत्रता और पहलकदमी होगी। इसलिए हमारे देश में, जहां हमें गरीबी और बेरोजगारी जैसी बुनियादी समस्याओं से जूझना है और जहां हमने जीवन के लोकतांत्रिक मार्ग पर आगे बढ़ना शुरू किया है, बड़ी जोतों को खत्म होना ही है। मेरे विचार से हमारे देश में भूमि पर कृषकों का मालिकाना अधिकार होना चाहिए, जिन्हें वास्तविक उत्पादन के अलावा अन्य सभी आर्थिक गतिविधियों में सहयोग के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। मेरा विचार जिस पर केन्द्रित है, वह है कृषक सहकारियों की ऐसी प्रणाली जिसमें भूमि और श्रम संसाधनों का एकीकरण नहीं होता; क्योंकि वैसी स्थिति में सहकारी फार्म विकृत होकर मशीनीकृत 'कोलखोज' या रूसी शैली का सामूहिक फार्म बन जाएगा। हमारे अनेक अर्थशास्त्री भले ही आज इससे सहमत हों या न हों, अगर वैसा प्रयास किया गया तो वह विफल होगा ही और कम–से–कम हमारे देश की परिस्थितियों में तो नुकसानदेह ही सिद्ध होगा।

विधान सभा में जब भी भूमि के पुनर्वितरण का सवाल उठाया गया है, मेरा तर्क सिर्फ यही रहा कि जहां तक उत्तर प्रदेश का सम्बन्ध है इसका कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है। जैसा कि सम्भवतः आप सहमत होंगे, कृषि–प्रधान हमारा देश औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों की अपेक्षा कहीं ज्यादा गरीब है। दुनिया भर में कृषक वर्ग हमेशा आर्थिक रूप से कमजोर रहा है, अर्थात् औद्योगिक, व्यापारिक और समुदाय के अन्य वर्गों की अपेक्षा निर्धनतर। एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ने बाईस देशों के आंकड़ों के आधार पर पाया कि कुल आय का 20 प्रतिशत श्रमिकों की कुल संख्या के 52 प्रतिशत द्वारा उत्पादित था, तथा कुल आय के 80 प्रतिशत का उत्पादन श्रमिकों की कुल संख्या के 42 प्रतिशत ने किया था। एक साधारण गणना से यह दर्शित होता है कि "खेती की गति–विधि की अपेक्षा अन्य सभी मानवीय गतिविधियां औसतन लगभग 4.35 गुना अधिक

उत्पादक होती हैं।" यही कारण है कि क्यों दुनिया की हर वह सरकार, जो अपनी जनता के हितों के प्रति सजग है, पिछले कोई 80 वर्षों से यह प्रयास करती रही है कि लोग खेतों का मोह छोड़ दूसरे व्यवसायों का आश्रय लें। इसके फलस्वरूप कुल आबादी का ब्रिटेन में सिर्फ 6 प्रतिशत, अमेरिका में 15 प्रतिशत, इटली में 44 प्रतिशत और जापान में 46 प्रतिशत ही आज कृषि क्षेत्र में कार्यरत हैं। दूसरी तरफ इससे सम्बद्ध आंकड़े चीन, तुर्की, रूमानिया, यूगोस्लाविया और भारत के क्रमशः 73, 72, 72, 70 और 70 हैं। सोवियत संघ का यही आंकड़ा 57 है तथा यही मेरी राय में—हालांकि कहने के लिए मैं विवादास्पद आधार को ले रहा हूं—सोवियत संघ के निम्न जीवन स्तर के लिए जिम्मेवार है, अपेक्षाकृत उन देशों की तुलना में जिन्हें हम पश्चिमी देश कहते हैं। ये आंकड़े और इनसे निकलने वाले निष्कर्ष 'असंगत' हो सकते हैं, लेकिन ये इस तथ्य को उभारते हैं कि कृषि पर आधारित किसी देश की आबादी का प्रतिशत जितना ही अधिक होगा, उतनी ही अधिक होगी वहां की गरीबी। हम उससे अधिक लोगों को भूमि पर नहीं लगायें या लगने के लिए बाध्य ही करें, जितना कि आवश्यक हो। जैसा कि जनगणना के आंकड़े दिखायेंगे, ब्रिटिश शासनकाल के दौरान हमारी ग्रामीण कलाओं और हस्तशिल्पों का ह्रास और विनाश होने के कारण भारत का निरुद्योगीकरण तेजी से होता रहा। कृषि पर आश्रित लोगों की संख्या 1871 के 53 प्रतिशत से बढ़कर 1951 में 71 प्रतिशत हो गई। अगर हम कुछ कर सकते हैं तो यह प्रवृत्ति हमें रोकनी ही होगी। यही एक विचार है जो मेरे भीतर घर किये हुए है, और यह कोई ऐसा अपने आप में पूरा तर्क नहीं है, जो भूमि के पुनर्वितरण की आवश्यकता को नकार सके।

भारत में ही उत्तर प्रदेश सबसे ऊपर है, या आप इसे सबसे नीचे ही कह लें। हमारे इस राज्य में 1951 की जनगणना के अनुसार 1.50 प्रतिशत ऐसे व्यक्तियों को छोड़कर जो अभी तक कृषि के लगान पर अपना जीवन—यापन करते रहे हैं, आबादी का 73.15 प्रतिशत या तो खेतों में काम करता है या सीधे कृषि पर आश्रित है। इन 73.15 प्रतिशत लोगों में से 67.45 प्रतिशत वे लोग हैं जो वास्तव में जोतदार हैं और अपनी ज़मीनों पर खेती करने वाले श्रमिक हैं। देश के बाकी हिस्सों में जोतदार 53.25 प्रतिशत और खेतिहर मजदूर तकरीबन 14 प्रतिशत हैं। तात्पर्य यह कि उत्तर प्रदेश में भूमिहीन लोग उन लोंगों के 8.4 प्रतिशत हैं जिनके पास ज़मीनें हैं, जबकि देश के बाकी हिस्सों में उनका प्रतिशत 26.30 है।

नीचे दी गयी तालिका में कुछ पश्चिमी और पूर्वी ज़िलों में जोतदारों के प्रतिशत और प्रति खेतिहर परिवारों के कृषि योग्य क्षेत्र दिखाये गये हैं:

तालिका 12.1

ज़िला	जोतदारों का प्रतिशत	प्रति खेतिहर परिवार जोत–क्षेत्र
बहराईच	84.20	4.61
गोंडा	80.69	4.15
बस्ती	84.02	3.48
गोरखपुर	77.99	3.34
देवरिया	87.46	2.97
आजमगढ़	76.28	3.34
सहारनपुर	37.52	8.84
मुजफ्फरनगर	45.53	7.24
मेरठ	43.26	5.99
बुलन्दशहर	56.95	5.60
बिजनौर	47.75	7.89

इससे ऐसा लगेगा मानो भूमि इन ज़िलों में पूरी आबादी के बीच बंटी हुई है, अनेक ज़िलों में प्रति व्यक्ति क्षेत्र का जो अंतर है, वह नगण्य प्रतीत होगा। इस तथ्य पर विवाद नहीं हो सकता कि पूर्वी ज़िलों की आबादी का जोरदार प्रतिशत खेती में लगा हुआ है और उस क्षेत्र की गरीबी का कारण है। अगर हम इने–गिने जोतदारों से फालतू ज़मीन नहीं ले लेते और उस पर ज्यादा लोगों को स्थापित नहीं कर देते तो देवरिया या बस्ती खुशहाल नहीं बन पायेंगे। हमने लाखों अधिवासी परिवारों को, जिनके पास दो–दो या कुछ कम–या–ज्यादा एकड़ के छोटे–छोटे भूखंड थे, सीरदार के दर्जे पर प्रोन्नत किया; महज इसलिए कि उनके लिए रोजगार का कोई जरिया नहीं था, उनकी बेदखली से राज्य में सामाजिक और राजनीतिक समस्याएं सिर उठातीं। स्थिति अगर भिन्न होती तो मैंने आर्थिक रूप से अत्यन्त कमजोर उन जोतदारों को स्थाई अधिकार दिए जाने की वकालत न की होती। इस तथ्य से कि इस राज्य में भूमिहीन व्यक्तियों के लगभग 7 लाख परिवार हैं, हमें भूमि पुनर्वितरण के अपेक्षाकृत आसान तरीके के बजाए देहाती उद्योगों की स्थापना के लिए प्रेरित होना चाहिए। जर्मनी में यह अधिकारवंचित किये गये उत्तराधिकारियों की समस्या थी जिसे वहां के औद्योगीकरण का एक कारण माना गया। कामगारों को भूमि से हटाकर दूसरे व्यवसायों में लगाने के कांग्रेसी कार्यक्रम को इस तरह लागू करना अजीब होगा कि जिनके पास आज ज़मीन नहीं, उन्हें पहले ज़मीन से बांध

दें और उसके बाद उन्हें दूसरे व्यवसायों की ओर ले जाने का प्रयास करें। मैंने 'बांधना' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि भूमि में एक अजीब आकर्षण होता है। भूमि की एक पुकार होती है, ठीक वैसे ही जैसे कि समुद्र की पुकार होती है। बुरे वर्ष यद्यपि आते रहते हैं, मगर भूमि जोतदारों का कभी मोहभंग नहीं होने देती, क्योंकि भविष्य में अच्छी पैदावार होने की उम्मीद हमेशा बनी रहती है।

फिर भी, इस सम्बन्ध में वास्तविक विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि उत्तर प्रदेश में उस तरह की अधिक या फालतू भूमि का पर्याप्त क्षेत्र उपलब्ध है भी या नहीं। आगे एक तालिका 12.2 पहली पंचवर्षीय योजना के पृष्ठ 199 से उद्धृत की जा रही है–

अब हम जब भूमि के पुनर्वितरण की बात करते हैं तो हर आदमी सोचता कि अतिरिक्त भूमि सिर्फ उन्हीं जोतों से ले ली जाएगी जिनका रकबा 30 एकड़ से ज्यादा है। बिल्कुल सही संख्या तो 25 से 30 एकड़ तक की जोतों की ज्ञात नहीं है, लेकिन औसत आधार पर कहें तो वह किसी भी तरह 35,000 से कम नहीं हो सकती, फिर तो हमारे पास रह जाती हैं 30 एकड़ से अधिक वाली सिर्फ 80,000 जोतें। इनमें से बुन्देलखण्ड की 20,000 की जोतें हैं जहां कृषि क़ानून और कराधान से सम्बन्धित सभी मामलों में हमेशा दो एकड़ को एक एकड़ के बराबर समझा जाता रहा है। इसका मतलब है कि उत्तर प्रदेश में 30 एकड़ से ऊपर की सिर्फ 70,000 जोतें थीं। ये आंकड़े फसली साल 1351 के हैं और यह 1362 फसली साल अभी चल रहा है, जो अब समाप्त होने को है। इस अवधि में, जिसे हम 20 से 25 वर्ष तक की अवधि मान लेते हैं, जिसमें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी आमतौर पर अलग हो जाती है, तकरीबन 50 प्रतिशत जोतों का उत्तराधिकार क़ानूनों के अन्तर्गत अवश्य ही अब तक उप–विभाजन हो चुका है। इसलिए आज किसी भी हालत में 35,000 से अधिक जोतें मौजूद नहीं हो सकतीं, प्रत्येक 30 एकड़ से अधिक की। ये आंकड़े, फिर भी, आनुमानिक प्रक्रिया से जुटाए गए हैं। वास्तव में 50 से 100 एकड़ के बीच 2,941 जोतों का आंकलन फसली साल 1360 की आय के आधार पर कृषि आय–कर के लिए किया गया था। अगर इन जोतों से 30 एकड़ से अधिक की फालतू ज़मीन वितरण के लिए ले ली जाती है, तो सिर्फ 7,46,000 एकड़ ज़मीन उपलब्ध होगी। चूंकि इन जोतों के अधिवासी 30 अक्टूबर 1954 को सीरदार घोषित किए गए थे, इसलिए जो क्षेत्र अन्य प्रकार से पुनर्वितरण के लिए उपलब्ध होता, उसमें से पूर्व अधिवासियों की जोतों का क्षेत्र घट गया है। मैं इस पत्र को और भी आंकड़े देकर बोझिल नहीं बनाना चाहता, लेकिन इसमें किसी भी तरह से

शक की गुंजाइश नहीं कि पुनर्वितरण के लिए उपलब्ध भू–क्षेत्र किसी भी हालत में 7.5 लाख एकड़ से अधिक बड़ा नहीं हो सकता। उत्तर प्रदेश में आज किसानों के कब्जे में 4 करोड़ एकड़ से ज्यादा कृषि योग्य भूमि है।

चूंकि ये बड़े किसान अपनी जोतों के वास्तविक दखलकार और उपभोक्ता हैं, उन्हें प्रति एकड़ उससे कहीं ज्यादा मुआवज़े का भुगतान करना होगा जितना कि हमने बिचौलिए जमींदारों को संविधान (चौथा संशोधन) विधेयक के बावजूद उनके स्वामित्व अधिकार का अधिग्रहण करने के लिए किया था। उत्तर प्रदेश सरकार के सामने जो सवाल है, वह है कि मुआवज़ा कहां से आएगा? राज्य का बजट हमेशा घाटे का चल रहा है और भावी जोतदार भुगतान करने की स्थिति में नहीं होंगे। दूसरा सवाल हैः भूमि किन्हें आवंटित की जाए–अनार्थिक (निर्धन) जोतदारों को या भूमिहीनों को? तीसरा सवाल इस बारे में हैः क्या इससे कृषि की स्थिति में भौतिक दृष्टि से कोई सुधार होगा–क्या इतना सारा जो समय, धन और श्रम इसमें लगेगा उससे किसी भौतिक उपलब्धि की प्राप्ति होगी? राज्य में पहले ही 85 लाख कृषक परिवार मौजूद हैं, उनमें आधे ऐसे हैं जिनमें से प्रत्येक के पास 5 एकड़ से कम ज़मीन है। फिर, ये विचार सैद्धांतिक रूप से असंगत हो सकते हैं, लेकिन अन्य नीतियां रूपायित करते समय प्रशासन द्वारा इन्हें यह सोचकर अनदेखा नहीं किया जा सकता कि इनका कोई महत्त्व ही नहीं।

अंततः, हमने पूरी सावधानी से यह गौर किया है कि वे बड़े जोतदार जो अयोग्य कृषक साबित हुए हैं, उनके हाथ में राष्ट्रीय परिसम्पत्ति यों ही बेकार पड़ी नहीं रहने दी जाए। इस मामले में सरकार हस्तक्षेप करेगी और वह भूमि मामूली लगान पर लम्बी अवधि के लिए असामियों को बन्दोबस्त कर दी जाएगी। दूसरे मामले में, ए. आई. टी. (एग्रीकल्चरल इन्कम टैक्स), जिसे जोतों के आकार के मुताबिक निर्धारित किया गया, जोतदारों पर एक बड़ा बोझ साबित होगा।

मैंने निश्चित रूप से विनोबा भावे के बारे में सुना है। यही नहीं, इस श्रद्धेय सन्त ने मुझे सन्देश भेजा कि सम्भवतः सारे 'अल्पकालिक सत्ताधारी' व्यक्तियों में वह अकेले मुझे ही लघु पैमाने बनाम बड़े पैमाने की कृषि, मशीनी बनाम बैलों से चलने वाली खेती और सहकारी या सामूहिक बनाम निजी खेती से सम्बन्धित विचारों के मामले में अपने निकटतम पाते हैं। इन सवालों को लेकर मैं पिछले 15 वर्षों से, उपहास और मिथ्यारोप के अवसर आते रहने के बावजूद, अपने विचारों पर दृढ़ता से जमा रहा हूं–ये विचार, धन्यवाद आचार्य विनोबा जी को कि, अब देश में व्यापक रूप से स्वीकृति पाने लगे हैं। मैं विनोबा जी से पूरी तरह सहमत हूं, सिवाय

तालिका 12.2

(सभी आंकड़े हजार में)

राज्य	लिया गया क्षेत्र	कुल जोत क्षेत्र	बड़ी जोतें	बड़ी जोतों का क्षेत्र	क्षेत्र का प्रतिशत
उत्तर प्रदेश	90%	41,316	114 (25 एकड़ से अधिक)	5,310	12.9
बम्बई	सम्पूर्ण रैय्यतवारी क्षेत्र	26,239	216+562=778	10,856	41.37
मध्य प्रदेश	77%	29,350	359 (20 एकड़ से अधिक)	17.310	59,4
मद्रास	82%	27,591	197 (23 एकड़ से अधिक)	5,905	21.4
पेप्सू	सम्पूर्ण क्षेत्र	—	788 (20 एकड़ से अधिक)	2,842	44.7

इस बात के कि मैं छोटे जोतदारों या 25 एकड़ से कम जोत रखने वालों से यह अपील नहीं करूंगा कि वे अपनी जोतों का 1/6 भाग दान कर दें। आचार्य जी उत्तर प्रदेश की यात्रा शुरू कर चुके हैं और मैं कुछ छिपा नहीं रहा हूं, जब यह कहता हूं कि 'भूदान यज्ञ' के लिए दान की गई भूमि खेती के लिए अनुपयुक्त है।

मैं यहां यह भी जोड़ना चाहूंगा कि मैं पहली पंचवर्षीय योजना को ज्यादा महत्व नहीं देता। वस्तुतः यह योजना जहां तक जाती है, उत्तर प्रदेश उससे आगे निकल गया है या सम्भवतः उससे भी आगे जहां तक किसी दूसरे राज्य को पहुंच पाने में अभी तक सफलता मिल पाई है। आशय यही कि इस विषय में निश्चित रूप से वही आवाज उठाता रहा हूं जो आज सरकार की नीति है और जिन्हें यथार्थ स्थिति का ज्ञान है तथा सार्वजनिक मामलों की सही समझ है, वे कम–से–कम भूमि सुधारों के मामले में मुझे प्रतिक्रियावादी करार नहीं दे पाएंगे।

आपका विश्वस्त
हस्ताक्षर
(चरण सिंह)

सम्पादक
'नेशनल हेराल्ड'
लखनऊ

लखनऊ
9 अप्रैल 1955

महोदय

मैंने आपके पाठकीय कालम में भूमि पुनर्वितरण पर मेरे विचारों की आलोचना करने वाले दो पत्र देखे–एक उत्तर प्रदेश किसान सभा के संयुक्त सचिव श्री पी० के० टण्डन का और दूसरा लखनऊ विश्वविद्यालय में एक अध्यापक श्री वी० बी० सिंह का। मैं नहीं सोचता कि अब कुछ और आने को है।

कृषि सम्बन्धी आंकड़ों से निष्कर्ष निकालने में इन दोनों ही महानुभावों ने गलती की है जैसा कि पहले भी बहुत से लेखक और सार्वजनिक कार्यकर्ता करते रहे हैं। जैसे कि भूमि खातों में दर्ज व्यक्तियों की संख्या और परिवारों या जोतों की संख्या को एक समझ बैठना। श्री टण्डन का यह कहना कि खेतिहर आबादी के 81.2 प्रतिशत के पास कृषि क्षेत्र का सिर्फ 38.8 प्रतिशत है तथा श्री वी० बी० सिंह का यह निष्कर्ष कि उत्तर प्रदेश के 55.8 प्रतिशत किसानों में से प्रत्येक के पास 2 एकड़ से भी कम

भूमि है, दोनों ही को उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन समिति की रिपोर्ट के भाग 2, पृ० 6 पर दी गई तालिका संख्या–5 से समझा जा सकता है। इस तालिका और इसके बाद की तालिका के अनुसार फसली वर्ष 1352 या 1944–45 ई० के दौरान खतौनी के भाग–1 में दर्ज 1,22,78,000 व्यक्तियों के पास 4, 13,00,000 एकड़ कृषित भूमि (कल्टीवेटेड लैण्ड) थी। यह समझ लेना कि इन 1, 22, 78,000 व्यक्तियों में से प्रत्येक व्यक्ति एक परिवार का प्रतिनिधित्व करता है, ऐसे गलत निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि जिन मुट्ठी भर लोगों का विशाल क्षेत्र पर स्वामित्व है, उनकी तुलना में किसानों के बहुत ही ज्यादा प्रतिशत के पास बहुत ही कम भूमि है। वस्तुतः हमारे राज्य के जिस क्षेत्र से 1,22,78,000 किसानों का यह आंकड़ा सम्बद्ध है, वहां फसली वर्ष 1352 में 70 लाख खेतिहर परिवार से अधिक नहीं रहे होंगे। इसका मतलब है कि ज्यादातर परिवारों के दो या अधिक सदस्य जोतदार के रूप में दर्ज किए गए। चार वर्ष बाद अर्थात् फसली वर्ष 1356 में काश्तकारी जोतों की संख्या सिर्फ 32 प्रतिशत कृषि क्षेत्र में चलाए गए जेड० ए० एफ० अभियान के तहत ही भूमि सुधार कमिश्नर द्वारा जुटाए गए आंकड़ों के अनुसार 160 लाख से ज्यादा हो गई।

अब, ग्राम्य जीवन के अनुभव हमें बताएंगे कि अपेक्षाकृत छोटे यानी पांच एकड़ या उससे कम जोत वाले किसानों ने एक से अधिक नाम राजस्व के खातों में दर्ज कराए और अपनी ज़मीन एक से अधिक पट्टे या लीज के तहत रखी, जबकि बड़े किसानों के पास आमतौर पर सिर्फ एक जोत रही।

श्री टण्डन ने उत्तर प्रदेश में पिछले कुछ वर्षों के दौरान 'बड़े किसानों' द्वारा 'किसानों के निर्धनतर तबके के विरुद्ध जबर्दस्त बेदखली अभियान' की हवाई बात उठाई है। उन्होंने अपनी धारणा की पुष्टि के तौर पर तथ्य और आंकड़े नहीं दिए हैं, इसलिए उनके बच निकलने की पूरी गुंजाइश है। फिर भी, प्रत्येक वेतन भोगी या अन्य लोकसेवी को विदित ठोस तथ्य यह है कि जमींदारों को ऐसा कोई अभियान छेड़ने की इजाजत नहीं दी गई हैं। क्योंकि अवैध बेदखली या बेदखली की धमकी–भर की महज सूचना मिलते ही सरकार हमेशा राजस्व विभाग की पूरी मशीनरी को गतिशील बनाती रही है, ताकि गरीब आदमी का न्यायसम्मत अधिकार सुरक्षित रहे।

यह सिद्ध करने के लिए कि इन वर्षों के दौरान निर्धन किसानों का स्वत्वहरण बड़े पैमाने पर जमींदारों द्वारा बेरोक–टोक होता रहा है, श्री

टण्डन ने सबूत के तौर पर भूमि रिकार्डों में 29 लाख गलत प्रविष्टियों की मौजूदगी का जिक्र किया है। दरअसल ये गलत प्रविष्टियां 1942 से ही जमा होती रहीं, क्योंकि राजस्व अधिकारियों को इस या उस विशेष अभियान के अन्तर्गत लगातार व्यस्त रखा गया और उन्हें इतना पर्याप्त समय नहीं मिला कि रिकार्डों को नियमित रखने पर ठीक से ध्यान दे पाते। फिर भी इन गलत प्रविष्टियों में से 80 प्रतिशत विवादरहित हैं और उत्तराधिकार से सम्बन्धित कागजात आदि नहीं प्रस्तुत किए जाने के कारण गलत दर्ज हुए हैं। विवाद केवल 20 प्रतिशत को लेकर हैं और ऐसा नहीं लगता कि हर मामले में धनी जमींदार ही निरपवाद रूप से ज़मीन हथियाने वाला है; बल्कि ज्यादातर विवाद एक ही स्थिति के खेतिहरों के बीच होने का संकेत मिलता है। फिर, 29 लाख गलत प्रविष्टयों के 20 प्रतिशत के दायरे में कुल कृषित (कृषि योग्य) क्षेत्र का एक प्रतिशत से भी कम क्षेत्र आता है जिन्हें सुधारे जाने पर सही व्यक्ति को उसका हक मिल जाएगा।

जहां तक परती ज़मीन पर जमींदारों के दखल की बात है, इस बारे में बहुत–सी शिकायत सामने आई हैं। लेकिन जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून के तहत नियम 115 को जोड़ने और द्वितीय संशोधन क़ानून द्वारा अनुच्छेद 212–ए का अधिनियम हो जाने से इस तरह की ज़मीनें भूमि प्रबन्धन समिति द्वारा आसानी से बरामद की जा सकती हैं। ऐसी बरामदगी के लिए काफी लम्बी अवधि का प्रावधान किया गया है और समितियां धीरे–धीरे इस ओर अग्रसर हो रही हैं। अपनी दृढ़ इच्छा के प्रमाण के तौर पर मैं यह उल्लेख कर सकता हूं कि सचिवालय में उपलब्ध सूचना के अनुसार 24 ज़िलों की समितियों ने 30 जून 1954 तक 13,895 एकड़ भूमि भूमिहीन व्यक्तियों में वितरित की है। हमने अभी तक यह जांच नहीं की है कि हथियायी गई कितनी भूमि बरामद की जा चुकी है या कितने मामले इस दृष्टि से अभी स्थगित हैं।

श्री टण्डन का आगे यह आरोप है कि गिरती कीमतों और प्राकृतिक आपदाओं के चलते गरीब तबके द्वारा भूमि बड़े पैमाने पर धनी जमींदारों को हस्तांतरित की गई है। मैं अवश्य माफी चाहूंगा और अगर कहूं कि श्री टण्डन ने यह वक्तव्य देते समय लगभग पूरी तरह कल्पना का सहारा लिया है। जमींदारी उन्मूलन 30 जून 1954 को लागू हो जाने तक 82 प्रतिशत भूमि सीर या खुदकाश्त के रूप में जमींदारों के कब्जे में थी। काश्तकार अपनी भूमि क़ानून के तहत हस्तांतरित नहीं कर सकते थे तथा जमींदारों से सीर या खुदकाश्त ज़मीन खरीदने के लिए तैयार नहीं

था। क्योंकि स्वत्व खोने के साथ–साथ जमींदारी हस्तांतरित की गई भूमि का स्वामित्वरहित असामी बन गया था और हस्तांतरित की भूमि को वास्तविक कब्जा नहीं मिल पाया था। यही नहीं, असामियों द्वारा जोती जा रही भूमि पर भी जमींदारो के स्वामित्व–अधिकार को हस्तांतरित किए जाने पर भारी बंदिश लगा दी गई थी, जिसके लिए मैं जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून के अनुच्छेद 23 (1) की ओर श्री टण्डन का ध्यान आकर्षित करना चाहूंगा।

वे सिर्फ भूमिधर हैं जिनका आज कृषित (कृषि योग्य) क्षेत्र के 37.50 प्रतिशत पर अधिकार है और जो अपनी भूमि हस्तांतरित कर सकते हैं। जमींदारी उन्मूलन के बाद एक वर्ष के दौरान उनके द्वारा हस्तांतरित कुल क्षेत्र, अद्यतन यानी 1 अक्टूबर 1952 से 30 सितम्बर 1953 तक के उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार, सिर्फ 93,859 तक इस प्रकार पहुंचता है–

तालिका 12.3

डिवीजन	अदालत के आदेश से बिक्री		निजी तौर पर हस्तांतरित	
	मामले	क्षेत्र (एकड़ में)	मामले	क्षेत्र (एकड़ में)
1. मेरठ	10	55	6,192	23,908
2. आगरा	102	668	3,585	30,071
3. रुहेलखण्ड	106	5,416	2,216	9,166
4. इलाहाबाद	191	1,582	2,106	9,579
5. झांसी	—	—	509	2,739
6. बनारस	2	3	763	3,683
7. गोरखपुर	8	103	915	2,829
8 लखनऊ	5	39	112	2,354
9. फैजाबाद	15	24	214	1,567
	439	7,891	16,612	85,968

यह 93,859 एकड़ का क्षेत्र भी जमींदारों के हाथ में नहीं जा सकता था, क्योंकि मौजदा क़ानून के तहत कोई इतनी ज़मीन अपने या अपनी पत्नी या अपने नाबालिग बच्चों के नाम से नहीं खरीद सकता कि उसकी सारी जोत 30 एकड़ से बड़ी हो जाए। किसी को भी यह देखकर संतोष होगा कि मध्यवर्ती और पूर्वी ज़िलों में, जहां के किसान अपेक्षाकृत गरीब हैं,

सचमुच बहुत ही कम हस्तांतरण हुआ है। श्री टण्डन के दावे का इससे बड़ा प्रतिवाद नहीं हो सकता।

> जहां तक जमींदारों के मित्रों और सम्बन्धियों के बीच फर्जी बंटवारे की है, श्री बवेज यह भूल जाते हैं कि मैंने 50 एकड़ से ऊपर की ऐसी बड़ी जोतों के आंकड़े उद्धृत किए थे जिन्हें कृषि आय–कर के लिए छांटा गया था, और कृषि आयकर क़ानून अपने अनुच्छेद 4–ए, 8, 9 और 10 के जरिए यह सुनिश्चित करता है कि बड़े जोतदार को फर्जी लिखा–पढ़ी द्वारा अपनी जोत बंटी हुई दिखाकर बच निकलने की छूट नहीं दी जाएगी।
>
> अन्त में, उन 1,14,655 व्यक्तियों में, जिनमें से प्रत्येक के पास 25 एकड़ से ज्यादा की जोत थी और जिनके बारे में शायद श्री टण्डन की कल्पना है कि वे सबके–सब धनी जमींदार थे, केवल 32,555 ही जमींदार थे और बाकी 82,100 काश्तकार थे। अस्तु, धनी जमींदार द्वारा जबर्दस्त बेदखली अभियान छेड़ा जाना और सार्वजनिक भूमि पर कब्जा तथा बड़े पैमाने पर उनके हित में हस्तांतरण किया जाना–वे तत्त्व जिन्होंने श्री टण्डन के विचार से ज़मीन हड़पने वालों को इतनी ज्यादा मदद पहुंचाई कि उत्तराधिकार क़ानून द्वारा किया गया उनकी जोतों का विभाजन भी रद्द हो गया–अगर वस्तुतः सच भी हो तो वह 1,14,655 में से केवल 32,555 व्यक्तियों के लिए होगा।
>
> अब, वह भूमि जो वितरण के लिए उपलब्ध होगीः जमींदारी उन्मूलन समिति की रिपोर्ट, भाग–II में दी गई विविध तालिकाओं और वक्तव्यों को देखने पर किसी को भी पता चल जाएगा कि 1,14,655 में से 32,555 बड़े जोतदारों के पास जो कि जमींदार थे, 16,69,474 एकड़ क्षेत्र था, या मोटे तौर पर 51 एकड़ प्रत्येक के पास और 82,100 के पास जो कि काश्तकार थे, 36,41.098 एकड़ या मोटे तौर पर 44.5 एकड़ प्रत्येक के पास थी। स्वामित्व वाली 32,555 जोतों में से, रिपोर्ट में जिन्हें अलग–अलग दर्शाया गया है, 22 प्रतिशत जोतें 25–30 एकड़ वाले समूह में आती हैं, इनमें से 19 प्रतिशत जोतों वाला 12 प्रतिशत क्षेत्र बुन्देलखण्ड में पड़ता है। चूंकि स्वामित्व वाली जोतों की अपेक्षा काश्तकारी जोतें क्षेत्रफल में 12.75 कम हैं, अतः अन्दाजा लगा सकते हैं कि बुन्देलखण्ड में स्थित स्वामित्व और गैर–स्वामित्व वाली 25–50 एकड़ वाली निम्नतर समूह की जोतों का प्रतिशत अधिक से अधिक 21 बैठेगा, यानी अनुमानतः 24,078 जोतें।

बुन्देलखण्ड का 2 एकड़ का क्षेत्र राज्य के शेष भागों में एक एकड़ के बराबर माना जाता है, इसलिए हम मान लेते हैं कि पूरे राज्य में 25 मानक एकड़ से अधिक वाली सिर्फ 90,600 जोतें हैं। फिर, इनमें से भी बुन्देलखण्ड की 50 एकड़ से अधिक वाली जोतों का सही रकबा निकालने के लिए आधा करना पड़ेगा जो कि पुनर्वितरण के लिए उपलब्ध हो सकती हैं। रिपोर्ट का वक्तव्य–12 देखने पर पता चलेगा कि बुन्देलखण्ड में स्वामित्व वाले समूह की ऐसी बड़ी जोतें कुल 7.5 प्रतिशत हैं। काश्तकारी जोतें क्षेत्रफल में छोटी होने और राज्य की सभी बड़ी जोतों का 71 प्रतिशत होने के कारण हम मजे में बुन्देलखण्ड की 50 एकड़ से अधिक वाली जोतों की संख्या को कुल का 6.25 प्रतिशत कह सकते हैं। कुल 90,800 जोतें जो हमारे पास रह जाती हैं, उनसे 1,14,655 का 3.125 प्रतिशत या 3,583 जोतें घटा देने पर हम कुल 43, 52,000 मानक एकड़ क्षेत्र की 87,000 जोतों की संख्या तक पहुंचते हैं जो हमें बुन्देलखण्ड की 25–50 एकड़ वाले समूह के 24,000 जोतों के चलते 6,64,000 और बड़े समूह की 3,600 जोतों के चलते 2,95,000 एकड़ घटा देने पर हमें प्राप्त होती है। इस क्षेत्र का भी लगभग छठा हिस्सा शिकमी काश्तकारों और गैर–दखलकार काश्तकारों को दे दिया गया, जो स्थायी अधिकार प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए इन बड़े जोतदारों के हल की नोक तले जो क्षेत्र वास्तव में रह गया है, वह सिर्फ 36,27,000 एकड़ तक पहुंचता है। प्रत्येक के लिए 25 एकड़ आरक्षित रखने पर हमारे पास मोटे तौर पर 14,52,000 फालतू ज़मीन रह जाती है। यह स्थिति फसली साल 1352 में थी। इसलिए फसली वर्ष की इन 87,000 जोतों में आधी से अधिक का अवश्य ही उत्तराधिकार क़ानून के चलते अब तक उप–विभाजन हो चुका होगा। मेरा यह कथन गलत नहीं होगा अगर मैं कहूं कि प्रत्येक बड़े जोतदार के लिए 30 एकड़ सुरक्षित रखने पर वितरण के लिए उपलब्ध भूमि आज 7.5 लाख एकड़ होगी।

आगे जनगणना रिपोर्ट–1951 की एक तालिका 12.4 दी जा रही है जिसमें उत्तर प्रदेश की कृषि आबादी की आनुपातिक भिन्नताएं और विविध कृषक वर्ग दर्शित हैं। सन् 1931 और 1941 के आंकड़े नहीं दिए गए हैं, क्योंकि सिर्फ काम करने वालों के व्यवसाय दर्ज किए गए थे, उनके आश्रितों के नहीं:

तालिका 12.4

जीविका के मुख्य साधन	1901	1911	1921	1951
कृषक	48.53	59.80	64.18	67.41
खेतिहर मजदूर	9.03	9.48	8.68	5.71
लगान पाने वाले (जमींदार)	7.11	1.80	1.76	1.06
कुल कृषक आबादी	64.67	71.08	74.62	74.18

इस तालिका के साथ–साथ इस तथ्य से, कि स्वामित्व प्राप्त और काश्तकार दोनों ही तरह के बड़े जोतदार जो 1945 में जरूर 20,000 के आसपास रहे होंगे, वे कृषि आय–कर के आंकड़ों के अनुसार आठ वर्ष बाद घटकर लगभग 9,000 रह गए, यह सिद्ध होता है कि कम–से–कम उत्तर प्रदेश में भूमि कुछ ही लोगों से और भी कुछ लोगों के हाथों में सिमटती नहीं गई और न ही किसानों को उनकी जोतों से वंचित किया गया अथवा मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के 'वृत्तिभोगी दासों' की जमात खड़ी होने दी गई, जिसकी कल्पना में अनेक भद्रजन सुख का अनुभव किया करते हैं।

मैंने अपने पत्र में सुझाव दिया था कि छोटी जोतें बड़ी जोतों की अपेक्षा प्रति एकड़ अधिक उपज देती हैं। मुझे पता है कि मेरा यह विचार आर्थिक और राजनीतिक वैचारिकता के अनुगामियों के लिए अभिशाप है, श्री टण्डन और अखबार में प्रकाशित वकतव्य के आधार पर मैंने लक्ष्य किया है कि श्री वी० बी० सिंह के साथ भी यही बात है। श्री सिंह कहते हैं कि दोनों प्रकार के फार्मों के उत्पादन की तुलना करते समय मैंने शायद पाउण्ड (मुद्रा) और पाउण्ड (वजन) के भेद को समझने में भूल की है। श्री वी० बी० सिंह विभिन्न देशों के कृषि उत्पादन से सम्बन्धित कोई भी विश्वस्त अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन देखें और वे पाएंगे कि जापान, चीन, जर्मनी, डेनमार्क, बेल्जियम और अन्य ऐसे देश जहां छोटी जोतों का प्रचलन है, केवल कपास और मूंगफली जैसी नकदी फसलें ही नहीं बल्कि गेहूं, जौ, मकई आदि खाद्यान्न भी अमेरिका, सोवियत संघ और आस्ट्रेलिया जैसे देशों की अपेक्षा ज्यादा उत्पादित करते हैं जहां बड़ी–बड़ी जोतों–चाहे जैसे भी संचालित–का प्रचलन है। फिर जैसा कि वी० बी० सिंह स्वीकार करते हैं, छोटे किसान भी अगर न केवल प्रति एकड़ खाद्यान्न उपजाकर बल्कि मुर्गी पालन और व्यावसायिक फसलें उगाकर अपनी आमदनी बढ़ा सकने में समर्थ हों तो कोई कारण नहीं कि बड़े फार्मों की जगह छोटे

फार्मों को प्राथमिकता नहीं दी जाए, खास तौर से जबकि हमें इतनी बड़ी आबादी का पेट भरना है और ज़मीन इतनी कम है।

बड़े पैमाने पर कृषि फार्मों की वकालत करने वाले यह यकीन कर रहे प्रतीत होते हैं कि जैसे निर्माणकारी उद्योग में सम्पत्ति का एकत्रीकरण लगाई गई पूंजी के प्रति इकाई के उत्पादन को बढ़ाने में सहायक होता है, वैसा ही कृषि क्षेत्र में भी होगा। लेकिन कृषि विज्ञान की प्रगति ने यह दिखा दिया है कि औद्योगिक उत्पादन के नियम कृषि उत्पादन के लिए लाभकारी नहीं होते। कारण स्पष्ट है। एक अर्थशास्त्री ने बताया है कि "वस्तु निर्माण की प्रक्रिया एक यांत्रिक प्रक्रिया है जिसमें खास ढांचे की वस्तुएं उसी मशीन से लगातार उत्पादित होती रहती हैं। दूसरी तरफ कृषि प्रक्रिया एक जैविक प्रक्रिया है और इसके उत्पादन मानव द्वारा चालित यांत्रिकी (मशीनों) के परिणाम नहीं बल्कि मानव में ही निहित विकासशीलता के गुणों की देन हैं।" अतएव, महज मशीनों के इस्तेमाल और सम्पत्ति के एकत्रीकरण से कृषि के उत्पादन में वृद्धि नहीं होती। यह भरपूर पानी, खाद–बेहतर जैव खाद का प्रयोग, आधुनिक रसायनों का इस्तेमाल, उन्नत किस्म के बीज, कीटों और बीमारियों पर नियंत्रण के उपाय तथा किसान की क्षमता हैं, जो प्रति एकड़ वास्तविक उत्पादन को प्रभावित करते हैं। और यह नहीं कि ज़मीन कैसे जोती गई, बड़े–बड़े चकों में ट्रैक्टर से या छोटे–छोटे खेतों में मवेशियों के श्रम से। यदि हम मान भी लें कि बड़े फार्म तकनीकी तरीकों का बेहतर इस्तेमाल कर लेते हैं या पानी, खाद, उन्नत बीज और कीटनाशी जैसी कृषि सम्बन्धी आवश्यकताएं आसानी से पूरी कर सकते हैं, तो छोटे किसान भी सहकारी प्रयास से वह सब उपलब्ध कर सकते हैं, जहां वे विशाल उपक्रमों की सारी तकनीकी सुविधाओं का लाभ उठा सकेंगे तथा फिर भी निजी भू–सम्पत्ति अपने पास रखने की आजादी और साथ–ही–साथ काम करने की आजादी उन्हें सुलभ रहेगी। ये इसी प्रकार की कृषक सहकारियां हैं, सहकारी कृषि नहीं, जिनके बारे में मैंने अपने पत्र में कहा था कि वे हमारी समस्याएं अच्छी तरह सुलझा सकेंगी। यह पद्धति व्यक्तिगत देखभाल और ध्यान को सुनिश्चित करेगी जिनकी मानव–जीवन और पशु जीवन की तरह ही पौधों के जीवन के लिए भी सख्त जरूरत रहती है तथा जिन्हें किसान परिवार पारिश्रमिक लिए बिना सुलभ कर सकता है।

श्री टण्डन इससे इनकार नहीं कर सकते कि उनके वास्तविक मतानुसार किसान एक बदतर किस्म का पूंजीपति है। क्योंकि, लेनिन ने घोषणा की थी कि "छोटे उत्पादन से पूंजीवाद और बुर्जुआ मध्यवर्ग उत्पन्न होता है,

लगातार, दिन–प्रतिदिन, घण्टा प्रतिघण्टा, सहज स्वाभाविक रूप से और बड़े पैमाने पर।" तो फिर कोई पूछ सकता है कि श्री टण्डन क्यों उस मार्ग की वकालत करते हैं जो पूंजीवादी बुर्जुआ की तादाद को बढ़ाता है? फिर, उनका अनुसरण करते हुए यह भी नहीं माना जा सकता कि छोटे पैमाने की खेती से अधिक समृद्धि आती है और प्रति एकड़ ज्यादा रोजगार उपलब्ध होता है। तो फिर कोई पूछ सकता है कि क्यों वह बड़े फार्मो को छोटे–छोटे टुकड़ों में बांटने की वकालत करते हैं? चौकस पाठक यह लक्ष्य करेंगे कि श्री टण्डन अपनी मौजूद बात से पीछे हटने का मार्ग सुरक्षित रख छोड़ने की चतुराई भी दिखाते हैं जब मेरे तर्क के साथ 'इस समय' जोड़ते हैं और कहते हैं, "श्री चरण सिंह खुद स्वीकार करते हैं, कि बड़ी जोतों में खाद्यान्न का उत्पादन इस समय छोटे फार्मों की अपेक्षा निम्नतर है।"

इससे श्री टण्डन की मानसिकता का आभास भर मिलता है, लेकिन श्री वी० बी० सिंह ज्यादा खुले हुए हैं। वह प्रत्येक भूमिहीन को दो–दो एकड़ बांट देंगे, क्योंकि जैसा कि उनका कथन है, इस तरह के पुनर्वितरण से सहकारी खेती के विकास में मदद मिलेगी जहां आवश्यकतानुसार पहले तो श्रम और मवेशी आदि मूल संसाधनों को एक जगह इकट्ठा किया जाएगा और फिर अंततः भूमि को भी, जिसका पुनर्वितरण वह आज कर देना चाहते हैं। सच तो यह है कि उनकी ललक रूसी ढांचे के सामूहिक फार्मों के लिए है और पुनर्वितरण की बात वे किसानों को खुश करने के लिए कर रहे हैं। एक बार वे किसी तरह उनकी सद्भावना प्राप्त कर लेते हैं और उन्हीं का सहारा ले सत्ता हथियाने में कामयाब हो जाते हैं तो फिर नियोजित ढंग से वे उन्हें यांत्रिकी (मशीनी) 'कोलखोजी' में धकेलेंगे जहां वे मजदूर–'खेतिहर मजदूर'–होकर रह जाएंगे। यह पहली बार नहीं है जैसा कि पाठकों ने 8 अप्रैल 1955 के 'नेशनल हेराल्ड' में अवश्य देखा होगा, रूस के देहाती इलाकों में 30,000 नगर–प्रशिक्षित विशेषज्ञों का एक 'शॉक ब्रिगेड' भेजा जा रहा है जिन्हें 'कृषि में मार्गदर्शन सुनिश्चित करने के लिए सामूहिक फार्मों के अध्यक्ष के रूप में 'अनुशंसित' किया गया है। उन्होंने 1930 में भी 'कोलखोजी' गठित करने और उनके प्रथम अध्यक्ष बनने के लिए 25,000 औद्योगिक कामगारों की भर्ती की थी।

कम्युनिस्टों ने यूरोप में दशकों के कडुवे अनुभव के बाद अपना सबक सीख लिया है जहां राज्य द्वारा संचालित कृषि के मार्क्सवादी सिद्धान्तों या इन्हीं के अनुरूप किसी भी शैली की बड़े पैमाने पर की जाने वाली कृषि को लागू किया गया तो वे समाजवादी खेमे के किसानों का दिल

जीत नहीं पाए। तभी उन्होंने किसानों के साथ नरमी से पेश आने का निश्चय किया।

श्री बी० वी० सिंह आंकड़ों से बहुत आतंकित हैं, एक अर्थशास्त्री के लिए यह एक बड़े अचरज की बात है। आंकड़े तभी प्रवंचना लगते हैं जब लेखक, अन्य बातों में चाहे वह जितना भी सक्षम हो, पूर्वकल्पित नारों के औचित्य को सिद्ध करने के लिए उनका उपयोग करता है। अगर हम आंकड़ों पर निर्भर नहीं करते तो सारी योजना का आधार ही गायब होता। वस्तुतः जीवन के किसी भी क्षेत्र या प्रशासकीय विभाग के किसी बहुसदस्यीय निकाय के लिए कोई भी योजना तैयार करना सम्भव नहीं होता।

सिर्फ दो उदाहरण हैं कि आंकड़ों की कैसे गलत व्याख्या होती है और वे भी श्री वी० बी० सिंह के ही पत्र सेः मेरे द्वारा पहली पंचवर्षीय योजना के पृष्ठ 199 से लिये वक्तव्य के आखिरी कॉलम में 'क्षेत्र का प्रतिशत' शीर्षक स्पटष्तः 'सम्बद्ध राज्य के सारे कृषित क्षेत्र में बड़ी जोतों के क्षेत्रफल का प्रतिशत' का अर्थ देता है। लेकिन श्री वी० बी० सिंह ने 'क्षेत्र का प्रतिशत' के साथ कोष्ठक के अन्तर्गत 'पुनर्वितरण के लिए उपलब्ध' जोड़कर बिल्कुल भिन्न और भ्रामक अर्थ दे दिया है। फिर, वक्तव्य में दिये गये बड़ी जोतों के आधार को इनके द्वारा राज्य के लिए निश्चित की गई हदबंदी समझ लिया गया है, ईश्वर ही जानता है कि कैसे और क्यों? इस तरह की व्याख्या और कहीं नहीं बल्कि गलत निष्कर्ष तक ले जाती है।

मैंने कहीं कहा है, जैसा कि श्री वी० बी० सिंह का आरोप है कि भूमि के पुनर्वितरण से अनार्थिक लोगों की संख्या बढ़ेगी। क्योंकि मेरा विश्वास है कि अगर पुनर्वितरण होना ही है तो या तो भूमि उन्हें दी जाएगी जिनके पास अनार्थिक जोतें हैं, अथवा अगर भूमिहीनों को सौंपी जाए तो वह आर्थिक आकार की जोतों के रूप में हो।

विवाद को और आगे घसीटने की मेरी इच्छा नहीं है। भूमि पुनर्वितरण का सिद्धान्त राजनीतिक संगठन द्वारा अजमेर में पिछली जुलाई में स्वीकार कर लिया गया है, जिसमें उत्तर प्रदेश सरकार के सदस्यों को भी शामिल होने का सुयोग मिला था। हमारा सिर्फ यही अभिमत है कि उत्तर प्रदेश में हमारी जो परिस्थितियां हैं, उनमें यह समस्या कुछ ही या बिल्कुल महत्त्व नहीं रखती है। बल्कि, हमें तो सब कुछ छोड़ अपने देहातों के लघु उद्योगों को बढ़ावा देना है और राज्य के सभी हितैषियों का ध्यान इस तरफ खींचना है, तथा सभी सरकारी सेवारत कर्मचारियों की ऊर्जा को इसी में सुनियोजित रूप से लगाना है। भूमि और इसकी समस्याएं

हो चुकीं, और अभी भी उनके लिए बहुत कुछ हो रहा है।

सम्पादक — आपका विश्वस्त

'नेशनल हेराल्ड' — हस्ताक्षर
लखनऊ — (चरण सिंह)

बड़ी जोतों पर हदबंदी लागू किये जाने और फालतू ज़मीन का पुनर्वितरण होने के बाद या साथ–ही–साथ जमींदारों को अपने काश्तकारों से भूमि के अधिग्रहण का अधिकार प्रदान किये जाने की नीति को लेकर कांग्रेसी नेता वर्ग भ्रमपूर्ण स्थिति में हैं। भूमि के स्वामित्व में ज्वलंत विषमता खत्म हो सकती है, इस दृष्टि से एक वैकल्पिक तरीका सीधे राज्य द्वारा पुनर्वितरण का उपलब्ध था, खास तौर से ऐसे क्षेत्रों या राज्यों में जहां बड़े क्षेत्र या फालतू भूमि उपलब्ध नहीं थी। करना तो बस यही था कि स्वामी की वास्तविक निजी खेती वाले क्षेत्र पर भारी क्रमिक कर थोप दिया जाता (जिससे अक्षम या बहुत बड़े फार्मों को बेच देना पड़ता) और भावी अधिग्रहणों पर निचले स्तर की हदबंदी निश्चित कर दी जाती, जैसे कि पत्नी और अगर हों तो नाबालिग बच्चे समेत प्रति वयस्क व्यक्ति के लिए 12.5 एकड़।

इसके फलस्वरूप जितनी भूमि पर कोई व्यक्ति ठीक से खेती कर सकता है उससे फालतू भूमि अपने आप वितरित हो गई होती, अर्थात् राज्य के खुलकर सामने आये बिना ही। राज्य को कोई मुआवज़ा भुगतान नहीं करना पड़ता (बल्कि उसे कर के रूप में अच्छी खासी रकम मिल जाती), न ही उसे बड़े फार्मों की कटौती और फालतू भूमि के वितरण के लिए अपेक्षित प्रशासकीय दायित्व भार वहन करना पड़ता। बड़े किसानों के मन में व्याप्त इस कटुता की भावना से बचा जा सकता था कि शहरी सम्पत्ति* के स्वामियों के मुकाबले उनके साथ भेदभाव बरता जा रहा है और भावी बन्दोबस्तियों के लिए वित्तीय व्यवस्था का बोझ भी राज्य को नहीं उठाना पड़ता। न तो उन मध्यवर्गीय किसानों के मन में अनिश्चयता की कोई भावना घर कर पाती जो आज हदबंदी से

---

* गैर कृषि क्षेत्र में उस समय एक ही भुगतान योग्य वार्षिक कर 3,600 रुपये या 4,200 रुपये से ऊपर की आय पर था। दूसरी तरफ देहाती या कृषि क्षेत्र में इन आंकड़ों से अधिक आय जो अर्जित करता, उसे न रहने या कार्य करने दिया गया।

प्रभावित नहीं है (क्योंकि हदबंदी चाहे जो भी हम तय करें, वह मनमाने तौर पर लगाई गई प्रतीत होगी और इसकी कोई गारण्टी नहीं है—ये भू—स्वामी या खेतिहर आपस में तर्क करेंगे —कि इसे कल निचली हद तक नहीं पहुंचा दिया जाएगा), अथवा न ही इन भूमिहीन श्रमिकों और उप—जोतदारों में असंतोष की भावना होती जो पुनर्वितरण की योजना से अलग किये जा सकते हैं या आवश्यक रूप से अलग कर दिये जायेंगे। अन्त में यह भी कि पुनर्वितरण को 'वर्गीय विवाद फैलाए' बिना प्रभावी बनाया जा सकता था जैसा कि उत्तर प्रदेश की राज्य कम्युनिस्ट पार्टी ने 20—21 अप्रैल, 1959 को लखनऊ की बैठक में हर्षित होकर कहा था और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जनवरी 1959 को पारित नागपुर प्रस्ताव में भी कहा गया था।

यहां यह उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा कि बड़े फार्मों या बड़ी परि—सम्पत्तियों को छोटा करने यानी भारी कर लगाने की सिफारिश सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री गुन्नार मिर्डल ने आर्थिक विषमता को कम करने के अन्य किसी भी उपाय की अपेक्षा बेहतर उपाय के रूप में की है।

किसी राज्य में वितरण के लिए कितनी भूमि वास्तव में उपलब्ध होगी, यह उस भूमि के क्षेत्रफल पर जहां मजदूर खेती करते हैं या खेतिहर परिवार की औसत जोत तथा अभी भी मौजूद बड़ी जोतों की संख्या पर निर्भर है। सम्भावित फालतू क्षेत्र, औसत जोतों का आकार तथा भूमि की मांग की व्यापकता भी एक राज्य से दूसरे राज्य में बहुत ही भिन्न हैं। तालिका 12.5 तीनों के बारे में जानकारी देगी।

स्पष्ट है कि शुरू के सिर्फ सात राज्य ही सरकार की एजेन्सी द्वारा भूमि के अपेक्षित और औचित्यपूर्ण वितरण के लिए काफी भूखण्ड उपलब्ध करने की स्थिति में थे। इन उपरोक्त राज्यों के बाद उत्तर प्रदेश से शुरू करने पर प्रत्येक 10 और 30 एकड़ से अधिक वाले क्षेत्र में भारी गिरावट आई है।

अतः चरण सिंह ने कृषि आय कर के स्थान पर बड़ी जोतबंदी—कर को रखा जो जुलाई 1957 में प्रभावी हुआ। 30 एकड़ तक की जोतों को इस कर से मुक्त घोषित किया गया था। यह क़ानून दोनों तरह के किसानों के लिए वरदान साबित हुआ, क्योंकि इसे इस तरह तैयार किया गया था कि इसमें कहीं कोई खामी नहीं थी जिससे भ्रष्टाचार पनपता या किसानों को परेशान किया जाता। सरकार को भी सुविधा थी कि कोई बदनीयत किसान इस क़ानून के तहत आँकलित आय को छिपा नहीं सकता था। इस क़ानून ने चूंकि क्रमिक कर को लागू किया था जिसकी दर जोत के आकार के साथ बढ़ती भी जाती थी, इसलिए यह सामाजिक

न्याय का एक साधन बना। यह बड़े जोतदार के भी हित में था कि वह अपनी जोत का एक हिस्सा बेचकर उसे 30 एकड़ कर ले और इस प्रकार ज्यादा कुशलता से उसका उपयोग और उपभोग कर सके। फलस्वरूप राजस्व रिकार्डों के अनुसार बड़ी जोतबंदी कर के सिर्फ दो ही वर्ष लागू रहने के बाद उत्तर प्रदेश के 1,00,000 मैदानी और 12,000 पर्वतीय गांवों वाले विस्तृत ग्रामीण क्षेत्र में 30 एकड़ से अधिक रकबे की जोतों की संख्या घटकर 8,000 रह गई।

यह क़ानून दूसरी तरह से भी दीर्घकालिक लोकहित में सहायक था अर्थात् बगीचों को कराधान से छूट दी गई थी, ताकि किसान ज्यादा से ज्यादा भूमि पर पेड़ लगाने के लिए उत्साहित हों। फिर भी 1960 में, जबकि चरण सिंह मंत्रिमंडल से बाहर थे, इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्व ारा इस क़ानून को अवैध घोषित कर दिया गया। फिर तो किसी ने भी उच्चतम न्यायालय में अपील करने की या आवश्यकतानुसार इस क़ानून में संशोधन किए जाने की चिन्ता नहीं की और जब 1960 में उनकी मंत्रिमंडल में वापसी हुई, तब उनकी इच्छा के बावजूद राजस्व विभाग उन्हें नहीं सौंपा गया।

चरण सिंह द्वारा 1959 में मंत्रिमंडल से इस्तीफा दिए जाने के बाद कांग्रेस सरकार द्वारा हदबंदी लागू करने का एक क़ानून अधिनियमित किया गया, जो 3 जनवरी 1960 को लागू हुआ। इस क़ानून को बड़ी जोतबंदी क़ानून की जगह लेनी थी, लेकिन इसमें ऐसे कई ढांचागत दोष थे जो भूमिहीनों को फालतू ज़मीन के वितरण के इसके लक्ष्य को विफल करने में भू–स्वामी वर्ग की सहायता करते थे।

हदबंदी की सीमा कहीं ज्यादा बड़ी थी। भूतपूर्व जमींदारों ने बड़ी–बड़ी जोतें अपने पास रख लीं, जिनके आकार 16 से 51.2 हेक्टेयर तक थे। क़ानून के अन्तर्गत दी गई छूटों का पूरा लाभ उठाते हुए उन्होंने अपनी जोतें बड़ी कर लीं। बगीचे, औद्योगिक इस्तेमाल में आने वाली भूमि, गड्ढे–नाले, खलिहान–भूमि, आवासीय क्षेत्रों, डेयरी और मुर्गीपालन केन्द्र तथा सहकारी ट्रस्टों, वक्फों और धर्मार्थ संस्थाओं एवं रजिस्टर्ड सोसायटियों द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाओं को हदबंदी क़ानून के दायरे से बाहर रखा गया था। इसके फलस्वरूप भू–स्वामियों द्वारा हदबंदी क़ानून का ऐसी सफलता से उल्लंघन किया गया कि सिर्फ 84,08,000 हेक्टेयर भूमि फालतू घोषित की जा सकी थी। सरकार इस क्षेत्र में से केवल 72, 400 हेक्टेयर को अपने कब्जे में ले पाई। ग्राम सभा की ज्यादातर भूमि पर राजस्व विभाग के अधिकारियों और भूमि प्रबन्धन समितियों की मदद से भू–स्वामी ठाकुरों और ब्राह्मणों ने कब्जा कर लिया।

तालिका–12.5

1961 की जनगणना के दौरान किए गए परिवारों के 20 प्रतिशत नमूना सर्वेक्षण पर नई जोतों और परिवारों के आंकड़े

क्र० सं० राज्य	कृषक परिवारों की संख्या	10 एकड़ या उससे अधिक वाले परिवारों की संख्या	30 एकड़ या उससे अधिक वाले परिवार (सैकड़ों में)	कॉलम 4/3 के प्रतिशत	कॉलम 5/3 के प्रतिशत	1 अप्रैल 1960 को कृषकों के कृषि श्रमिकों का प्रतिशत
1. पंजाब	3,33,998	1,67,234	294	50.07	8.8	24
2. राजस्थान	5,24,937	2,38,994	240	45.53	14.1	7
3. महाराष्ट्र	7,48,470	3,09,830	768	41.40	1.40	51
4. गुजरात	3,77,897	1,53,352	362	40.58	9.6	30
5. मध्य प्रदेश	8,54,956	3,01,187	487	35.23	5.7	29
6. मैसूर (कर्नाटक)	5,00,916	1,58,348	344	31.61	6.9	
7. आन्ध्र प्रदेश	7,79,235	1,78,190	352	22.87	4.5	76
8. उत्तर प्रदेश	18,96,144	2,28,303	205	12.57	1.08	16
9. उड़ीसा	4,83,505	59,460	60	12.30	1.2	24
10. बिहार	11,57,345	1,30,155	169	11.24	1.5	41
11. मद्रास	6,50,805	64,646	74	9.93	1.1	47
12. असम	3,00,124	27,504	15	9.16	0.5	7
13. पश्चिम बंगाल	6,11,539	51,348	19	8.40	0.3	41
14. जम्मू व कश्मीर	98,187	5,345	2	5.44	0.17	3
15. केरल	2,02,218	4,302	4	2.13	0.19	90

टिप्पणी–पंजाब के आंकड़े उस अवधि के हैं जब हरियाणा उसके अन्तर्गत था। प्रति 100 कृषकों पर कृषि श्रमिकों की संख्या 1961 की जनगणना से ली गई है।

"पहला हदबंदी क़ानून पास होने के दस वर्ष बाद जनवरी 1970 में भूमि–हीनों को फालतू भूमि आवंटित करने का पहला प्रयास हुआ। भूमिहीन किसानों और 1.5 हेक्टेयर से कम ज़मीन रखने वाले किसानों की सूची तैयार की जा चुकी थी। गांव सभाओं की आवंटन योग्य 5,58,000 हेक्टेयर भूमि में से 2,89,600 हेक्टेयर का पुनर्वितरण हो गया था। लाभ उठाने वालों में नब्बे प्रतिशत हरिजन थे। लेकिन कागज पर उनके नाम आबंटित ज्यादातर भूमि उनकी अपनी नहीं है। ठाकुरों और ब्राह्मणों द्वारा कहर ढाए जाने के कारण वे उसे जोतने का साहस नहीं कर पाते।"*

इस प्रकार, हदबंदी क़ानून सार्वजनिक उद्देश्य को पूरा करने में बहुत ही कम या बिल्कुल ही नहीं सहायक हुआ। (जैसे कि किसी अन्य राज्य में भी नहीं)। खुद राज्य सरकार द्वारा 1970–71 में किए गए सर्वेक्षण की रिपोर्ट में निहित निष्कर्षों के नीचे दिए गए सारांश से यह बात और भी साफ हो जाती है।

उत्तर प्रदेश हदबंदी क़ानून अधिकांशतः निष्क्रिय

एक्सप्रेस न्यूज सर्विस

लखनऊ, 1 जून। ग्यारह साल पहले अधिनियमित जोत भूमि पर हदबंदी लागू करने का क़ानून राज्य के अधिकतर भागों में, राज्य सरकार की एक एजेंसी द्वारा किए गए सर्वेक्षण के अनुसार, एक निष्क्रिय क़ानून है।

राज्य के बड़े जोतदारों द्वारा बड़े पैमाने पर और लगभग पूरी तरह से हदबंदी क़ानूनों का उल्लंघन किए जाने का उल्लेख करने के अलावा इस सर्वेक्षण ने यह तथ्य भी उजागर किया है कि राजस्व अधिकारियों द्वारा दर्ज किए गए बड़े जोतदारों के भूमि रिकार्डों का वास्तविक स्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसमें कहा गया है कि "लगता है कि जहां तक ग्राम भूमि के अधिकारों के रिकार्ड दर्ज किए जाने और कृषि योग्य भूमि के उपयोग का सम्बन्ध है, एक पूरा दुष्चक्र काम कर रहा है। अत्यन्त कठोर और सधे हुए कदम उठाए बिना इस गहरी जड़ों वाली बुराई को खत्म नहीं किया जा सकता। भूमि हदबंदी 1960 में लागू किए जाने के फलस्वरूप मुश्किल से तीन लाख एकड़ भूमि फालतू होने का अनुमान

---

* देखें, एस० सी० काला द्वारा लिखित और 'टाइम्स ऑफ इंडिया' नई दिल्ली, के 13 दिसम्बर 1973 के अंक में प्रकाशित 'यू० पी० हरिजंस डिप्राइव्ड ऑफ बेनीफिट्स ऑफ लैण्ड रिफार्म' लेख

था और इस तरह फालतू निकली भूमि का मुश्किल से 13 प्रतिशत ही पिछले वर्ष तक स्थायी आधार पर वितरित किया जा सका था।" यह सर्वेक्षण जब पूरा हुआ तब अधिकांश फालतू भूमि या तो विवाद के घेरे में थी या भूमिहीनों को वितरित किए जाने की प्रक्रिया में।

बड़े जोतदारों ने हदबंदी क़ानून के प्रावधानों से बचने के लिए बड़े–बड़े भूखण्ड सीमित दायित्व वाली संस्थाओं, सहकारी कृषि समितियों और धर्मार्थ न्यासों को हस्तांतरित कर दिए थे।

जांच रिपोर्ट में कहा गया कि बड़े भू–स्वामियों के पास "अपने पक्ष में भूमि के रिकार्ड तैयार कराने के लिए लेखपालों को नाजायज ढंग से खुश करने के" साधन थे, और उन्होंने इस तरह के अनेक ज्वलंत उदाहरण पाए। लेखपालों के काम की यद्यपि ढेर सारे अधिकारी निगरानी रखते हैं, फिर भी रिपोर्ट में उल्लेख किया गया कि "पर्यवेक्षण अधिकारियों द्वारा मुश्किल से ही कोई फेरबदल किया गया, क्योंकि यह शायद बहुत जटिल और समय लेने वाली प्रक्रिया थी कि रिकार्डों की जांच और पुष्टि की जाती।"

जांच दल ने पाया कि पूर्वी ज़िले के एक जोतदार के पास 1960 में लगभग 5,000 एकड़ ज़मीन थी, जो अभी तक उसके वास्तविक कब्जे में थी और वह फर्जी न्यास और समितियां स्थापित कर तथा झूठे हस्तांतरण दिखाकर उस पर खेती कर रहा था। इस जोतदार ने अपनी बहुत–सी ज़मीन अपने ढेर सारे नौकरों के नाम कर दी थी, हालांकि ज़मीन पर वास्तविक अधिकार जमाए खेती वह खुद कर रहा था। यह सुनिश्चित करने के लिए कि ज़मीन जिन कर्मचारियों के नाम कर दी गई थी वे कहीं उस पर अपना दावा न कर बैठें, उनमें से हरेक से जमींदारों ने 20,000 रुपये और 25,000 रुपये के बांड लिखवा लिए थे। ये बांड जमींदारों द्वारा हर वर्ष नवीकृत करवा लिए जाते थे।

आगे की जांच से यह भी पता चला कि हदबंदी के बाद जो ज़मीन वैसे फालतू निकल आती, उसे जाहिर तौर पर ऐसे अनेक लोगों के नाम कर दिया गया था जो पटना, कलकत्ता, बम्बई, वाराणसी या ऐसे ही किसी अन्य दूरस्थ ठिकानों पर रहते थे। रिपोर्ट में कहा गया कि ये लोग वास्तव में थे भी या फर्जी नाम थे, इसका पता सिर्फ पूरी जांच से ही चल सकता था।

–'इंडियन एक्सप्रेस'
3 जून 1971

फिर भी वस्तुस्थिति यह थी कि चरणसिंह के विचार से बड़े जोतदारों पर

भारी कर लगाए जाने की तुलना में हदबंदी क़ानून को उत्तर प्रदेश में लागू किया जाना अनावश्यक और निष्प्रभावी था। अपनी राय की पुष्टि में उन्होंने 1 जनवरी 1966 को (हालांकि वह उस समय न तो राजस्व मंत्री थे और न ही कृषि मंत्री) एक लेख एक बड़े जोतदार श्री भानु प्रताप सिंह के उस पत्र का जवाब देते हुए लिखा जिसमें सैद्धांतिक आधार पर क़ानून की आलोचना की गई और जो एक दिन पहले, 31 दिसम्बर 1965 को लखनऊ के 'नेशनल हेराल्ड' में छपा था। चरण सिंह का वह पत्र यहां पुनः उद्धृत है:

चरण सिंह

34, माल एवेन्यू
लखनऊ
1 जनवरी 1966

महोदय

यह आपके 'खाद्य मोर्चा' (फूड फ्रंट) शीर्षक स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित श्री भानु प्रताप सिंह के सन्दर्भ में है। श्री भानु प्रताप सिंह कृषि समस्याओं की गहरी जानकारी रखने वाले एक व्यवहारकुशल किसान हैं और विधान सभा में उन्हें हमेशा बड़े सम्मान से सुना जाता रहा है। खाद्य मोर्चे पर कांग्रेसी सरकार के कार्यों का जो आंकलन उन्होंने किया है, उस पर विचार करने और उत्तर देने का काम अधिक योग्य व्यक्तियों के लिए छोड़ते हुए मैं सिर्फ भूमि हदबंदी क़ानून (उत्तर प्रदेश) के सवाल पर उनके साथ अपने मतभेदों को जाहिर करना चाहूंगा।

राज्य में लागू क़ानून के तहत सभी मौजूदा जोतें काट कर 40 से 80 एकड़ की कर दी गई हैं या कर दी जाएंगी तथा भविष्य में कोई भी उतनी ज़मीन हासिल नहीं कर पाएगा जिसे जोड़ने पर उसकी कुल ज़मीन 12.5 एकड़ से अधिक हो जाए। श्री भानु प्रताप सिंह कहते हैं कि कृषकों द्वारा उस जीवन–स्तर को प्राप्त करने के मार्ग में एक बड़ी बाधा है, जो समुदाय में दूसरों के लिए सुलभ है। इसके चलते कृषि क्षेत्र से प्रतिभा और पूंजी का पलायन होगा और चूंकि अन्य व्यवसायों में आय पर कोई सीमा निर्धारित नहीं है, इसलिए नतीजतन व्यवसाय के रूप में कृषि का स्तर नीचे चला गया है। उनका मत है कि जब तक इस क़ानून को रद्द नहीं किया जाता तब तक 'भारतीय कृषि' के आधुनिकीकरण की कोई उम्मीद नहीं।

लेकिन भू–सम्पत्ति और भूम्येतर सम्पत्ति के बीच तुलना जैसी कोई बात नहीं आती। भूमि एक ऐसी सम्पत्ति या उपभोग–सामग्री है जिसे मनुष्य

ने नहीं बनाया अथवा न ही उसके बनने में सहायक होता है, जैसा कि कृषि से भिन्न सम्पत्ति के स्वामी के साथ होता है। इसके अलावा, हमारी परिस्थितियों में भूमि एक सीमाबद्ध करने वाली वास्तविकता है, जबकि पूंजी और कृषि से भिन्न सम्पत्ति हर कहीं की तरह यहां भी वैसी नहीं है। फिर यह आसान और व्यावहारिक नहीं कि भूमि पर जैसी हदबंदी है वैसी ही कृषि से भिन्न आय पर भी लागू की जाए।

जहां तक जीवन–स्तर की बात है, हदबंदी को हटाने की बजाए उसे लागू नहीं करने से निश्चय ही कृषकों के लिए उच्चतर जीवन–स्तर प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त होगा, लेकिन सवाल है कि कुल मिलाकर राज्य की अर्थ–व्यवस्था पर कितना और क्या प्रभाव पड़ेगा? हदबंदी क़ानून, 1960, से प्रभावित व्यक्तियों की संख्या नगण्य थी अर्थात् एक हजार से भी कम। जहां तक भावी अर्जितों पर हदबंदी लागू किये जाने की बात है, यह भुला दिया जाता है कि हमारे राज्य में प्रति खेतिहर परिवार की औसत जोतभूमि मुश्किल से 4.0 एकड़ या इसी के आसपास आती है। इस हदबंदी को हटाने का अर्थ यह होगा कि भूमि धीरे–धीरे एकत्र होकर गिने–चुने लोगों के हाथों में आ जाएगी और आज के ज्यादातर किसान खेतिहर मजदूर होकर रह जाएंगे या उनकी जोतें छोटी होते–होते और भी अनार्थिक आकार की हो जाएंगी। इससे आगे चलकर हमारे लोगों की आमदनियों में असमानताएं, जो आज भी कम नहीं और भी बढ़ेंगी और लोकतंत्र को खतरे में डालेंगी।

उत्पादन पर हदबंदी के प्रभाव की बात जहां तक है, श्री भानु प्रताप सिंह निश्चित रूप से यह सोचते हुए प्रतिष्ठित लोगों के साथ हैं कि 'बड़े पैमाने पर उत्तर प्रदेश में भूमि सुधार और खेती' और 'आधुनिक कृषि' समानार्थी शब्द हैं। यह हमारे नीति नियामकों और शीर्ष राजनीतिक नेतागणों की निराधार धारणा है, जिसके फलस्वरूप गलत नीतियां रूपायित हुई हैं और देश में कृषि उत्पादन की स्थिति बिगड़ गई है।

बड़े फार्म का मतलब प्रति एकड़ बहुत ज्यादा उत्पादन नहीं है। कृषि में फसलें चाहे छोटे भूखण्ड या बड़े भूखण्ड में लगाई जाए, परिपक्व होने में एक ही जैसा समय लेती हैं और सिद्धान्ततः फार्म के आकार का प्रति एकड़ उपज के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जहां तक टेक्नोलॉजी की बात है, संक्षेप में कहें तो कृषि टैक्नोलॉजी के सिर्फ तीन समूह हैं, यानी (1) जीव विज्ञानियों द्वारा वैज्ञानिक विधि से विकसित वनस्पतियों और जीवों की किस्में जिनमें अनेक प्रकार की संकर प्रजातियां और मवेशियों और मुर्गियों की बीमारियों आदि दूर करने के टीके शामिल हैं। (2)

रसायन विज्ञानियों द्वारा तैयार की गई चीजें जिनमें उर्वरक, कीटनाशक, फफूंदीनाशक के साथ–साथ खरपतवारनाशी और पशुधन के पूरक आहार शामिल हैं और (3) भौतिक विज्ञानियों और इंजीनियरों द्वारा प्रस्तुत ट्रैक्टर तथा खेती के अन्य यंत्र जैसी वस्तुएं और भण्डारण जैसी सुविधाएं।

अब इनमें से किसी भी टेक्नोलॉजी के लिए बड़ा फार्म आवश्यक नहीं और बड़े फार्मों की तरह छोटे फार्मों में भी इन्हें प्रयोग में लाया जा सकता है।

लेकिन वास्तविक व्यवहार में यह विदित है कि मालिक के ज्यादा–से–ज्यादा श्रम और निगरानी के चलते छोटे फार्म बड़े फार्मों की अपेक्षा ज्यादा प्रति एकड़ उपज देते हैं। मैं इस पत्र को आंकड़ों से बोझिल नहीं करना चाहता और अपने को इसी उल्लेख तक सीमित रखूंगा कि यूरोपीय फार्म, जो औसतन अमेरिका और सोवियत संघ के फार्मों की अपेक्षा छोटे हैं, उनसे ज्यादा उपज देते हैं। जापान एक और बढ़ा–चढ़ा उदाहरण है जहां औसत फार्म का आकार मुश्किल से 3.5 एकड़ है। श्री भानु प्रताप सिंह और उन्हीं की तरह सोचने वाले लोग यह जानने में रुचि लेंगे कि जापान ने भूमि के भावी अर्जनों पर 7.5 एकड़ की हदबंदी लागू की हैं। यह जैसा कि कांग्रेसी सरकार ने किया है, उत्तर प्रदेश में पारिवारिक जोत के औसत आकार का तिगुना है।

सम्भवतः यह उल्लेख यहां प्रासंगिक होगा कि भूमि पर हदबंदी का अर्थ आमदनी पर हदबंदी नहीं है। अगर किसान के पास संसाधन की सुविधाएं सुलभ हैं और अपने काम की जानकारी वह रखता है तथा आवश्यक श्रम उसमें लगाता है, तो आज जो आय वह अर्जित करता है उससे चार गुना अधिक अर्जित कर सकता है।

अंततः किसानों की मुक्ति (और कुल मिलाकर देश की गरीबी की समस्या का हल) उनकी संख्या कम करने और उच्चतर आय देने वाले कृषि से भिन्न व्यवसायों में उन्हें लगाने में निहित है। हमारी गरीबी का मुख्य कारण हमारे गांवों में रोजगार का भारी संकट है, दूसरे शब्दों में, इस तथ्य में कि बहुत ही छोटे आकार की जोतें होने के फलस्वरूप हमारी कृषि में बहुत ही ज्यादा अतिरिक्त श्रम शक्ति लगी हुई है और यहां श्रम संसाधन की कमी तो है ही नहीं जैसी कि हममें से कुछ लोग कल्पना करते हैं या उपदेश देते हैं। गांव के शिक्षित युवकों को कि वे अपने खेतों को नहीं छोड़ें और शहरों के शिक्षित युवकों को कि वे गांवों में चले जाएं और वे इस पर यकीन करने लगते हैं। गरीबी दूर करने और 'हमारे किसानों के जीवन–स्तर को ऊंचा करने' का जो तरीका श्री भानु प्रताप सिंह सरीखे देश के प्रत्येक शुभचिन्तक के दिलो–दिमाग में जमा हुआ है,

उसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है। ब्रिटेन में, जहां पिछली सदी के दौरान आबादी में किसानों का प्रतिशत क्रमशः गिरते–गिरते 5 पर पहुंच गया जिसके फलस्वरूप उनमें से प्रत्येक का जोत–क्षेत्र बढ़कर 80 एकड़ से भी अधिक हो गया और तब तक अमेरिका में, जहां सिर्फ पिछले 15 वर्षों के दौरान ही किसानों की संख्या 13 प्रतिशत से घटकर 7 प्रतिशत रह गई और परिणामतः औसत जोतभूमि 215 एकड़ से बढ़कर 300 एकड़ हो गई।

हालांकि यह परिवर्तन यहां तभी लाया जा सकेगा जब हमारे किसान अपने उत्पादन को इस हद तक बढ़ाने में कामयाब हो जाएं कि वह आवश्यकताओं से अधिक हो तथा अपने भीतर वे सही सोच की मानसिकता विकसित कर लें। भूमि क़ानून के क्षेत्र में सिर्फ दो ही कदम ऐसे हैं जिनसे इस परिवर्तन में मदद मिल सकती है जैसे, जो शरीर और मन से स्वस्थ हैं, उनके द्वारा शिकमी लगाये जाने पर रोक और दूसरे, ज्येष्ठाधिकार क़ानून का अधिनियमन। इनमें से पहला कदम उत्तर प्रदेश में उठाया जा चुका है। दूसरे के लिए शायद समय अभी भी अनुकूल नहीं है। अंतहीन दबाव झेल रहे किसान स्वेच्छा से या मजबूर हो अपनी ज़मीन बेचने लगें तो खरीदने वाले के मनसुबे बढ़ेंगे और इससे हमारी समस्याएं फिर बदतर ही होंगी निम्नतम कृषि–मूल्यों के निर्धारण जैसे उपाय कारगर नहीं हुए और न होंगे ही,–नतीजतन किसान अपनी ज़मीन से चिपके रहेंगे।

मैं यह भी जोड़ सकता हूं कि इस पत्र के जरिए मैंने इस विषय पर अपने विचार संक्षेप में आपके पाठकों के समक्ष इसलिए रखे हैं ताकि वे इनका महत्त्व समझें, लेकिन आगे किसी विवाद में भाग लेने की मेरी इच्छा नहीं है।

सम्पादक — आपका विश्वस्त

'नेशनल हेराल्ड', — हस्ताक्षर
लखनऊ — (चरण सिंह)

१३

भूमि–कर में वृद्धि का विरोध

जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून में यह व्यवस्था थी कि सीरदारों और भूमिधरों द्वारा चुकाए जा रहे भूमि–कर (लगान) अगले 40 वर्षों तक अपरिवर्तित रहेंगे। फिर भी, दस साल बाद 1962 में तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री सी० बी० गुप्त ने उसमें 50 प्रतिशत की वृद्धि करने की बात छेड़ दी। चरण सिंह ने उस प्रस्ताव का जोरदार विरोध किया और मुख्यमंत्री के समक्ष अपने 29 सितम्बर 1962 के विस्तृत गोपनीय नोट के जरिए विरोध का बौद्धिक पक्ष पेश किया, जो नीचे दिया जा रहा है। मामला योजना आयोग और नई दिल्ली के कांग्रेसी नेतृत्व तक जा पहुंच अन्ततः प्रस्ताव को वापस ले लिया गया।

तीसरी पंचवर्षीय योजना के लिए धन जुटाने की दृष्टि से राज्य सरकार ने जोत–भूमि कर विधेयक प्रस्तुत किया है जिसका उद्देश्य जोतदारों द्वारा आज चुकाए जा रहे भू–राजस्व में 50 प्रतिशत की वृद्धि करना है। राज्य सरकार को यह कदम क्यों नहीं उठाना चाहिए, इसके निम्नांकित पांच बहुत ही ठोस कारण हैं–

(अ) किसानों की आर्थिक स्थिति उनके वित्तीय बोझ को बढ़ाने की अनुमति नहीं देती।

(आ) उत्तर प्रदेश में भूमि पर पहले ही से करों का भारी बोझ है तथा ग्रामीण या कृषक कर चुकाने के प्रयास में पीछे नहीं रहे हैं।

(इ) कर आवश्यक नहीं है क्योंकि अन्य तरीकों से धन जुटाया जा सकता है और वांछित फल प्राप्त किये जा सकते हैं।

(ई) राजनीतिक दृष्टि से यह विधेयक कांग्रेस के लिए बहुत ही नुकसानदेह कदम सिद्ध होगा। और

(उ) भू–राजस्व में कोई वृद्धि जनता को विधिवत दिये गये उस आश्वासन और जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून, 1952 में समाविष्ट इस प्रावधान के विरुद्ध होगा कि अगले चालीस साल तक राज्य की राजस्व मांग में वृद्धि नहीं होगी।

तालिका 13.1

भारत में प्रति व्यक्ति आय और उत्तर प्रदेश में प्रति व्यक्ति आय को 1948–49 के मूल्य पर दर्शित करने वाला वक्तव्य

वर्ष	भारत में	उ० प्र० में प्रति व्यक्ति आय			उ० प्र० के ग्रामीण और शहरी क्षेत्र में प्रति व्यक्ति आय का प्रतिशत
		कुल	ग्रामीण	शहरी	
	रु०	रु०	रु०	रु०	
1948–49	249.6	238.37	188.97	547.17	289.6
1949–50	250.6	250.25	194.20	601.71	309.8
1950–51	247.5	252.35	190.93	639.45	334.9
1951–52	250.3	244.86	183.63	632.64	344.5
1952–53	255.7	248.49	185.12	656.41	354.6
1953–54	266.2	244.68	183.65	639.30	348.1
1954–55	267.8	261.04	192.70	705.58	366.2
1955–56	267.8	259.10	187.35	727.87	388.5
1956–57	275.6	251.95	192.65	645.93	335.3
1957–58	267.4	241.58	179.55	656.06	365.4
1958–59	280.2	251.45	190.53	660.67	346.8
1959–60	279.0	248.83	189.41	650.03	343.2
1960–61	292.5*	262.54	202.61	669.28	230.3

* प्राथमिक।

कृषकों की आर्थिक स्थिति

उत्तर प्रदेश के आर्थिक गुप्तचर्या और सांख्यिकी विभाग द्वारा प्रस्तुत एक वक्तव्य तालिका–13.1 में दिया जा रहा है जिसमें 1948–49 से अब तक की राज्य की कुल आय और प्रति व्यक्ति आय के ब्यौरे हैं तथा ग्रामीण और शहरी क्षेत्र अलग–अलग दिखाए गये हैं।

यह दिखेगा कि पिछले वर्ष 1960–61 को छोड़कर, जिसमें अपवाद के तौर पर मौसम अच्छा रहा, ग्रामीण आय रु० 179.55 और रु० 194.20 के बीच रही। शेष ग्यारह में से पांच वर्षों के दौरान तो गिरावट आधार राशि रु० 188.97 से भी नीचे चली गई। उसी अवधि में शहरी आय रु० 601.71 और रु० 727.87 के बीच रही। "किसी भी वर्ष में आधार राशि से नीचे की गिरावट नहीं आई।" 1960–61 के आंकड़े समेत 12 वर्षों की अवधि का औसत निकालने पर प्रति व्यक्ति ग्रामीण आय रु० 189.36 और प्रति व्यक्ति शहरी आय रु० 657.08 पाई गयी। इसलिए 194.49 के बाद ग्रामीण क्षेत्र की प्रति व्यक्ति आय में कोई वृद्धि नहीं हुई: कुल आय में जो वृद्धि हुई भी तो उसे तकरीबन पूरा का पूरा जनसंख्या वृद्धि ने सोख लिया; जबकि शहरी क्षेत्र में प्रति व्यक्ति आय सीधे 20 प्रतिशत बढ़ गई परिलक्षित होती है। दोनों आयों के बीच की असमानता कम होने के बजाए बढ़ती ही गई है:

तालिका 13.2

अवधि	ग्रामीण	शहरी	दोनों के बीच असमानता	
			ग्रामीण	शहरी
1948–49	188.97	547.17	100	285
1960–61	202.61	669.28	100	330
बारह वर्षों का औसत				
1949–61	189.36	657.08	100	317

स्वाधीनता के बाद हमने ग्रामीणों और तुलनात्मक दृष्टि से निर्धनतर लोगों की आय में सुधार लाने की बड़ी–बड़ी बातों के साथ अपनी योजनाएं और विकास की गतिविधियां शुरू की थीं और दो पंचवर्षीय योजनाओं की समाप्ति पर हमें सिर्फ नगरवासियों और अपेक्षाकृत धनिकों की आय सुधारने में कामयाबी मिली। साफ है कि कोई चीज या कुछ चीजें हैं जो कहीं–न–कहीं गलत हैं।

किसी–किसी क्षेत्र में यह धारणा घर किये हुए है कि चूंकि कृषि उत्पादनों की कीमतें बहुत ऊंची हैं, इसलिए किसानों के लिए तो "इतना बढ़िया समय कभी नहीं था"। हालांकि यह धारणा दो मिथ्या अवधारणाओं पर आधारित है:

(1) कि हर किसान के पास बेचने के लिए फालतू अनाज होता है। जबकि वस्तुतः हमारे कम–से–कम आधे ऐसे किसानों के पास बाजार में बेचने के लिए नाममात्र का या जरा भी अनाज नहीं होता है, जो अपनी कम उपज वाली छोटी–छोटी ज़मीन पर खेती करते हैं। उनका उत्पादन मुश्किल से उनके उदर–पोषण की जरूरतें ही पूरी कर पाता है।

(2) कि कृषि उत्पादनों की कीमतें गैर–कृषि वस्तुओं की तुलना में अपेक्षाकृत ऊंची हैं –पहले जितनी होती थीं उससे उच्चतर। लेकिन जैसा कि आगे उद्धृत राज्य के आर्थिक गुप्तचर्या और सांख्यिकी विभाग द्वारा तैयार की गयी तालिका दिखाती है, 1948 से कृषि उत्पादनों की कीमतें निश्चित रूप से गिरी हैं जबकि गैर–कृषि उत्पादनों की कीमतों में काफी बढ़त आई है।

अगर मौजूदा या 1960–61 की कीमतों पर विचार करें–यही किसी नागरिक के लिए महत्त्व रखता है–तो ग्रामीण क्षेत्र की प्रति व्यक्ति आय (1948–49 के मूल्यों पर)–जो स्थिर रही है–में 5.3 प्रतिशत की कमी नजर आएगी और उधर गैर–कृषि वस्तुओं के उत्पादकों ने मूल्यों में 19.7 प्रतिशत वृद्धि दर्ज की। इससे पता चलता है कि जहां गैर–कृषि उत्पादकों को आज उन्हीं वस्तुओं के लिए 1948–49 की अपेक्षा 5.3 प्रतिशत कम भुगतान करना पड़ता है वहीं किसानों को 26.4 प्रतिशत ज्यादा भुगतान करना पड़ता है।

ग्रामीण क्षेत्र की ऋणग्रस्तता अंशतः कांग्रेस सरकार द्वारा 1939 में दूरगामी ऋण क़ानून लागू किये जाने और अधिकांशतः 1942–43 से लगातार कृषि उत्पादनों की कीमतों में वृद्धि होने के चलते कांग्रेस द्वारा 1946 में पुनः सत्ता की बागडोर हाथ में लेने से पहले ही गायब हो चुकी थी। फिर भी राज्य के पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही हिस्सों के बड़े भू–भाग 1950 से आज तक लगातार किसी–न–किसी प्राकृतिक प्रकोप के शिकार होते रहे हैं। परिणामस्वरूप कुल मिलाकर राज्य के ग्रामीण क्षेत्र में न केवल आर्थिक प्रगति नहीं हुई, बल्कि ऐसा लगेगा कि राज्य के कुछ खास हिस्सों में हालत पहले से बदतर होती रही है। पूरे राज्य में जोतदारों और खेतिहार श्रमिकों सहित बहुत बड़ी तादाद में किसान आज चालीस वाले दशक के आखिरी पांच वर्षों (1946–50) की अपेक्षा कहीं ज्यादा ऋणग्रस्त हैं।

तालिका 13.3

उत्तर प्रदेश में थोक मूल्य सूचकांक, गैर–कृषि खुदरा मूल्य सूचकांक और कृषि तुल्यता सूचकांक सम्बन्धी विवरण

वर्ष	कृषि थोक मूल्य सूचकांक 1948 = 100	गैर–कृषि खुदरा मूल्य सूचकांक 1948 = 100	कृषि तुल्यता सूचकांक कॉलम 2 × 100 कॉलम 3,1948 = 100
1	2	3	4
1952	98.0	101.0	97.2
1953	95.9	95.9	100.0
1954	80.9	95.8	84.3
1955	64.8	91.6	70.7
1956	82.8	98.8	83.7
1957	90.2	103.3	88.1
1958	103.0	103.5	99.4
1959	101.4	107.5	95.5
1960	97.0	115.0	84.3
1961	94.7	119.7	79.1

हालांकि प्राकृतिक विपदाओं के अलावा राज्य की मौजूदा आर्थिक स्थिति या इसकी विफलता के दूसरे कारण भी शायद कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं (वस्तुतः हैं), लेकिन उनका जिक्र यहां आवश्यक नहीं है।

प्लानिंग रिसर्च एण्ड एक्शन इंस्टीट्यूट, उ० प्र० द्वारा 1958 में घोसी सामुदायिक विकास प्रखण्ड को अध्ययन का विषय बनाया गया था। यह क्षेत्र आजमगढ़ ज़िले का हिस्सा है। यह राज्य का पहला क्षेत्र था जिसे 1952 में गहन विकास कार्य के लिए चुना गया था। अध्ययन को 'कम्युनिटी डवलपमेंट एण्ड इकोनॉमिक डेवलपमेंट' (सामुदायिक विकास और आर्थिक विकास) शीर्षक दिया गया, जो 1960 में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रकाशित हुआ।

सन् 1957–58 के अंत तक के तीन वर्षों के दौरान की ऋणग्रस्तता का पता लगाने के लिए क्षेत्रीय खोजें की गयीं। परिणामों को तालिका 13.4 में संक्षिप्त रूप दिया गया है:

तालिका 13.4

प्रत्येक ऋणग्रस्त जोतदार परिवार द्वारा ऋण लेना और चुकाया जाना

अवधि और ऋण	प्रखण्ड जोतदार		
	छोटे	मध्यम	बड़े
1955–56			
ऋण लिया	81	109	145
ऋण चुकाया	55	70	111
1956–57			
ऋण लिया	84	99	205
ऋण चुकाया	46	67	84
1957–58			
ऋण लिया	100	159	274
ऋण चुकाया	42	61	66

ज़िले के किसानों की बदतर होती आर्थिक स्थिति का इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण कुछ और नहीं हो सकता। गांवों में विकास की गतिविधियों के बावजूद समय जैसे–जैसे बीतता गया, सभी प्रकार के जोतदारों पर ढेर सारा ऋण भी बढ़ता गया।

उसी वर्ष यानी 1958 में नेशनल काउंसिल ऑफ एप्लायड इकोनॉमिक रिसर्च द्वारा बस्ती ज़िले की आर्थिक स्थितियों का अध्ययन आयोजित किया गया। अध्ययन को रिहैबिलिटेशन एण्ड डवलपमेंट ऑफ बस्ती डिस्ट्रिक्ट (बस्ती ज़िले का पुनर्वास और विकास) शीर्षक दिया गया और वह 1959 में एशिया पब्लिशिंग हाउस द्वारा प्रकाशित हुआ। उसमें यह पाया गया था कि तकरीबन 71 प्रतिशत परिवारों ने दूध का उपयोग किया ही नहीं था और सिर्फ 15 प्रतिशत के आहार में पर्याप्त प्रोटीन था। कुल उपभोक्ता व्यय का तकरीबन 85 प्रतिशत आहार ले लेता था, जिसका अर्थ है कि सिर्फ कपड़ा, घर की मरम्मत, शिक्षा, दवा–दारू, लगान और सिंचाई शुल्क सरीखे सरकारी बकाये, शादी–ब्याह और कितने ही अन्य आवश्यक और गृहस्थी की फुटकर जरूरतों के लिए सिर्फ 15 प्रतिशत रह जाते थे। अध्ययन के अनुसार सिर्फ 15 प्रतिशत परिवार अखिल भारतीय औसत आय स्तर पर या उससे ऊपर जीवन बसर कर रहे थे। उत्तर प्रदेश और कुल मिलाकर भारत की तुलना में बस्ती ज़िले की आर्थिक स्थिति तालिका 13.5 में दर्शित है:

तालिका 13.5

1955–56 में बस्ती,* उत्तर प्रदेश और भारत में प्रति व्यक्ति आय (रुपयों में)

क्षेत्र	राष्ट्रीय प्रति–व्यक्ति आय	कृषि और सम्बद्ध व्यवसायों से प्रति सदस्य आय		कृषि से भिन्न उत्पादन पर आश्रित जनसंख्या में प्रति–व्यक्ति आय
		कुल जनसंख्या में	भूमि पर आश्रित जनसंख्या में	
बस्ती	165	104	116	363
उत्तर प्रदेश	265	112	152	419
भारत	272	131	187	434

आजमगढ़ और बस्ती के लिए वार्षिक भू–राजस्व की मांग क्रमशः रु० 55,87,000 और रु० 63,68,000 है। इन दोनों ज़िलों के किसानों से और भी बोझ वहन करने के लिए कहने से पहले हमें अवश्य ही बार–बार सोचना चाहिए।

समय बीतने के साथ–साथ उत्तर प्रदेश में भू–जोतें, जिनमें से ज्यादातर तो पहले ही छोटी थीं, अब और भी छोटी–से–छोटी होती जा रही हैं, फलस्वरूप जोतदारों और खेतिहर मजदूरों, दोनों ही में रोजगार की कमी पहले से अधिक हो गई है। रोजगार की कमी में इजाफा होने से आर्थिक कठिनाइयां आवश्यक रूप से बढ़ेंगी। भारत सरकार ने देश–भर में खेतिहर मजदूरों की आर्थिक स्थिति की दो बार जांच कराई थी, पहली 1950–51 में और 1956–57 में। दूसरी जांच दिखाती है कि इस बीच

---

* बस्ती के आंकड़े 1955–56 की कीमतों पर आधारित हैं, जबकि उत्तर–प्रदेश और भारत के आंकड़े 1948–49 की कीमतों पर।
अध्ययन बताता है कि "कृषि से होने वाली आय को कुल आय की अपेक्षा ज्यादा महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है, क्योंकि कुल जनसंख्या का 90 प्रतिशत जीवन निर्वाह के लिए भूमि पर ही आश्रित है।" (पृष्ठ 8)। बहुत ही पीड़ादायक यह अध्ययन इस दुःखद निष्कर्ष पर पहुंचता है कि बढ़ती जनसंख्या और सीमित संसाधनों के चलते लोगों का जीवन स्तर 1921 में जो था, उससे भी निम्नतर हो गया है (पृष्ठ 1–2)।

उत्तर प्रदेश में (तीन या चार अन्य राज्यों की तरह ही) खेतिहर श्रमिकों की दशा बहुत ही बदतर हो गई थीः

तालिका 13.6

1950–51 और 1956–57 में खेतिहर श्रमिक परिवारों की वार्षिक आय

राज्य	आय		प्रतिशत में भिन्नता
	1950–51	1956–57	
उड़ीसा	340	319	6.2
मद्रास	371	375	–
आन्ध्र प्रदेश	381	426	–
मैसूर	388	486	–
मध्य प्रदेश	391	336	14.1
बम्बई	415	450	–
केरल	486	437	10.0
बिहार	535	420	21.5
उत्तर प्रदेश	551	373	32.3
राजस्थान	605	336	44.5
पश्चिम बंगाल	608	657	–
असम	609	775	–
पंजाब	686	731	–

स्रोतः "एग्रीकल्चरल लेबर इन इंडिया, रिपोर्ट ऑन द सेकंड एन्क्वायरी", खण्ड–1, प्रकाशन संख्या–53, श्रम और रोजगार मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ 138–39।

पहली जांच के अनुसार उत्तर प्रदेश में 1950–51 के दौरान एक खेतिहर मजदूर परिवार का उपभोक्ता व्यय रु० 543 था। मतलब यह कि आय और व्यय संतुलित थे। फिर भी 1956–57 में जाकर व्यय रु० 615 तक पहुंच गया। जैसा कि जांच की रिपोर्ट में उल्लेख है, परिसम्पत्तियां बेचकर और ऋणों के जरिए इस खाई को पाटा गया।

दूसरी जांच से प्राप्त निष्कर्षों की प्रामाणिकता पर जिन्हें किसी तरह का संदेह हो, वे 16 सितम्बर 1962 के 'पायनियर' में प्रकाशित इस समाचार–अंश को देख सकते हैंः

"द्वितीय खेतिहर श्रमिक जांच समिति की रिपोर्ट की जांच करने वाली तकनीकी समिति की राय यह थी कि पिछले दशक के दौरान खेतिहर मजदूरों का जीवन–स्तर स्थिर रहा। कुछ राज्यों में इसमें सुधार नजर आया, जबकि अन्य राज्यों में स्थिति निश्चित रूप से बदतर हुई।"

राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश निःसन्देह दूसरी श्रेणी में आ गए।

चर्चा के क्रम में हम तात्कालिक बिन्दु पर लौट चलें–भारत जैसे देश में जहां अनुबन्ध की स्वतन्त्रता है, कामगार की आर्थिक स्थिति उसके मालिक की स्थिति का संकेतक है। इस बीच जमींदारी या सामन्तवाद से मुक्ति मिलने के बावजूद कामगार यानी खेतिहर श्रमिक की आर्थिक स्थिति बदतर हुई है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसके मालिक या जोतदार की स्थिति सुधरी है।

द्वितीय जांच रिपोर्ट कहती है कि "संसाधनों से होने वाली आय के विश्लेषण से पता चलेगा कि उत्तर प्रदेश के मामले में खेतिहर श्रमिक की आय में भारी गिरावट के चलते ही यह गिरावट आई थी।" (पृष्ठ 139)

तालिका 13.7

वर्ष	जोतभूमि	खेतिहर श्रमिक	गैर–खेतिहर श्रमिक	अन्य	कुल
1950–51	61.71	379.34	56.20	53.45	551
1956–57	34.88	249.64	37.07	50.07	373
गिरावट	56.83	130.00	19.13	2.54	178

राज्य में खेती के काम में लगे वयस्क व्यक्तियों की दैनिक मजदूरी–दर 1950–51 के 118 नये पैसे से घटकर 1956–57 में 92 नये पैसे रह गई।

उत्तर प्रदेश के खेतिहर श्रमिकों की आय में इस भारी गिरावट का मुख्य कारण इस तथ्य में निहित है कि जोतभूमि के आकार में कमी आने से जोतदार और उसके परिवार के लिए यह सम्भव हो गया कि वे बाहरी श्रमिकों के बिना या पहले की अपेक्षा कम बाहरी श्रमिकों की मदद से अपने खेत की देखभाल अच्छी तरह कर सकें।

हमारे पूर्वी ज़िले खास तौर से आर्थिक अभाव और तंगी के शिकार हैं। उनकी आज की दुरवस्था का पता अंशतः इस तथ्य से चलता है कि लाखों की तादाद में जो वहां के श्रमिक और छोटे–छोटे किसान बर्मा, असम, कलकत्ता और बम्बई में जाकर काम करने लगे थे, वे अपने ही

ज़िलों में स्वागत योग्य नहीं रहे, बल्कि उन्हें खदेड़ा जाने लगा। उनकी आय के इस अतिरिक्त स्रोत के धीरे–धीरे सुख जाने से उनकी आर्थिक दिक्कतें तेजी से बढ़ती जा रही हैं।

साथ ही इस पर भी विवाद नहीं हो सकता कि ग्रामीण क्षेत्र में सुधार 'परिलक्षित' है। किसानों ने नई उपभोक्ता वस्तुएं अपनाई हैं–अपने बच्चों के लिए शिक्षा, बीमारों के लिए दवाएं, बेहतर कपड़े, सोने के लिए दरी–बिछौने, मिट्टी के बर्तनों के बजाए एल्युमिनियम या स्टील के बर्तन और तवे तथा आने जाने के लिए बाइसिकल के अलावा टी–सेट, बिजली के टार्च, घड़ियां, पक्के मकान और रेडियो भी। लेकिन इस 'सुधार' से किसी भ्रामक निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले दो बातें ध्यान में रखने की हैं:

(1) सुधार दरअसल बहुत मामूली है और ग्रामीण आबादी के मुश्किल से 10 प्रतिशत तक सीमित है। इसके अलावा, अपेक्षाकृत अच्छे–खासे किसानों के इस 10 प्रतिशत वाले स्तर में ज्यादातर वे हैं जो या तो खुद या अपने परिवार के सदस्य के द्वारा अपनी आय का अधिकांश गैर–कृषि संसाधनों से प्राप्त करते हैं, उदाहरण के लिए सरकारी नौकरी, सरकारी या स्थानीय निकायों से ठेके, बसों के लिए परमिट, नियंत्रित वस्तुओं के लिए लाइसेंस, ईंट के भट्टे आदि के जरिए।

(2) ऊपर उल्लिखित उपभोक्ता वस्तुओं पर होने वाले व्यय अधिकांशतः सिर्फ एक बदली हुई जीवन–पद्धति का प्रतिनिधित्व करते हैं, जीवन स्तर में किसी सुधार के नहीं। उदाहरण के लिए, ग्रामीण क्षेत्रों में दूध और दुग्ध उत्पादनों की खपत घट रही है और चाय धीरे–धीरे उनका स्थान ले रही है, लेकिन कोई भी इस पर गम्भीरता से यह दलील नहीं देगा कि यह एक वांछनीय विकास है, न ही इसे इस अर्थ में लेगा कि यह जीवन स्तर में सुधार है। दूध की अपेक्षा चाय कहीं ज्यादा सस्ती है जो अब बड़े शहरों में आम तौर पर बेची जाती है। राज्य या देश में जहां दूसरे तरह के जानवरों की संख्या तेजी से बढ़ रही है, वहीं घोड़े–घोड़ियां तेजी से गायब होती जा रही हैं, जो कुछ समय पहले तक ग्रामीण अंचलों में बहुतायत से होती थीं। पिछले दशक के दौरान ही राज्य में इन जानवरों की संख्या 21.9 प्रतिशत नीचे चली गयी। अगर खालीपन को बाइसिकल से भरा गया है तो इससे यह सूचित नहीं होता कि ग्रामीण आय में वृद्धि हुई है। पिछले दस वर्षों के दौरान आभूषणों पर, जो नारियों की एक कमजोरी है, होने वाला खर्च बहुत ही नीचे चला गया। आज जो लोग खर्च

कर सकते हैं, वे अपने बच्चों की शिक्षा पर या पक्के मकान पर रुपये खर्च करना चाहेंगे, सोने या चांदी के गहनों पर तो नहीं ही करना चाहेंगे जो कि सामाजिक मूल्यों में एक स्वागत योग्य परिवर्तन के चलते अब हैसियत के प्रतीक नहीं रह गए। स्वाधीनता के बाद से पक्के मकान बनवाने की जहां तक बात है, वे सिर्फ कुछ नकदी फसल वाले इलाकों में दिखाई देते हैं, लेकिन पुराने को मिला देने पर भी वे राज्य के ग्रामीण क्षेत्रों के कुल मकानों की संख्या के पांच प्रतिशत भी नहीं होते।

डॉ० एस० एस० गुप्ता, जिन्होंने अलीगढ़ ज़िले के गांवों में खेतिहर किसानों के बदलते उपभोक्ता दरें का सर्वेक्षण किया था, 16 जनवरी 1960 के 'ए० आई० सी० सी० इकोनॉमिक रिव्यू' में प्रकाशित अपने एक लेख में कहते हैं:

"व्यय के ढर्रे में परिवर्तन की उपर्युक्त चर्चा से संकेत मिलता है कि खेतिहर श्रमिक गांव की आबादी के अन्य वर्गों की तरह ही अपने बजट में कुछ नई वस्तुएं शामिल करने और कुछ पुरानी वस्तुएं छोड़ने को उत्सुक हैं। परिवर्तन को अपनाने की यह प्रवृत्ति प्रशंसनीय है, क्योंकि यह सुधार के लिए रास्ते खोलती है। फिर भी, इन नई दिख रही प्रवृत्तियों का उदास कर देने वाला पहलू यह है कि इनका लक्ष्य जीवन स्तर को उठाना नहीं है बल्कि व्यय को ये बढ़ाती हैं। उदाहरण के लिए, शराब पीने लगना या जूतों का इस्तेमाल करना जो मौजूदा भारतीय गांवों में नहीं बनते या दूध और दुग्ध उत्पादनों को छोड़कर उनकी जगह चाय शुरू कर देना या ज्यादा टिकाऊ कपड़े का इस्तेमाल छोड़कर बारीक मगर कम टिकाऊ कपड़े को प्राथमिकता देना या शादी–ब्याह जैसे अवसरों पर बेतहाशा पैसे बर्बाद करना–ये सब नई बातें दिखाती हैं कि श्रमिकों के खर्च पर काबू रखने और उन्हें सलाह देने की निश्चित रूप से आवश्यकता है ताकि वे अपनी स्थिति को बेहतर बनाने में सक्षम हों।"

ग्रामीण क्षेत्रों में रहन–सहन की स्थितियों में सुधार के बारे में इस तरह की धारणा आर्थिक तथ्यों के किसी ठोस सर्वेक्षण पर आधारित नहीं है। सिर्फ प्रति एकड़ आय के आंकड़ों से ही सही निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। योजना आयोग की शोध कार्यक्रम समिति ने 1954–55 में उत्तर प्रदेश के मेरठ और मुजफ्फरनगर ज़िलों के 32 गांवों में फार्म प्रबन्धन सर्वेक्षण कराया था। लागत–लेखा पद्धति के अनुसार आंकड़े इस प्रकार हैं।

तालिका 13.8

प्रति एकड़ निवेश मूल्य, प्राप्तियां, सकल लाभ या हानि, पारिवारिक निवेश–मूल्य, श्रम की आय और फार्म व्यवसाय की आय

आकार–समूह	प्रति एकड़ मूल्य रुपये में				
	निवेश	उत्पादन	सकल लाभ (+) या हानि (–)	पारिवारिक श्रम की आय	फार्म व्यवसाय की आय
5 से नीचे	344.14	313.13	–30.63	50.25	68.55
10 से नीचे	252.74	300.56	+47.82	119.87	133.29
15 से नीचे	183.93	253.84	+49.91	91.81	102.21
20 से नीचे	171.97	238.90	+66.93	111.84	120.92
और ऊपर	151.34	252.12	+100.78	124.11	132.33
औसत	203.97	264.11	+60.14	111.06	121.97

निवेश में निम्नांकित मदों के कुल मूल्य शामिल हैं:

बैल–श्रम	रु० 93.70
मानव–श्रम	रु० 58.50
परिवार	रु० 37.00
भाड़े पर	रु० 21.50
उर्वरक और खाद	रु० 7.1
औजारों का रख–रखाव	रु० 7.2
भूमि–राजस्व और उपकर	रु० 5.6
सिंचाई शुल्क	रु० 7.6
चालू पूंजी पर ब्याज	रु० 10.8
बीज	रु० 13.4
कुल	रु० 203.9

"पारिवारिक श्रम की आय" में शुद्ध लाभ या हानि के साथ–साथ किसान और उसके परिवार द्वारा किए गए श्रम की मजदूरी का निवेश शामिल है। रिपोर्ट में कहा गया कि यह 'फार्म व्यवसाय की आय' है, फिर भी किसी किसान की कुल कमाई का जो असली पैमाना है, उसमें 'पारिवारिक श्रम की आय' सहित निजी स्वामित्व वाली पूंजी पर बकाया ब्याज (और स्वामित्व प्राप्त भूमि पर बकाया लगान) शामिल है।

सर्वेक्षण के मुताबिक, जो कि एक बहुत सक्षम दल द्वारा किया गया था, मेरठ और मुजफ्फरनगर ज़िलों में किसानों की शुद्ध औसत आय रु० 121.97 प्रति एकड़ पाई गई थी। यह याद रखने की बात है कि इन दोनों ज़िलों में खेती योग्य वही इलाका आता है जिसे राज्य में सही तौर पर सर्वोत्तम माना जाता है तथा यह कि जिन गांवों में सर्वेक्षण किया गया था, वहां कृषि क्षेत्र के 48.2 प्रतिशत में गन्ना जैसी नगदी फसलें उगाई जाती हैं जबकि पूरे राज्य के लिए औसत प्रतिशत 8.0 है। राज्य के ज्यादातर हिस्से में प्रति एकड़ शुद्ध आय 80 रुपये के आसपास ही पाई जाएगी।

अतएव भूमि–कर विधेयक के जो समर्थक यह सोचते हैं कि प्रति एकड़ शुद्ध आय रु० 225 या रु० 250 है, वे ऐसी दुनिया में रहते हैं जो उत्तर प्रदेश के देहाती क्षेत्रों के जीवन की वास्तविकता से कोसों दूर है।

भूमि हदबन्दी क़ानून 1960 में लागू किए जाते समय जो 40 एकड़ न्यूनतम क्षेत्र की सीमा निर्धारित की गई थी, वही एक ऐसा तथ्य है जिससे पता चलता है कि राज्य सरकार की दृष्टि में तीन परिवारी' जोतों के गठन के लिए कम–से–कम 40 एकड़ की दरकार थी, ताकि उससे सालाना 3,600 रुपये की शुद्ध आय प्राप्त की जा सके। इस तरह पूरे राज्य के लिए प्रति एकड़ रु० 90 की शुद्ध औसत आय निकली और ठीक ही निकली।

यह पता चलेगा कि अगर किसान और उसके परिवार के श्रम को या चुकाई गई मजदूरी को (शहरों में मिलने वाली औद्योगिक या गैर कृषि क्षेत्र की मजदूरी दरों पर नहीं बल्कि गांव के मजदूरों को चुकाई जाने वाली स्थायी दरों पर ही सही) दृष्टि में रखा जाता है तो मेरठ और मुजफ्फरनगर ज़िलों में 5 एकड़ से कम वाली जोत पर खेती करना निश्चित रूप से एक घाटे का व्यवसाय है और हमारे 75 से 80 प्रतिशत तक के किसान इस श्रेणी में आते हैं।

जहां तक पशुपालन से होने वाली आय की बात आती है, हम फिर फार्म प्रबन्धन सर्वेक्षण की उपर्युक्त रिपोर्ट की तरफ लौट सकते हैं। फसलों और दुधारू पशुओं, दोनों ही के उत्पादन और लागत के संयुक्त आंकड़ों का वितरण देने के बाद रिपोर्ट में कहा गया है:

> लाभ, परिवार श्रम की आय और फार्म व्यवसाय की आय संयुक्त आधार पर दोनों नमूनों के (यानी लागत–लेखा और सर्वेक्षण) सभी आकार–समूहों की केवल फसलों से होने वाली आय की अपेक्षा निम्नतर है। ऐसा इस तथ्य के चलते है कि जोतों की सभी आकार–समूहों में दूध के उत्पादन में घाटा उठाना पड़ता है। पारिवारिक श्रम का मूल्य नहीं लिए जाने पर भी सभी जोतों में दूध का उत्पादन घाटे में चलता है।

उत्तर प्रदेश में आज 102 लाख खेतिहर परिवार हैं जिनकी कृषि योग्य औसत जोतभूमि 4.2 एकड़ है। उच्चतम सम्भावित आंकड़ा ही हम रखें तो किसी परिवार को कृषि से होने वाली सालाना कुल आय 1,110 रुपये और शुद्ध आय 512 रुपये होगी। लेकिन कृषि क्षेत्र की औसत आय का कोई भी आंकड़ा दो कारणों से भ्रामक होगाः

(1) दो तिहाई किसान इतनी भी रकम कमा पाने में समर्थ नहीं, क्योंकि उनमे से प्रत्येक के पास 4.2 एकड़ से कम जोतभूमि है।

(2) एक जैविक प्रक्रिया होने के कारण कृषि को प्राकृतिक संकटों से गुजरना पड़ता है, जैसा कि गैर–कृषि व्यवसायों में नहीं होता। उत्तर प्रदेश के बहुत बड़े भू–भाग पर तकरीबन हर साल बाढ़, सूखा या किसी और तरह की प्राकृतिक विपदा आती है, जिससे लाखों–लाख खेतिहरों की औसत आय में कमी हो जाती है।

किसानों की दयनीय आर्थिक व्यवस्था का पता हमें प्रति एकड़ शुद्ध आय के ऊपर दिए गए उस निम्नतर आंकड़े से चलता है, जिसकी पुष्टि लखनऊ विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री डॉ० बलजीत सिंह द्वारा खुद या अपनी प्रत्यक्ष निगरानी में किए या कराए गए उत्तर प्रदेश के छह गांवों के सर्वेक्षण से हो चुकी है। सर्वेक्षण के आधार पर तैयार की गई यह तालिका यहां उनकी पुस्तक 'नेक्स्ट स्टेप इन विलेज' (गांव में अगला कदम, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1961) से दी जा रही हैः

तालिका 13.9

प्रति परिवार वार्षिक व्यय के आधार पर नमूना परिवारों का घरेलू खर्च

गांव	रु० 1800 या अधिक	रु० 600–1800 या अधिक	रु० 600 या कम	कुल
लावर (मेरठ)	12	60	40	112
बरहन (आगरा)	3	117	102	222
चौमुहान (मथुरा)	5	74	43	122
इटौंजा (लखनऊ)	6	57	60	123
चौखरा (बस्ती)	5	60	90	155
दुबई (देवरिया)	9	57	46	112
कुल परिवार	40	425	381	846

डॉ० बलजीत सिंह परिणामों का सारांश, इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं:

> "कुल ग्रामीण आबादी का पैंतालीस प्रतिशत 50 रुपये से भी कम मासिक पारिवारिक खर्च पर गुजारा करता है। उन्हें गरीबी की रेखा से नीचे जिन्दगी बसर करने वालों में रखा जा सकता है। कुल आबादी के शेष आधे का मासिक खर्च मोटे तौर पर रु० 50 से रु० 150 तक है। ये न्यूनतम मानवीय जीवन–स्तर की जरूरतें पूरी कर पाने में समर्थ हो सकते हैं तथा समझ सकते हैं कि कुछ नाम मात्र की सुविधाओं के साथ जीवन यापन कर रहे हैं।"

इन पृष्ठों में चित्रित उत्तर प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों की आर्थिक स्थिति के सही होने के बारे में जिन्हें सन्देह है, उनकी बोलती बन्द हो जाएगी अगर वे खासतौर से राज्य के पूर्वी ज़िलों के गांवों में जाएं और कुछ घरों के भीतर जाकर देखें कि लोगों के पास क्या है तथा कैसे वे जीवन–यापन करते हैं। ऐसे बहुत से लोग हैं जिन्हें दोनों वक्त खाना नहीं मिलता और दिन इसी तरह गुजरते जाते हैं।

किसानों पर एक और प्रत्यक्ष कर लादने का प्रस्ताव हमारी नीतियों के साथ एक जबर्दस्त विरोधाभास भी है। स्वाधीनता प्राप्ति के समय से हम छोटे और बड़े किसानों को हर तरह की आर्थिक सहायता प्रदान करते रहे हैं, यह कहते हुए कि एक औसत किसान इस स्थिति में नहीं कि वह संसाधन–सुविधाओं या उन अन्य लाभों के लिए भुगतान कर सके, जिनकी उसे चाह रहती है या जो उसे उपलब्ध कराया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए आज सरकार पक्के कुएं जैसे सिंचाई के साधनों के निर्माण के लिए, औजारों या खास किस्म के उर्वरकों की खरीद के लिए तथा कीटनाशक या पौध संरक्षण उपायों के प्रावधान आदि के लिए आर्थिक अनुदान देती है। अब था तो शुरू से ही हमारी नीति या अनुदान देने का सिलसिला गलत सोच पर आधारित रहे, या फिर मौजूदा प्रस्ताव पर अच्छी तरह सोचा नहीं गया, इसलिए इसे छोड़ दिया जाना चाहिए। उन सभी की राय में जो गांवों और किसानों को निकट से जानने का दावा करते हैं, यह दूसरी बात ही सही है: भूमि–राजस्व में वृद्धि के प्रस्ताव पर पुनर्विचार की आवश्यकता है।

एक और तरीके से किसानों की नया आर्थिक बोझ वहन करने की क्षमता का आंकलन किया जा सकता है, जैसे कि हमारे आम लोगों के स्वास्थ्य या शारीरिक स्तर में निश्चित रूप से गिरावट आई है। ब्रिटिश शासन के दिनों में सेना में भर्ती के नियमों में यह उल्लेख होता था कि

चुने गये व्यक्ति की न्यूनतम ऊंचाई 5'6", छाती 32"–34" और वजन 125 पौंड हो। यह जानी–मानी बात है कि आज उत्तर प्रदेश में बहुत ही थोड़े ऐसे जवान हैं जो इन अपेक्षाओं को पूरा कर सकते हैं, इसलिए सैनिक मुख्यालय को ऊपर दी गई न्यूनतम योग्यताओं में ऊंचाई में 2 इंच छाती में 1 इंच और वजन में 5 से 10 पौंड की कमी करनी पड़ी। मैं नहीं कह सकता कि इस मामले में दूसरे राज्यों में भी इसी तरह की रियायत दी गई है।

हमने महामारियों की रोकथाम में सफलता पाई जिसके फलस्वरूप आजादी के बाद मृत्यु–दर में काफी कमी हुई है तथा जन्म–दर में भारी वृद्धि हुई है। अतएव स्वास्थ्य–स्तर में गिरावट की व्याख्या सिर्फ इसी एक धारणा से हो सकती है, यानी पुष्टिकर आहार की कमी। ऐसा प्रतीत होगा कि दो–दो पंचवर्षीय योजनाओं के बावजूद उत्तर प्रदेश में प्रतिव्यक्ति पोषक खाद्य पदार्थों की मात्रा नीचे चली गई है। यह साफ है कि या तो हम राज्य में जिस दर से जनसंख्या वृद्धि हुई, उसी दर से पोषक खाद्य का उत्पादन नहीं कर पाये, अथवा सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन के चलते हमने आहार में किफायत बरती और अपनी बचत को शौक और विलासिता की वस्तुओं में लगाया। दूसरी बात तो अधिक–से–अधिक आबादी के एक छोटे से हिस्से पर ही सच उतर सकती है।

उत्तर प्रदेश में भूमि कर का बोझ पहले ही लदा है तथा ग्रामीण या किसान कर चुकाने में पीछे नहीं हैं।

यह सच है कि अन्य राज्यों की तुलना में प्रति व्यक्ति कराधान का स्तर उत्तर प्रदेश में काफी कम है, लेकिन हमारे वित्त सचिवालय द्वारा उपलब्ध कराये गये विभिन्न राज्यों के बजटों के आंकड़ों पर आधारित निम्नांकित वक्तव्य दर्शाता है कि प्रभावकारिता का यह नियम इस तथ्य में नहीं कि राज्य में प्रति एकड़ भू–राजस्व कम है। हदबंदी लागू होने से कृषि–आयकर अब देय नहीं रहा, न ही उसकी वसूली की जाती है। फिर भी, वर्ष 1959–60 के दौरान प्रति एकड़ भू–राजस्व और आय–कर दोनों की दरें दर्शाने के लिए एक कॉलम निम्नांकित वक्तव्य में दिया गया है।

यह परिलक्षित होगा कि उत्तर प्रदेश में भू–राजस्व की दर उच्चतम है–उस राज्य से उच्चतर जो बाद में आता है, जैसे कि पश्चिमी बंगाल की दर से यानी 25.0 प्रतिशत से भी अधिक।

राजस्व और आय–कर का दबाव भी केवल दो छोटे राज्यों असम और केरल में उच्चतर है जहां चाय और नारियल के बागान हैं। फिर भी

यह परिलक्षित होगा कि सामान्य फसलें देने वाली भूमि से उतनी आय देने की अपेक्षा नहीं की जा सकती और इसीलिए उतनी कर चुकाने की क्षमता भी उसमें नहीं होती जितनी कि उस राज्य की भूमि में जहां चाय और नारियल की पैदावार होती है। निकटवर्ती राज्य पंजाब में (क) सिंचाई की दरें कहीं कम हैं, (ख) प्रति कृषि परिवार औसत जोतभूमि का रकबा कहीं बड़ा है, (ग) प्रति एकड़ उत्पादकता कहीं ज्यादा है, और (घ) भू–राजस्व का भार दूसरे राज्यों की अपेक्षा 50 प्रतिशत कम है। यह सब होने के बावजूद पंजाब सरकार ने भू–राजस्व में केवल 25 प्रतिशत वृद्धि की है और वह भी अब तक केवल बड़ी, सम्भवतः 10 एकड़ से ऊपर वाली, जोतों के मामले में।

उत्तर प्रदेश में मुख्यतः दो तरह के किसान हैं, यानी भूमिधर और सीरदार। उनके पास आज क्रमशः 1,56, 17,000 और 2,98,71,000 भूमि है (1960–61 के राजस्व खातों के मुताबिक)। कल के जमींदार आज के भूमिधर हैं जिन्हें उनकी खुदकाश्त वाली ज़मीन के मामले में यह नाम दिया गया है। उन्हें पुरानी दर से ही भू–राजस्व चुकाना होता है जो वे जमींदारी उन्मूलन से पहले चुका रहे थे, अर्थात् रु० 3.00 प्रति एकड़। अनके पास 66 लाख एकड़ या आज के कुल कृषि क्षेत्र का 14 प्रतिशत है और अपनी ज़मीनें हस्तांतरित करने का अधिकार उन्हें प्राप्त है। सीरदार पहले के रैय्यत हैं जिन्हें वही पुराना लगान (अब राजस्व) चुकाना होता है जो वे अपने जमींदारों को चुकाते थे। औसतन यह लगान आज रु० 5.75 प्रति एकड़ पड़ता है। इन रैय्यतों को भूमिधर के अधिकार यानी हस्तांतरण के अधिकार और अपने लगानों में 50 प्रतिशत कमी कराने के अधिकार हासिल करने का विकल्प दिया गया था, इसके लिए शर्त यह थी कि सरकारी लगान का दस गुना उन्हें चुकाना होगा। ये जमा रकमें जमींदारी उन्मूलन कोष में जानी थीं। सोचा यह गया था कि इस निधि से जमींदारों को मुआवज़ा दिया जाएगा तथा जमींदारी उन्मूलन पर होने वाले अन्य खर्च जायेंगे। लगभग 90 लाख एकड़ या कुल कृषि भूमि का 20 प्रतिशत ऐसे भूमिधरों के पास है और प्रति एकड़ औसतन रु० 2.2 लगान वे चुकाते हैं।

तालिका 13.10

विभिन्न राज्यों में 1959–60 के दौरान भू–कराधान की तुलनात्मक स्थिति

राज्य 1959–60	*कृषि भूमि (करोड़ एकड में)	भू–राजस्व (करोड़ रुपये में)	भू–राजस्व की स्थिति (प्रति एकड़ रुपये)	कृषि आयकर (करोड़ रुपये में)	भूमि पर कुल करः राजस्व का कॉलम–3* आयकर कॉलम–5 (करोड़ रुपये में)	कुल कर की स्थिति (करोड़ रुपये में)
1	2	3	4	5	6	7
उत्तरी क्षेत्र						
1. पंजाब	1.94	4.44	2.29	...	...	...
2. राजस्थान	4.65	7.94	2.18	0.03	7.97	2.19
केन्द्रीय क्षेत्र						
3. मध्य प्रदेश	4.13	9.72	2.35	0.01	9.73	2.35
4. उत्तर प्रदेश	4.47	20.91	4.68	0.88	21.79	4.87
पूर्वी क्षेत्र						
5. आसाम	0.86	2.53	2.94	2.57	5.10	5.93
6. बिहार	2.34	8.31	3.55	0.26	8.57	3.66
7. उड़ीसा	1.73	2.24	1.30	0.03	2.27	1.31
8. पश्चिमी बंगाल	1.46	5.05	3.73	0.73	5.77	3.95

तालिका 13.10

विभिन्न राज्यों में 1959–60 के दौरान भू–कराधान की तुलनात्मक स्थिति

राज्य 1959–60	*कृषि भूमि (करोड़ एकड में)	भू–राजस्व (करोड़ रुपये में)	भू–राजस्व की स्थिति (प्रति एकड़ रुपये)	कृषि आयकर (करोड़ रुपये में)	भूमि पर कुल करः राजस्व का कॉलम–3* आयकर कॉलम–5 (करोड़ रुपये में)	कुल कर की स्थिति (करोड़ रुपये में)
1	2	3	4	5	6	7
पश्चिमी क्षेत्र						
9. बम्बई	7.25	11.5	1.60	...	...	...
10 मैसूर	2.81	4.30	1.54	0.88	5.18	1.84
दक्षिणी क्षेत्र						
11. आन्ध्र	3.31	11.30	3.41	0.01	11.31	3.41
12. केरल	6.52	1.30	2.50	1.98	3.28	6.30
13. मद्रास	1.75	4.90	2.80	1.54	6.44	3.68

* **एग्रीकल्चर सिचुऐशन इन इंडिया** से उपलब्ध 1955–57 में जोत के भीतर आने वाली भूमि (मौजूदा परती क्षेत्रों और विविध वृक्षों और खाड़–झंझाड़ के तहत आने वाली ज़मीनों समेत)।

यह दिखेगा कि काश्तकार के लगान में की जाने वाली कमी उस रकम 5 प्रतिशत वार्षिक ब्याज के बराबर होती है जो वह सरकार को चुकाता है—उस दर से कम जो सरकार कृषकों को दी जाने वाली तकावी या अन्य ऋणों पर लेती है, इस तरह इस योजना को लागू किये जाने से सरकार को घाटा कतई नहीं होता।

इन किसानों ने अपने लगान की दस गुना रकम, जो वर्ष 1961 में कुल 39,67,000 रुपये थी, एकमुश्त सरकारी खजाने में जमा कर दी होती और आज 66 प्रतिशत भूमि जोतने वाले अपने शेष साथियों की तरह सीरदार ही रहना पसन्द करते—जैसा कि वे कर सकते थे तो राज्य की वार्षिक राजस्व मांग बढ़कर रु० $\frac{39,67,87,000}{10\times 2}$ हो जाती। यह रकम चुका दी गई या समझ लिया जाए कि अग्रिम चुका दी गई तो सीधा हिसाब बताएगा कि राज्य में भू—राजस्व प्रति एकड़ रु० 5.12 होता है—"यह आंकड़ा देश में कहीं से भी प्राप्त आंकड़े से ऊंचा है और पास के पश्चिम बंगाल से तो 41.5 प्रतिशत ज्यादा है।"

उत्तर प्रदेश का बजट सन्तुलन भू—राजस्व की वृद्धि में निहित नहीं है, इसकी पुष्टि निम्नांकित वक्तव्य तालिका—13.11 से भी होती है (राज्यों को अनदेखा करते हुए करों में केन्द्र की भागीदारी):

अगर किसी भी काश्तकार ने भूमिधारी के अधिकार हासिल नहीं किये होते तो उत्तर प्रदेश का भू—राजस्व, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, 2,289 लाख रुपये हो जाता और कुल करों में इसका प्रतिशत 41.5 पर पहुंच जाता। यह दिखेगा कि मध्य प्रदेश और राजस्थान जैसे सिर्फ दो ही राज्य ऐसे हैं, जहां भू—राजस्व का कुल राज्य करों में लगभग वही योगदान है जैसा कि उत्तर प्रदेश में है। "लेकिन जैसा कि वक्तव्य के आखिरी कालम से स्पष्ट है, इन दोनों राज्यों में उत्तर प्रदेश की अपेक्षा प्रति व्यक्ति जोत—क्षेत्र कहीं ज्यादा बड़े हैं।"

तालिका 13.11

राज्य	1959–60 के खातों के अनुसार राज्य के कुल कर (करोड़ रुपयों में)	भू–राजस्व (करोड़ रुपयों में)	राज्य के करों भू–राजस्व का प्रतिशत	1951 की आबादी में दर्शित प्रति व्यक्ति (1956–57 में) वास्तविक क्षेत्र
1. आन्ध्र	39.99	11.30	28.50	0.90
2. असम	13.33	2.53	18.98	0.57
3. बिहार	30.04	8.31	27.66	0.49
4. केरल	17.00	1.30	7.65	0.33
5. मध्य प्रदेश	24.78	9.72	39.22	1.47
6. मद्रास	36.95	4.90	13.29	0.48
7. बम्बई	73.90	11.50	15.56	1.39
8. मैसूर	23.00	4.30	18.69	1.28
9. उड़ीसा	7.53	2.24	29.75	0.95
10. पंजाब	23.95	4.44	18.53	1.12
11. राजस्थान	17.72	7.94	44.80	1.92.
12. उत्तर प्रदेश	53.17	20.91	39.33	0.66
13. पश्चिम बंगाल	44.52	5.05	11.32	0.49

भू–राजस्व को एक बहुत ही प्रतिगामी किस्म के कर (या लगान) के रूप में जाना जाता है–एक ऐसा कर जिसका उस अतिरिक्त आय से कोई सम्बन्ध नहीं जो मनुष्य अर्जित कर सकता है, बल्कि यह महज भूमि के स्वामित्व (या दखलकारी अधिकार पर आधारित है और इस तरह तुलनात्मक दृष्टि से (खेतिहर) समुदाय के निर्धनतर तबकों पर भारी पड़ता है। लेकिन, जब तक हमारे लोगों के गैर–कृषि संसाधन पहले विकसित नहीं कर लिये जाते, इसे बस आज ही खत्म नहीं किया जा सकता। मगर हम यदि इसे खत्म नहीं कर सकते तो कम–से–कम हमें यह देखना चाहिए कि इसमें वृद्धि नहीं की जाए; क्योंकि इस कर में वृद्धि का अर्थ होगा हमारी जनता के बीच करों के बोझ की असमानता और भी बढ़ाना। फिर यह भी कि भू–राजस्व की वृद्धि से चूंकि गरीब किसान के जरूरी मदों पर होने वाले खर्च में कटौती होगी, इसलिए उसकी क्षमता में और भी कमी आएगी, और इस तरह आर्थिक विकास के लिए घातक सिद्ध होगी।

जो लोग आय–कर से इस कर की तुलना करना पसन्द करते हैं, क्योंकि दोनों ही प्रत्यक्ष कर हैं, वे तीन तरह से गलतफहमी के शिकार हैं, जैसेः

1. भू–राजस्व ऐसे किसान तक के लिए देय है जो महज एक 'बिस्वा' ज़मीन का मालिक है, जबकि आय–कर सिर्फ उस व्यक्ति के लिए देय है जो प्रतिवर्ष रु० 3500 से अधिक या रु० 3600 कमाता है।
2. अगर कोई दुकान या फैक्ट्री बन्द हो जाती है तो उसका मालिक उसी दिन से आय–कर चुकाने से मुक्त हो जाता है, जबकि कृषि क़ानून इस लिहाज से इतना निर्मम है कि भू–राजस्व उन ज़मीनों तक के लिए देय होता है जो पांच साल की अवधि तक भी परती या बिना जुती पड़ी रहे। ऐसी परती या बिना जुती भूमि उत्तर प्रदेश में हर साल 31 लाख एकड़ तक होती है, जिन पर औसतन बिल्कुल वही भू–राजस्व देय होता है।
3. आय–कर के मामले में धनी लोग न केवल क़ानूनी 'बचाव के रास्ते' निकाल कर आय–कर के दायरे से बाहर हो जाते हैं बल्कि प्रशासकीय अक्षमताओं के जरिए इससे बचे रहते हैं। जिस आय पर कर छिपाया जाता है वह अभी अज्ञात है, लेकिन भारत के केन्द्रीय राजस्व बोर्ड का अन्दाजा है कि मूल्यांकित आय के कम से कम 30 प्रतिशत आय पर कर की चोरी होती है और आधे से अधिक राजस्व का नुकसान होता है। इसके विपरीत कृषि क्षेत्र में न कोई बचाव और न ही छिपाव–कुछ भी नहीं हो सकता। जमींदारी उन्मूलन के बाद जारी हमारे अनेक अभियानों के फलस्वरूप आज ज़मीन का एक–एक टुकड़ा तक राजस्व–खातों में दर्ज है।

भूमि–कर विधेयक के प्रस्तावक अक्सर यह तर्क देते सुनाई पड़ते हैं कि 'राज्य की' कुल घरेलू आय के लगभग 54 प्रतिशत की प्राप्ति चूंकि कृषि से होती है, इसलिए इस पर अनुपाततः कर तो लगना ही है। मगर यह भुला दिया जाता है कि यह किसी वर्ग या क्षेत्र की कुल आय नहीं है, अथवा इस पर कर लगना चाहिए, बल्कि यह एक व्यक्ति की आय है या कहिए कि वह बचत है जो बुनियादी जरूरतें पूरी करने के बाद उसके पास होनी चाहिए ताकि यथासम्भव उचित सुविधाएं उसे उपलब्ध हों। खेती में लगे लोग बड़ी मुश्किल से थोड़ी–सी कमाई कर पाते हैं, लेकिन अपनी विशाल संख्या के कारण वे यानी 74.0 प्रतिशत लोग संयुक्त रूप से कुल आय में 54.0 प्रतिशत का योगदान करते हैं, कल्पना में भी उनसे यह उम्मीद नहीं की जा सकती है या न ही कहा जा सकता है कि वे राज्य के कुल करों में 54.0 प्रतिशत का योगदान करें। इसके विपरीत जो

लोग निर्माण उद्योग, वाणिज्य, परिवहन और अन्य सेवाओं में लगे हुए हैं, उनकी वैयक्तिक बचत ज्यादा है और इसीलिए न्यायसंगत तौर पर राज्य के करों में उन्हें राज्य की कुल आय में शामिल उनकी वर्गगत आय की अपेक्षा कहीं ज्यादा प्रतिशत योगदान करने के लिए कहा जाए –व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप से भी।

खबरों के अनुसार मुख्यमन्त्री ने 16 सितम्बर को कानपुर शहर के उत्तरी विधान सभा क्षेत्र के कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं की बी० एन० एस० डी० कालेज हॉल में हुई बैठक को सम्बोधित करते हुए कहा कि "योजना के वित्तीय प्रबंध का सारा बोझ नगरवासियों पर लादना ठीक नहीं होगा। अगर तंगहाल क्लर्क या कारखाने के मजदूर से भारी करों का बोझ वहन करने के लिए कहा गया तो गांववासी को भी ऐसे भार वहन से छूट नहीं मिलनी चाहिए।" शहर में उन्होंने कहा कि अल्प वेतनभोगी वर्ग अपनी कमाई का बहुत बड़ा भाग वे चीजें जुटाने पर खर्च करता है जो ग्रामीणों को खेतों से मिल जाती हैं। योजना के कार्यान्वयन के बोझ में अपनी भागीदारी कोई भी वर्ग दूसरों पर नहीं डाल सकता। (नेशनल हेराल्ड, लखनऊ, 16 सितम्बर 1962)

अब यह जांच करने की बात है कि क्या सचमुच योजना के वित्तीय प्रबन्ध का सारा बोझ नगरवासियों पर लादा जा रहा था और ग्रामवासियों को इससे छूट मिल रही थी? नीचे दिए गए वक्तव्य तालिका–13.12 में 1960–61 के लेखा परीक्षण खातों के अनुसार राज्य के खजाने में जमा प्रत्येक कर की रकम दर्शित है:

तालिका-13.12

	(हजारों में)
1. बड़ी जोत भूमि कर	रु० 8687
2. भू–राजस्व	रु० 22,8182*
3. राज्य चुंगी कर	रु० 7,5779
4. मोटर वाहनों पर कर	रु० 3,2156
5. सामान्य बिक्री–कर	रु० 11,6989
6. गन्ने पर उप–कर और खरीद–कर	रु० 4,2623

* वार्षिक रु० 1,98,39,000 समेत जो भूमिधरों द्वारा अग्रिम चुका दिए गए हैं (उनकी जमा रकमों पर ब्याज के रूप में जो सरकार को मिलती है)।

	(हजारों में)
7. स्टाम्प और निबंधन शुल्क	रु० 4,9196
8. मनोरंजन और पणन–कर	रु० 1,5985
9. बिजली शुल्क	रु० 6355
10. मोटर स्पिरिट पर कर	रु० 58,0574

इन करों में से प्रथम दो कुल करों के 40.80 प्रतिशत हैं जो पूरी तरह से कृषकों द्वारा चुकाए जाते हैं तथा अन्तिम तीन यानी 4.64 प्रतिशत तकरीबन पूरा–का–पूरा गैर–कृषक चुकाते हैं। बचे हुए पांच में से सामान्य बिक्री–कर मोटर–वाहन कर और गन्ने पर उप–कर और खरीद कर व्यापारी और मोटर या कारखाने के मालिक नहीं चुकाते बल्कि उन्हें उपभोक्ता और प्रयोगकर्ता पर डाल दिया जाता है। ये सारे कर मिलाकर 54.56 प्रतिशत होते हैं और नगरवासियों और ग्रामीणों द्वारा संयुक्त रूप से चुकाए जाते हैं। ग्रामीण और नगरवासी कुल आबादी में क्रमशः 87.15 और 12.85 प्रतिशत होते हैं। यह मानकर चलें कि आखिरी वर्ग के ये पांचों कर ग्रामीणों और शहरी लोगों द्वारा उनकी आय के अनुपात से चुकाए जाते हैं यानी 1 से 3.7, तो पता चलेगा कि इनका भार 65.84 प्रतिशत भार (जो राज्य–करों के कुल भार का 32.92 होता है) ग्रामीण क्षेत्र पर पड़ता है और शेष पूरे शहरी क्षेत्र पर। "इसलिए ग्रामीण या कृषक सारे राज्य–करों का (40.8 + 35.92 =) 76.72 प्रतिशत या तीन चौथाई से ज्यादा चुकाता है।" यह कहना पुनरावृत्ति होगी कि ग्रामीण लोगों की, जो शहरी लोगों की आय का मुश्किल से 29 प्रतिशत कमा पाते हैं, बचत बहुत ही कम या कुछ भी नहीं हैं।

जहां तक राज्य कोषों के उपयोग की बात है, इसकी चर्चा यद्यपि कोई न भी करना चाहे तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि राज्य कोषों का उपयोग इस तरह किया जाता है कि शहरी लोगों को वे सब सुविधाएं सुलभ हों जो एक आदमी को चाहिए, जैसे बिजली की रोशनी, सड़कें और रेल सेवा, डाक–तार सुविधाएं, सर्वोच्च शिक्षा के अवसर, आधुनिक चिकित्सा सुविधाएं, खेल–कूद और मनोरंजन आदि, जबकि गांव के लोगों को ये सुविधाएं इतनी आसानी से या बिलकुल ही नहीं मिलतीं। इन तथ्यों की रोशनी में हम सबके लिए यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि शहर के 'क्लर्क और कारखानों के कामगार' आज 'तंगहाल' हैं और शिकायत की स्थिति में हैं या गांव का औसत 'किसान'!

नया कर लादना जरूरी नहीं

प्रस्तावित जोत–भूमि–कर की उगाही कतई जरूरी नहीं है, क्योंकिः

(क) अच्छे–खासे वांछित परिणाम बिना अतिरिक्त संसाधनों की उगाही या निवेश के प्राप्त किए जा सकते हैं; और

(ख) आवश्यक संसाधन पहले से मौजूद हैं।

ईमानदारी और सूझबूझ से उपयोग में लाया गया एक रुपया बिना विचारे खर्च किए गए दो रुपयों की अपेक्षा अधिक लम्बे समय तक चलेगा। लेकिन दृढ़ता और सूझबूझ वास्तव में दो अभाव हैं–आज हमारे प्रशासन को इन्हीं दो गुणों की जरूरत है। लेखा परीक्षक की रिपोर्ट (1961–62) के अनुसार मार्च 1961 में समाप्त होने वाली अवधि में 53.79 करोड़ रुपये मूल्य की अंकेक्षण–पुस्तिकाओं में दर्ज 60,411 आपत्तियां 1 जुलाई 1961 को बकाया थीं। कुल मिलाकर 12.54 करोड़ रुपये के उपयोग में आने के प्रमाण–पत्र लेखा–परीक्षक कार्यालय को सौंपे नहीं गए थे। गबन, बेकार और गैर–जरूरी खर्चे तथा न वसूल होने वाले बकायों के चलते ट्रेजरी पर 2.35 करोड़ रुपये का ऋण चढ़ गया था।

हमारी कार्य–प्रणाली पर शायद कोई टिप्पणी करने की जरूरत नहीं है। हम आलसी, अक्षम और भ्रष्टाचारी पर अपेक्षित रूप से भौंहें नहीं चढ़ाते। दोषी को दण्ड देने के संकल्प और राज्यव्यापी नौकरशाही की विराट मशीनरी पर पैनी नजर रखने का हमारे भीतर अभाव है, इसलिए शायद हमें जनता से यह कहने का बहुत ही कम या बिलकुल ही अधिकार नहीं है।

यह धारणा बेबुनियाद है कि बड़े परिणाम लाने के लिए बड़े पैमाने पर खर्च करना जरूरी है। ऐसी योजनाएं निर्मित की जा सकती हैं जो कम लागत की हों मगर लाभ ज्यादा दें। उदाहरण के लिए जमींदारी के उन्मूलन ने कृषक समुदाय के आत्मसम्मान की बहाली और कठोर श्रम के लिए प्रोत्साहन के रूप में जिन शक्तियों को मुक्त किया उनका उत्पादन की वृद्धि में बहुत बड़ा योगदान रहा, फिर भी हमें उसके लिए कोई कीमत चुकानी नहीं पड़ी। इसी तरह, भूमि उपयोग क़ानून लागू किए जाने और तराई क्षेत्र में पुनर्वास (उपनिवेश नहीं) की योजना से लाखों–लाख एकड़ ज़मीन का पुनरुद्धार हुआ और सरकार को कोई लागत भी चुकानी नहीं पड़ी। जोतों की हदबन्दी भी इस तरह का एक और बड़ा कदम है जिससे उल्लेखनीय परिणाम सामने आए हैं। इसकी क्षमता की संभावनाओं का यदि पूरा–पूरा लाभ लिया जाए तो और भी बेहतर परिणाम सामने आ सकते हैं। यही नहीं कि इन तीनों उपायों में

राज्य की कोई लागत नहीं लगी इनसे सुनिश्चित प्राप्तियों के अर्थ में वास्तविक आर्थिक लाभ भी हुए हैं। इस तरह यदि हम सिर्फ अपेक्षित मार्ग का अनुसरण करें तो कमोवेश ऊपर वर्णित–ढंग की योजनाएं एक–एक कर अच्छे परिणाम सामने लाएंगी। बड़ी और भारी–भरकम योजनाओं की जगह छोटी योजनाएं लेंगी जिनकी कोई लागत नहीं होगी, लेकिन परिणाम जो स्थायी देंगी। उदाहरण के लिए, दो पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान नहरों नलकूपों और जलाशयों के निर्माण में हमने जो रकम लगाई, उसी से मौटे तौर पर दुगने क्षेत्र के लिए सिंचाई सुविधाएं उपलब्ध हो जातीं, अगर हमने परशियन चक्के वाले पक्के कुएं निर्मित किए होते और जल की निकासी पर ध्यान दिया होता। इसके विपरीत बने–बनाए कुएं, तालाब और अन्य जल स्रोतों को हमने बेकार हो जाने दिया जिसके फलस्वरूप इन स्रोतों से सिंचित क्षेत्र में, पचास वाले दशक के दौरान 4.0 लाख एकड़ से अधिक की कमी आ गयी। योजनाएं जब हमने शुरू कीं उससे पहले सिंचाई विभाग को प्रतिवर्ष 1.75 करोड़ रुपये की शुद्ध आय होती थी, 1960–61 में उसको उतनी ही रकम का वास्तविक घाटा हुआ। इस बारे में कि गरीब देश या राज्य की अर्थव्यवस्था को कैसे नया रूप दिया जाए या इसके संसाधनों का कैसे रख–रखाव किया जाए, हमारे लिए शायद यह बेहतर होगा कि हम पीछे पलटकर गांधीजी के वचनों और एक–दो लिखित पन्नों पर गौर करें।

उत्पादन के लिए लागत जरूरी है, लेकिन अपेक्षित मानवीय गुण उससे कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। जब तक हमारे लोग समुचित सामाजिक और आर्थिक नजरिया नहीं अपनाएंगे, तमाम भारी–भारी निवेश और खर्च बेकार जाएंगे, कम–से–कम वैसे नतीजे नहीं देंगे जैसे किसी दूसरे देश या अपने ही पड़ोसी राज्य पंजाब में देंगे। हमारे लोग घातक नजरिए के शिकार हैं और हमने उन्हें यह सिखाने के लिए कुछ नहीं किया है कि कैसे वे उससे बाहर निकलें। अपने रोग के निदान का अभी तक कोई प्रयास नहीं किया है, शायद यही कारण है कि उत्तर प्रदेश के लोग क्यों केंचुली में कैद हैं। हमारी जनता की मानसिकता को नया रूप देने के लिए एक व्यापक शैक्षिक प्रयास और अभियान शुरू किया जाना है, जिसमें सभी उपलब्ध सरकारी और गैर–सरकारी एजेंसियां शरीक हों।

जब तक देहात की जनता सजग नहीं होती, हमारी प्रशासनिक मशीनरी का नजरिया ग्रामोन्मुखी नहीं होता और सरकारी कर्मचारी मिशन भावना से अभिप्रेरित नहीं होते, तब तक कुछ भी नहीं किया जा सकता–कोई भी नाम लेने लायक आर्थिक विकास नहीं हो सकता, भारी कराधान और बेतहाशा खर्च के बावजूद।

जहां तक वित्तीय संसाधनों की बात है, या जो आज भी आवश्यक हैं, कई रास्ते खुले हुए हैं:

(क) योजना आयोग ने निकाय के रूप में और अलग–अलग भी हमें आश्वस्त किया कि जहां तक केन्द्रीय सहायता का सम्बन्ध है, उसमें कटौती नहीं की जाएगी। फिर भी खास तौर से केन्द्रीय वित्त मंत्री की गैर–हाजिरी के कारण वे यह आश्वासन लिखित रूप में नहीं दे सके। अवश्य ही मुनासिब तौर पर उन्होंने हमसे यह अपेक्षा की कि उपयुक्त रकम की उगाही के लिए हम भरपूर प्रयास करें। उन्होंने स्पष्ट किया कि वे किसी खास कर पर बल देते हैं या यही चिंता करते हैं कि आवश्यक रकम जुटाने के लिए हम क्या करते हैं। लेकिन अगर फिर भी हम लक्ष्य का अपना भाग पूरा नहीं कर पाते हैं तो निश्चित रूप से वे हमारी मदद के लिए आएंगे।

(ख) लखनऊ में 23–25 जुलाई को आयोजित वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारियों के सम्मेलन का विचार था कि 191 करोड़ रुपये के बजट में 2.5 प्रतिशत की दर से 5 करोड़ रुपये की किफायत आसानी से प्रभावी हो सकती है।

फिर भी मुख्यमन्त्री ने अपने 26 जुलाई के पत्र मे, मुझे सम्बोधित करते हुए यह मत व्यक्त किया कि इस तरह की किफायत से 'रोजगार पर रोक' लगेगी। अब यह कठिन है कि इसे सही नजरिया कहें। पहले तो हमारे दिमाग में यह बात साफ होनी चाहिए कि वेतन वाली नौकरियों की संख्या कितनी भी गुना वृद्धि होने से रोजगार की समस्या में इंच मात्र भी फर्क नहीं आने वाला है। दूसरे, "सरकार द्वारा नियुक्त कर्मचारियों के विशाल समूह में, जो 1945–46 के कर्मचारी–समूह से तिगुना बड़ा है, लगभग एक तिहाई के पास आज एक पूरे दिन का काम नहीं है।" तीसरे, मौजूदा कर्मचारी वृन्द की छंटनी किए बगैर काफी कुछ किफायत बरती जा सकती है: चौथे, हम एकबारगी यह निर्णय ले सकते हैं कि जहां तक सम्भव हो, बाहर से कोई भर्ती नहीं करेंगे बल्कि भविष्य में उन्हीं कर्मचारियों को काम पर लगाने तक सीमित रहेंगे जो पहले से नियुक्त तो हैं, मगर अभी जिन्हें हम फालतू समझते हैं। पांचवें, फिर भी अगर जरूरी हो तो हमें छंटनी करने से हिचकिचाना नहीं चाहिए। कुछ हजार व्यक्तियों के हित से सार्वजनिक हित ऊपर होना चाहिए।

अपने उस पत्र में जिसका ऊपर जिक्र हो चुका है, मुख्यमन्त्री कहे बिना नहीं रहे कि "वह उन लोगों में नहीं हैं जो झूठी किफायतसारी की बात करते हैं, क्योंकि विकासशील देश में अनावश्यक व्यय की अपेक्षा

झूठी किफायत ज्यादा नुकसानदेह है।" झूठी किफायत कोई नहीं चाहता, लेकिन ऐसा लगता है कि हमारे प्रशासन में वास्तविक किफायतसारी के लिए कोई जगह नहीं है। क्योंकि ऐसा अगर होता तो मुख्यमन्त्री निःसंदेह इसे अभी लागू कर देते। इसके विपरीत किसी का इस निष्कर्ष पर पहुंचना गलत नहीं होगा कि मुख्यमन्त्री चूंकि 'अनावश्यक व्यय' को बर्दाश्त करने के लिए तैयार हैं, इसलिए वह नहीं सोच पाते कि किफायतसारी सचमुच में कोई अच्छाई है या इसके अच्छे परिणाम हो सकते हैं।

"नौकरशाही के निरंकुश होने का खतरा हर जगह रहता है। यह जनता के प्रतिनिधियों का कर्तव्य है कि वे इस प्रवृत्ति पर रोक लगाएं। फिर भी उत्तर–प्रदेश में यह विडम्बना ही है कि मामला बिल्कुल उल्टा है। जबकि हमारे अफसर किफायतसारी का सुझाव देते हैं, सरकार के हम सदस्य हैं कि नए कराधान पर तुले हुए हैं।"

यह अवश्य ही दर्ज किया जाना है कि उत्तर प्रदेश में जिस तरह घोंघे की गति से विकास हो रहा है, उससे योजनाएं जनता के लिए एक भारी बोझ बनकर रह जाएंगी। उत्तर प्रदेश की तृतीय पंचवर्षीय योजना कहती है, "दूसरी योजना के विकासात्मक व्यय के बाद उसके रख–रखाव का व्यय तीसरी योजना में अंदाजन 70.68 करोड़ रुपये होगा। द्वितीय योजना के अन्तिम वर्ष 1960–61 के लिए बजट 117.58 करोड़ रुपये का था। आने वाले वर्षों में इसी व्यय को न केवल दुहराने की जरूरत पड़ेगी। बल्कि उसमें वृद्धि के लिए समुचित रकम की व्यवस्था भी करनी पड़ेगी।" राज्य की पहली दो योजनाओं में 394 करोड़ रुपये लगे थे। तीसरी योजना तकरीबन 500 करोड़ रुपये की है। वर्तमान दर से तीसरी योजना के विकासात्मक व्यय से सम्भावना है कि रख–रखाव का व्यय और आ जुड़ेगा जो तीसरी योजना की अवधि में कुल मिलाकर (रु० 90 करोड+ रु० 70.68 करोड़) ये 160.68 करोड़ रुपये या औसतन वार्षिक 32.136 करोड़ रुपये होगा। "जबकि 1960–61 में राज्य की कुल आय सभी स्रोतों से (भारत सरकार से प्राप्त अनुदानों और सबसिडियों को छोड़कर) सिर्फ 1,34,16,00,000 रुपये थी।" 191 करोड़ रुपये के 1962–63 के बजट में से 110 करोड़ रुपये या 57.5 प्रतिशत तो वेतन, भत्तों, मानद राशि, आकस्मिक फुटकर व्यय, ऋण सुविधाओं और पेंशन पर ही खर्च हो जाएंगे। भवनों के निर्माण और मरम्मत के 7.8 करोड़ रुपये अलग रखे गए है। इसकी पूरी सम्भावना है कि "केन्द्र की ओर से असीमित सहायता का आश्वासन देने की उदारता नहीं दिखाई गई तो" आने वाली राज्य सरकारें आय–व्यय में संतुलन नहीं रख पाएंगी। कृतज्ञता के साथ याद करने के बजाए आगामी पीढ़ियां हमारी अदूरदर्शिता के लिए हमें कोसेंगी।

(3) हमारी कर–निर्धारण की प्रक्रिया को सख्त होना है। अगर सिर्फ क़ानूनी खामियां दूर कर दी जाएं और कठोरता से प्रशासकीय अक्षमता को हटाया जाए तो मौजूदा दरों पर कराधान से ही कई करोड़ रुपये ज्यादा की उगाही हो सकती है।

(4) केवल कर निर्धारण एजेंसियों को ही व्यवस्थित नहीं किया जाना है, बल्कि कर संग्रह करने वाली मशीनरी को भी अधिक सक्षम बनाया जाना है। कितना कर छिपाया और चुकाया जाता है, यह एक अनुमान की बात हो सकती है, लेकिन इस पर विवाद नहीं हो सकता कि हमारे समाज के तुलनात्मक दृष्टि से खुशहाल तबके पर करों और ऋणों की लगभग 17.5 से 20.0 करोड़ रुपये तक की रकम आज भी बकाया है–जिनकी उगाही या वसूली होनी है। इस विशाल रकम में दो मदें ऐसी हैं जिनकी वसूली में सामान्यतः कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए, जैसे चीनी मिलों के मालिकों से गन्ना उप–कर और खरीद कर की बकाया रकम लगभग 7.5 करोड़ रुपये (विचाराधीन याचिकाओं से सम्बन्धित एक करोड़ रुपये को छोड़कर) तथा बिक्री कर के (6.5 करोड़ रुपये में से) 4.0 करोड़ रुपये की रकम जिसमें 'कच्चा आढ़तियों' पर बकाया 85 लाख रुपये की रकम शामिल है, जो कृषि उत्पादनों के उत्पादक–विक्रेता यानी किसानों से संभवतः गैर–क़ानूनी ढंग से वे वसूल चुके हैं। ये खुशहाल बकाएदार ऐसा कोई ठोस कारण नहीं देखते कि रकम चुकाने में जल्दबाजी करें। "बिक्री कर के बकाए पर कोई ब्याज नहीं होता, और गन्ना उप–कर तथा खरीद कर के बकाए पर ब्याज रु० 6.0 प्रति सैकड़ा प्रति वर्ष होता है।" बैंक इससे कहीं ऊंची दर पर ब्याज लेते हैं, और निवेश सभी मदों में ऊंचे लाभ देते हैं। इसलिए किसी कर के निर्धारण और वसूली में सरकार की विफलता के चलते राज्य के खजाने में जाने के बजाए यह एक बेईमान विक्रेता या बकाएदार करदाता के अतिरिक्त लाभ का एक जरिया हो जाता है।

मिलों के विरुद्ध गन्ना उप–कर और खरीद कर की बकाया रकम वार्षिक आकलन का औसतन 200 प्रतिशत है। फिर भी, भू–राजस्व के बकाये की रकम मामूली होने पर भी कृषक जहां नियमित रूप से हवालात और जेल में भेज दिए जाते हैं और उनकी ज़मीन बगैर सोचे–समझे नीलाम कर दी जाती है, वहीं राज्य में एक भी ऐसा मिल मालिक नहीं जिसे कठघरे में खड़ा किया गया हो या उसकी मिल नीलामी पर चढ़ा दी गई हो। इन बड़े लोगों के विरुद्ध कार्रवाई करने में हम हिचकिचाते हैं, क्योंकि वे यह छाप छोड़ने में कामयाब हुए हैं कि यदि हमने उनके विरुद्ध बल प्रयोग का तरीका अपनाया तो वे मिल–कारखाने बन्द कर

सकते हैं और इससे जनहित की क्षति हो सकती है। इस निष्कर्ष से सहमत होना कठिन है अगर कारखाने वास्तव में कर चुकाने में असमर्थ होते या घाटे में चल रहे होते तो उनके मालिक दूसरे ही दिन उन्हें बन्द कर देते, सरकारी प्रबोधनों और अपीलों के बावजूद। दूसरी तरफ, वे अपने बकाये झटपट चुका देते, अगर उन्हें यह पता होता कि सरकार बहुत सख्ती से पेश आने वाली है। बकाये के एवज में सरकार खुद कारखाने खरीद सकती है या कम–से–कम अधिकृत नियंत्रक नियुक्त कर सकती है। नियंत्रकों के मामले में हमारा अनुभव काफी संतोषप्रद रहा है। वस्तुतः मिल–कारखानों के मालिक ऐसी स्थिति आने ही नहीं देंगे और यदि आने भी दें तो सरकार और कृषक वर्ग दोनों ही लाभ में रहेंगे।

फिर भी मुझे डर है कि इस शीर्षक के अन्तर्गत या किसी अन्य स्रोत से मिले मेरे सुझावों का कुछ भी असर नहीं होगा। क्योंकि, अपने 26 जुलाई के उल्लेखित पत्र में मुख्यमंत्री ने एक यह सिद्धांत बताया है, कि "ज्यादा प्रभावी कर वसूली शायद ही कभी नये करों का विकल्प वहां हो सकती है, 'जहां बेरोजगारी से निपटने के लिए प्रचुर राजस्व की उगाही की जानी हो।" हालांकि इसमें नरमी लाते हुए कहते हैं, "बड़े लोगों से सरकारी बकायों की वसूली नहीं होने पर सरकार को कहीं–न–कहीं से बदनामी मिलेगी।"

(5) मुख्यतः निर्माण–सामग्री का अभाव और कल्पनारहित नियोजन के कारण हम किसी भी वर्ष के दौरान वह रुपया खर्च नहीं कर पाते जो बजट उपलब्ध करता है। ऑडिट रिपोर्ट (1962) कहती है, "राज्य के खातों से पता चला है कि दूसरी पंचवर्षीय योजना के प्रत्येक वर्ष में राजस्व फालतू रहा जबकि बजट पेश करते समय प्रत्येक वर्ष में घाटे का अनुमान लगाया गया था।" (पृ०–4)। ऐसी अन्य रकमें हैं जो ऑडिट की नजर में आने से तो बची रहीं, मगर जिनका उपयोग नहीं किया गया। प्रत्येक वित्तीय वर्ष के आखिरी महीने में व्यय के लक्ष्यों तक (वास्तविक उपलब्धि के नहीं) पहुंचने की सरगर्मी दिखाई जाती है। इन रकमों का एक हिस्सा जिसे किसी भी तरह से खर्च नहीं किया जा सकता, उसे निजी खातों या अन्य जमा खातों में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। इस प्रकार हर वर्ष करोड़ों रुपये बचा लिए जाते हैं या बिना खर्च किए रह जाते हैं, कारण चाहे जो भी रहें। अतः जैसी कि सर टी० टी० कृष्णमाचारी की सलाह है, अपने संसाधनों को हम अगर सिर्फ एक या दो वर्ष के लिए नियोजित करें तो पता चलेगा कि इस वर्ष जोतभूमि कर के अभाव में हमारी योजना क्षतिग्रस्त नहीं होने वाली है।

(6) सिंचाई विभाग 7 करोड़ रुपये (हो सकता है इससे भी बड़ी

रकम) की योजनाएं छोड़ चुका है, क्योंकि वे अनार्थिक या अव्यवहार्य थीं। दूसरे विभागों की योजनाओं की गहरी छानबीन करने पर इसी तरह की योजनाएं मिलेंगी जो कम महत्त्व की हैं या बिल्कुल ही महत्त्व की नहीं हैं और जनता को तुरन्त लाभ पहुंचाने वाली नहीं हैं तथा इसीलिए उन्हें आसानी से छोड़ा जा सकता है। यह तर्क बहुत असरदार नहीं है कि हमारा राज्य बहुत से मामलों में पिछड़ा है और इस तरह से निकाले गये धन को उपयोगी ढंग से दूसरे कामों में लगाया जा सकता है। यही तर्क अगर मान्य हो तो हम चूंकि पश्चिम के विकसित देशों से इस कदर और इतनी दिशाओं में पिछड़े हुए हैं, इसलिए राज्य की मौजूदा तीसरी पंचवर्षीय योजना से आकार–प्रकार में पांच गुना बड़ी योजना भी हमारे लिए छोटी ही प्रतीत होगी। तो फिर हम महज 500 करोड़ रुपये के स्थान पर 2,500 करोड़ रुपये की तरफ नजर क्यों नहीं दौड़ाते?' बस, इस कारण कि हमारे मानवीय और भौतिक संसाधन अपर्याप्त हैं। अतः अगर नये वित्तीय संसाधन जुटाना हमें मुश्किल लगता है तो विवेकपूर्ण नीति यह होगी कि दूसरी तरह से बचाए या मुक्त किए गए धन को नई परियोजनाओं और योजनाओं की तरफ मोड़ने के बजाए उसे उपयोग में लाया जाए। कितने ही वांछित कार्य हैं जो किये नहीं गए हैं, लेकिन हमारी आकांक्षाओं या क्षमता का परिचालन हमारे साधन करेंगे–पूंजी के लिए आवश्यक रकम जुटाने की हमारी खुद की क्षमता।

(7) मुख्यमंत्री को सौंपे गए अपने 2 जुलाई के नोट में मैंने सुझाव दिया था कि अगर जरूरी हो तो हम मद्यनिषेध तक को खत्म कर सकते हैं जो राज्य के 51 में से सिर्फ 11 ज़िलों में पिछले लगभग 15 वर्षों से लागू है। कांग्रेसी होने के नाते हम सभी लोग पूर्ण मद्यनिषेध के पक्ष में हैं, लेकिन यह अकेले क़ानूनी ताकत के जरिए लागू नहीं हो सकता। जब तक शक्तिशाली जनभावना या नैतिक आबोहवा अनुकूल नहीं होती, तब तक किसी भी प्रशासन से यह उम्मीद नहीं की जा सकती है कि वह एक ऐसी वस्तु के सेवन पर नियन्त्रण रखे जिसका निर्माण देहाती क्षेत्र के तकरीबन हर घर में हो रहा हो। ऐसी आबोहवा तैयार करने में हम निश्चित रूप से सफल नहीं हुए हैं। इसके विपरीत, हम अगर ठीक से चारों तरफ देखें तो हम पाएंगे कि राज्य सरकार के मुख्यालय लखनऊ तक में हमने मद्यनिषेध के विपरीत वातावरण के निर्माण में मदद ही पहुंचाई है। नतीजा यह है कि हमारे मद्यनिषेध क़ानून का पालन इसे सिर्फ तोड़कर किया जाता है और जिस क़ानून का पालन नहीं हो सकता या नहीं होता हो, वह लोगों के मन में सिर्फ अनादर का भाव ही पैदा कर सकता है। मद्यनिषेध वाले क्षेत्रों में स्प्रिंट और टिंचर जैसे स्वास्थ्य के

लिए खतरनाक द्रव्यों का इस्तेमाल और साथ–साथ पुलिस और प्रर्वतन अधिकारियों में व्याप्त भ्रष्टाचार बढ़ते ही रहे हैं। दूसरी तरफ वर्तमान नीति को तिलांजलि देने पर राज्य को 3.5 करोड़ रुपये की रकम मिलेगी। आन्ध्र प्रदेश, पंजाब और पश्चिम बंगाल के राजस्व में काफी बड़ा भाग आबकारी की आय का होता है, जिन्होंने आज तक मद्यनिषेध लागू किए जाने को व्यावहारिक नहीं पाया है।

(8) हम अल्प बचत अभियान को तेज कर सकते हैं और इसे जीवंत आंदोलन का रूप दे सकते हैं। फिर भी अगर जरूरी हो तो देशव्यापी बाजार से या स्थानीय अथवा क्षेत्रीय योजनाओं के लिए तुरन्त लाभान्वित होने वाले लोगों से और भी ऋण पाने का प्रयास कर सकते हैं, जैसा कि चम्बल परियोजना के लिए मध्य प्रदेश में किया गया।

(9) यह मानकर चलें कि किसानों की आर्थिक दशा में पिछले 15 वर्षों के दौरान काफी हद तक सुधार हुआ है और उनकी बढ़ी हुई आय का एक हिस्सा राज्य के विकास में लगाया जाना है, तो मेरी विनम्र राय में यह कहीं दूरदर्शिता–पूर्ण नीति होगी कि सोच–विचार कर कोई अप्रत्यक्ष कर लगाया जाए या मौजूदा दरों में वृद्धि की जाए। जब तक जनता की जेब में क्रय–शक्ति नहीं होगी, तब तक उद्योग नहीं खड़े होंगे और परिवहन और वाणिज्य समृद्ध नहीं होंगे; न ही उत्तर प्रदेश में अन्य गैर–कृषि सेवाएं विकसित होंगी। अगर खेतिहर की जेब में–जिसकी फालतू रुपया है तो उससे वह गैर–कृषि सामान या सेवाएं खरीदेगा–श्रृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया होगी और फलस्वरूप राज्य को उस आय से ज्यादा बड़ी आय होगी जो सरकार द्वारा भू–राजस्व के रूप में उस रुपये को सीधे अपनी झोली में ले लेने से हो सकती है।

राजनीतिक दृष्टि से हानिकारक उपाय

यह सिर्फ पिछले वर्ष की बात है कि राज्य सरकार ने सिंचाई शुल्क पर प्रति रुपया तीन आने की छूट वापस ले ली, जो किसानों को 1955 में दी गयी थी। इस वापसी के दो अर्थ हैं: 1. किसानों के सालाना आर्थिक बोझ पर 1.25 करोड़ रुपये की एक और रकम डाल दी गई है और 2. उत्तर प्रदेश में अब सिंचाई की दरें पश्चिमी सीमान्त के उस पार यानी साथ लगे पंजाब राज्य में प्रचलित दरों से ठीक दो गुनी हैं।

उत्तर प्रदेश में किसानों का प्रतिशत भारत के किसी भी राज्य से ज्यादा है, अर्थात् 67.45 और देहाती मतदाताओं में वे 77 प्रतिशत हैं–महज 50 प्रतिशत नहीं कि जैसा कि विधेयक को सामने वाले समझते हैं।

इसलिए इन लाखों–लाख लोगों की जेब तक पहुंचने के क्रम में कोई कदम उठाने से पहले हमें हजार बार सोचना चाहिए, क्योंकि ये आज भी यह देख हताश हैं कि पिछले 15 सालों के दौरान इनकी हालत में कोई तरक्की नहीं हुई। इस प्रस्तावित भू–कर वृद्धि से कृषक समुदाय की मनोभावना कांग्रेस संगठन के प्रति उसी हद तक प्रतिकूल हो जाएगी जिस हद तक वह जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून से अनुकूल हुई थी। जो मित्रगण विरोधी नजरिया रखते हैं, उन्हें ये तर्क जोरदार नहीं लगेंगे, लेकिन इस पर कोई विवाद नहीं हो सकता कि इस उपाय से कांग्रेस का राजनीतिक भविष्य बुरी तरह प्रभावित होगा और उसमें सुधार सम्भव नहीं होगा। काश ! दीवार पर लिखी इबारत हम पढ़ पाते। यह बात और है यदि कांग्रेस समय के साथ प्रभावहीन हो जाती है या अपनी ढेर सारी गलतियों या गलत नीतियों के चलते चुनावों में हार जाती है, लेकिन इस उपाय को लागू करना एक राजनैतिक 'हाराकीरी' या पूरी तरह आंख खोले किसी धधकते गड्ढे में कूद जाने जैसा होगा।

जनता के साथ छल

जमींदारी उन्मूलन कोष अभियान (1949–51) के दौरान, जिसके बाद ही 30 जून 1952 को जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून लागू हुआ था, हर ज़िले में तकरीबन सैकड़ों या पूरे राज्य भर में 10,000 से अधिक सभाएं आयोजित हुई थीं और उन्हें मंडल कार्यकर्ताओं से लेकर मुख्यमंत्री तक सभी कांग्रेसियों ने सम्बोधित किया था। रैय्यत लोग इस आश्वासन पर भूमिधर बनने के लिए उत्साहित थे कि अगले चालीस वर्षों तक उनके लगान आधे रहेंगे। इस आश्वासन को क़ानून की किताब में दर्ज किया गया। राज्य मुख्यालयों से प्रचार अभियान आयोजित किया गया तथा राज्य और ज़िला दोनों स्तरों पर अखबारों में सैकड़ों लेख लिखे गए। रैय्यतों को भूमिधर होने के लिए सरकार द्वारा सभी सम्भव सुविधाएं और प्रलोभन दिए गए तथा डिवीजनल कमिश्नर से लेकर पटवारी तक सभी अधिकारियों ने अभियान को आगे बढ़ाने का कार्य किया।

अब प्रस्ताव यह है कि इस आश्वासन को इस आधार पर वापस ले लिया जाए कि समय बदल गया है और योजना के लिए वित्तीय संसाधन जुटाना अत्यावश्यक हो गया है। शायद इससे बड़ी भूल सम्भवतः नहीं हो सकती। राजनीतिक दल द्वारा जनता को किए गए पवित्र वादे यों ही एक तरफ सरकाए नहीं जा सकते। लोकतंत्र में आमतौर पर सरकार द्वारा दिए गए आश्वासनों को, खासकर जिनको लेकर लोग पहले से ही सक्रिय हों,

परवर्ती सरकारें पूरा करती हैं, भिन्न पार्टी या पार्टियों के सदस्य उनमें हों तब भी। ऐसा नहीं हो तो भ्रम–ही–भ्रम फैलेगा और जनता यह नहीं समझ पाएगी कि वह निर्मित क़ानूनों और एक खास सरकार द्वारा दिए गए आश्वासनों के बीच कहां खड़ी है। "यहां तो ऐसा संयोग है कि वही राजनीतिक दल सत्ता में है जिसने आश्वासन दिया था, और वे ही लोग इसे चला रहे हैं जो देहातों में घूम–घूमकर भाषण दिया करते थे।"

नैतिक दायित्व के अलावा भूमिधारी के अधिकार का अर्जन एक तरह का अनुबंध भी है। जहां तक भूमिधरों के उस हिस्से की बात है जो पूर्व–जमींदारों का है, उनके लिए यह एक तरह का मुआवज़ा ही था। एक आश्वासन जो उन्हें अपने मालिकाना अधिकार सौंपने के एवज में मिला था–यह आश्वासन कि खेतीबाड़ी के लिए अपनी ज़मीनों पर उनका कब्जा बना रहेगा, अगले चालीस वर्षों तक उसी पुरानी दर के राजस्व पर यानी रु० 300 प्रति एकड़ की दर से (तालिका–12.10 दिखाएगी कि उत्तर प्रदेश को छोड़कर अन्य 12 राज्यों में से 9 राज्यों की औसत दर की अपेक्षा यह दर भी ऊंची थी)। जहां तक दूसरे हिस्से की बात है यानी पूर्व रैय्यतों की, यह आश्वासन इस बात को दृष्टि में रखते हुए दिया गया था कि उन्हें सरकारी खाते में बड़ी कठिनाई से नकद भुगतान करना पड़ा था।

ऐतिहासिक उदाहरण का उल्लेख करें तो यह बिहार और बंगाल के छोटे राजाओं और बड़े जमींदारों के अधिकारों की उस कटौती पर किए गए विचार का ही एक हिस्सा है जिसकी घोषणा करते हुए लार्ड कार्नवालिस ने कहा था कि वे अपनी ज़मीनों पर मौजूदा राजस्व दरों से ही स्थायी तौर पर भुगतान किया करेंगे। वे दरें महज कुछ आने प्रति एकड़ थीं। बाद में समय बहुत तेजी से बदला कृषि मूल्य बढ़े और ब्रिटिश हुकूमत की जरूरतें भी कई गुना बढ़ीं। फिर भी अपने वादे पर वे अंत तक टिके रहे, यानी 15 अगस्त 1947 तक, जब वे भारत छोड़कर चले गये।

लार्ड कार्नवालिस के उल्लेख पर भौंहें तन जाना सम्भव है और इस नोट में दी गई दलीलों को पूर्व राजाओं और पूर्व जमींदारों की वकालत के रूप में लिया जा सकता है। फिर भी, वास्तव में यह सामंती प्रभुओं के लिए नहीं है, बल्कि कांग्रेस संगठन की नेकनामी और इसकी सरकार की प्रतिष्ठा के लिए है, कि यह दलील दी जी रही है। ऐसे आलोचकों को यह तथ्य बता देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि योजना आयोग की सिफारिश के बावजूद भूमि सुधार के तहत उत्तर प्रदेश में जिन्हें प्रतिपादित और कार्यरूप में लाने का सुयोग और सम्मान मुझे मिला–छोटे–से–छोटे जमींदार तक को रैय्यतों से भूमि के पुनर्ग्रहण का कोई अधिकार नहीं दिया

गया। इसके विपरीत स्थायी अधिकार सिर्फ शिकमी काश्तकारों को ही नहीं बल्कि तथाकथित अतिक्रमणकारियों को भी प्रदान किए गए। "किसी भी अन्य राज्य में दलितों के प्रति इस तरह की चिन्ता, जमींदारों या बहुत ज्यादा कठदलीलें देने वालों या तथाकथित दावों के प्रति उदासीनता नहीं दिखाई गई।" जैसा कि आयोग के दस्तावेजों से स्पष्ट होगा, जमींदारों को पुनर्ग्रहण के अधिकार दे दिए जाने से देश भर में असंख्य रैय्यत बेदखल किए गए और यहां–वहां भटकने के लिए छोड़ दिए गए जहां तक शिकमी काश्तकारों और अतिक्रमणकारियों की बात है, उन्हें सीधे खदेड़ दिया गया।

यह निर्विवाद तथ्य है कि इन जमींदारों में बहुत बड़ी संख्या भू–स्वामी किसानों की थी। जमींदारी उन्मूलन समिति की रिपोर्ट के भाग–2 में पहले और तीसरे नम्बर के वक्तव्यों के अनुसार 20,16,800 दर्ज भू–स्वामियों में से 92 प्रतिशत ने औसतन 8 रुपये प्रति व्यक्ति भू–राजस्व चुकाये और 18,98,000 दर्ज खेतिहर भू–स्वामियों में से 98.3 के पास प्रति व्यक्ति 2.5 एकड़ बिना पट्टे वाली सीर और खुदकाश्त ज़मीनें थीं। यह इन्हीं खुद जोती जाने वाली ज़मीनों की बात थी कि वे भूमिधर घोषित किए गए। वे भू–स्वामी तो थे, लेकिन जमींदार नहीं थे जिनके अधीन शोषण के शिकार रैय्यत हों, बल्कि उनमें से अच्छा–खासा प्रतिशत उनका था जो रैय्यत की हैसियत से दूसरों की ज़मीन जोत रहे थे। इन भूमिधर बने पूर्व भू–स्वामियों के पास कुल कृषि क्षेत्र की 14 प्रतिशत से अधिक भूमि है और कुल कृषक वर्ग में इनका लगभग वही प्रतिशत है। दूसरी तरह से देखें तो राजाओं और बड़े जमींदारों की वकालत करने का आज सवाल ही नहीं उठता। भू–जोतों की हदबंदी (1961) के लागू होने के बाद कोई बड़े जमींदार रहे ही नहीं।

भूमिधारी अधिकार हासिल करने वाले काश्तकारों की जहां तक बात है, दिसम्बर 1961 तक इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए कोई 43.52 लाख आवेदन–पत्र प्रस्तुत किए गए (और मंजूर किए गए)। इन आवेदन पत्रों के साथ जो रकम जमा की गयी वह 39.68 करोड़ तक पहुंच गई और कुल कृषि क्षेत्र के 20 प्रतिशत से उनका सम्बन्ध था। मौटे तौर पर अनुमान है कि उपर्युक्त 43.52 आवेदकों में लगभग 20 से 25 प्रतिशत असली भूमिधर या वे लोग हैं जो अपनी सारी ज़मीन के मामले में भूमिधर हैं, और 5 से 10 प्रतिशत वे लोग हैं जो एक जोत के मामले में भूमिधर हैं और दूसरी जोत के मामले में सीरदार। राज्य में एक खेतिहर परिवार की औसत जोतभूमि की अपेक्षा कम भूमि इन भूमिधरों के पास है–कारण यह कि अपेक्षाकृत उन छोटे काश्तकारों के पास आमतौर पर एक से

अधिक जोतें हैं जिन्होंने इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए आवेदन किए हैं। (पिछले वित्तीय वर्ष 1961–62 की अवधि में जमींदारी उन्मूलन कोष में जमा की गयी रकम 1,40,22,000 रुपये थी।)

भूमिधरों के भू–राजस्व में 40 वर्षों तक वृद्धि न करने के हमारे द्वारा किए गए वादे के उल्लंघन के बारे में संजीदगी से और बार–बार जो दलील पेश की गयी, उसका उत्तर सिर्फ यही है कि विचाराधीन जोत–भूमि–कर का "वास्तव में भू–राजस्व की दरों से कुछ भी लेना–देना नहीं।" तथा ऐसी आपत्ति हममें से किसी ने नहीं उठाई थी जब 1953 में तत्कालीन मुख्यमंत्री पंडित गोविन्द वल्लभ पंत ने एक 'विकास शुल्क विधेयक' प्रस्तावित किया था, या जब 1957 में 'बड़ी जोत–भूमि–कर क़ानून' का अधिनियमन हुआ था "जो तथाकथित किए गए वादे का उल्लंघन भी था।"

बात जहां तक इस बहसबाजी की है प्रस्तावित कर से भू–राजस्व में वृद्धि की बात नहीं उठती, "यह क़ानूनी बाल की खाल निकालना है जिसे जनता आसानी से समझ लेगी।" कोई किसान यह समझे बिना नहीं रहेगा कि उसे जो कर चुकाने के लिए कहा जा रहा है, वह उसके लिए आज देय भू–राजस्व का ठीक 50 प्रतिशत है, और इसीलिए वह सीधे इससे जुड़ा है तथा यह कि भू–राजस्व की तरह ही वह उसकी ज़मीन पर एक स्थायी शुल्क है (उसे ठीक भू–राजस्व की तरह वसूला जाएगा, निलंबित, स्थगित या माफ किया जाएगा)।

'विकास शुल्क विधेयक' की जहां तक बात है, मेरा उत्तर है कि इसके विरुद्ध जनता के साथ छल को लेकर सम्भवतः कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। विधेयक ने तो बस महज दो वर्षों की अवधि के लिए प्रति एकड़ सिंचित भूमि पर 5 रुपये और असिंचित भूमि पर एक रुपये का शुल्क प्रस्तावित किया था। शुल्क की उगाही का भू–राजस्व से कोई सम्बन्ध ही नहीं, जैसा कि विवादास्पद कर के साथ है। "1953 में प्रस्तावित उगाही के लिए मापदंड वह भू–राजस्व नहीं था जिसका भुगतान कोई किसान सरकार को करता था, बल्कि यह था कि भूमि सिंचित थी या नहीं।" उगाही को सिर्फ दो साल रहना था, जब कि प्रस्तावित कर स्थायी उपाय होने को है। किसी भी स्थिति में उगाही को भू–राजस्व नहीं समझा जा सकता है या इन्हें एक–दूसरे का पर्याय ही माना जा सकता है। इतना होने पर भी कांग्रेस विधायक दल ने उसे इस आधार पर रद्द कर दिया था कि हर किसान ऐसी स्थिति में नहीं हैं कि वह प्रति एकड़ एक रुपये का भुगतान कर सके।

'बड़ी जोत–भूमि–कर' की जहां तक बात है, यह एक पुराने उपाय का

ही नया नाम था, यानी 'कृषि आय–कर', "जिसे जमींदारी के उन्मूलन से पहले लिया जा रहा था।" कृषि आय कर क़ानून (1948) को 1957 में रद्द कर दिया गया था, क्योंकि उसमें कुछ खामियां या बच निकलने के रास्ते थे जिनका उपयोग करके बड़े जमींदार उचित रूप से देय कर की रकम को काफी कम करा लेते थे। फिर, इसकी उगाही भू–राजस्व पर आधारित एकरूप नियम के अनुसार नहीं होती थी, बल्कि 'स्वीकृत दर' पर आधारित क्रमिक श्रृंखला में होती थी, उन लोगों से जिनके पास एक निश्चित न्यूनतम क्षेत्र से अधिक भू–क्षेत्र होता था। स्वीकृत दरें अधिकांशतः सम्बद्ध भूमि की उत्पादकता को दृष्टि में रखते हुए भू–सर्वेक्षण अभियानों के दौरान निर्धारित की जाती हैं। बड़ी जोत–भूमि पर कर सामाजिक न्याय का एक औजार था जिससे मुश्किल से 0.1 प्रतिशत किसान प्रभावित होते थे और जिसे शेष 99.9 प्रतिशत किसानों का समर्थन प्राप्त था।

नेताओं के संकल्पित वचनों में जनता का विश्वास होना सभी लोकतांत्रिक सरकारों का आधार है। एक बार यदि यह विश्वास लड़खड़ा उठे तो कोई भी सरकार लम्बे समय तक टिक पाने में समर्थ नहीं होगी। कोई सरकार सैनिक उथल–पुथल, अकाल या अनुचित रूप से ऊंचे कर लगाने के बावजूद बची रह सकती है, लेकिन विश्वासघात–जनता को सच्चाई के साथ दिये गये उस आश्वासन से मुकर कर नहीं, जिस पर लाखों–लाख लोग विश्वास करने लगे हों। "इसमें किसी तरह का सन्देह नहीं हो सकता कि उत्तर प्रदेश में कांग्रेस के मंत्री या कार्यकर्ता अब सार्वजनिक सभाओं में ग्रामीण जनता का सामना नहीं कर पाएंगे; कोई भी व्यक्ति उनके वायदों और आश्वासनों पर अब और यकीन नहीं करेगा।"

जनता के विश्वास को छलने के बारे में यह तर्क शायद किसी अन्य राज्य की स्थितियों में प्रासंगिक नहीं होगा; क्योंकि कहीं भी भूमिधारी अभियान शुरू नहीं किया गया था। उत्तर प्रदेश की स्थिति की तथ्यात्मक जटिलता से प्रधानमंत्री शायद अवगत नहीं हैं। जहां तक योजना आयोग की बात है, वास्तविकता के इस पहलू का ध्यान उसे नहीं था। उपाध्यक्ष श्री गुलजारीलाल नन्दा की राय थी कि नैतिक पहलू को यद्यपि वह दूसरों से ज्यादा महत्त्व देते हैं, फिर भी यह राज्य सरकार पर है कि वह खुद इसके बारे में निर्णय ले।

अन्ततः समस्या का एक और पहलू भी है, अंशतः नैतिक और अंशतः क़ानूनी, जिस पर हमें गम्भीरता से विचार करना है। राज्य के (45 अस्थायी बंदोबस्ती वाले ज़िलों में से) 37 ज़िलों में 1937 से 1943 तक की अवधि में बंदोबस्ती अभियान चलाए गये थे। जमींदारी उन्मूलन के समय लागू क़ानून के अनुसार बंदोबस्ती की शर्त थी कि वह 40 साल के

लिए हो। जमींदारी का उन्मूलन नहीं किया गया होता, तो वे ही जमींदार अपने रैय्यतों के लगान में वृद्धि की बात करते जो बंदोबस्ती अभियानों के दौरान वैसा नहीं कर पाए थे। और ऐसे जमींदारों की संख्या आवश्यक रूप से बहुत छोटी होती—छोटी क्योंकि जमींदार ऐसा आदमी नहीं होता जो लगान में वृद्धि के अवसर का लाभ उठाने से चूक जाए। जैसी कि स्थिति थी, लगान में इस तरह की वृद्धि सिर्फ इसी आधार पर की जा सकती थी कि लगान स्वीकृत दर से वास्तविक तौर पर कम था, या जिसे स्वीकृत दर की अपेक्षा 'वास्तविक तौर पर कम' कहा जा सकता था और इसीलिए जो किसी वृद्धि के योग्य था। अब प्रस्ताव यह है कि उन्हीं पुराने लगानों (आज जिन्हें राजस्व कहा जाता है) में एकबारगी 50 प्रतिशत की वृद्धि कर दी जाए। अतः हम वही कर रहे हैं अपने "किसानों के साथ, जो जमींदार सम्भवतः नहीं कर पाते।"

भू—राजस्व को बढ़ाने के प्रस्ताव का अनौचित्य आज किसी भी निष्पक्ष प्रेक्षक के दिमाग पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाएगा, जब कहा जाता है कि:

(1) जमींदारी उन्मूलन समिति ने 1948 में अनार्थिक जोतों के लगान में तुरन्त कमी की जाने की सिफारिश की थी—प्रति रुपया छह आने की दर से एक एकड़ तक की जोतों पर, 4 आने की दर से 4 एकड़ तक की जोतों पर और एक आने की दर से 10 एकड़ तक की जोतों पर। समिति की गणना के मुताबिक जब कमी की दरों को वास्तव में लागू किया जाएगा, तब कुल कमी सम्भवतः 150 लाख रुपये तक पहुंच जाएगी और उससे 80 लाख से ज्यादा लोगों या मोटे तौर पर 70 प्रतिशत किसानों को राहत मिलेगी। राज्य सरकार द्वारा यह सिफारिश स्वीकार नहीं की गई।

यह उल्लेख करना यहां अप्रासंगिक न होगा कि लगान में कमी की यह सिफारिश जमींदारी उन्मूलन समिति ने 1948 में की थी, जब प्रति व्यक्ति या प्रति कृषक परिवार कृषि योग्य भूमि आज की अपेक्षा ज्यादा थी और कृषि मूल्य 1961 की अपेक्षा कहीं अधिक ऊंचे थे।

(2) जमींदारी उन्मूलन के समय यानी 1951—52 में कृषि आय कर समेत भूमि से प्राप्त कुल राजस्व लगभग 8.25 करोड़ रुपये होता था और आज भूमिधरों द्वारा अग्रिम रूप से किए गये भुगतान के 1.98 करोड़ रुपये सहित कुल भू—राजस्व की रकम लगभग 23.40 करोड़ रुपये होती है। यह पता चलेगा कि 40 वर्ष तक पूर्व जमींदारों को देय मुआवज़े और पुनर्वास अनुदान, धार्मिक संस्थाओं को देय वार्षिक अनुदान आदि, स्थानीय दरों, मुआवज़े निर्धारण की लागत आदि, आयकर में घाटा और भू—राजस्व की वसूली आदि को अलग कर देने पर "राज्य सरकार प्रतिवर्ष लगभग 7.5

करोड़ रुपये 40 वर्षों तक यानी 1992 तक, और उसके बाद स्थायी रूप से प्रतिवर्ष 3.0 करोड़ रुपये का लाभ अर्जित करेगी।"

मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ जब 17 सितम्बर को कांग्रेस दल की बैठक में जोत भूमिकर के एक समर्थक ने एकाधिक बार सोवियत रूस और चीनी जनवादी गणराज्य के उदाहरण दिए और कहा कि अगर राज्य को विकसित होना है, तो इन देशों की तरह यहां के किसानों द्वारा भारी कर चुकाए ही जाने हैं। हमने सचमुच एक लम्बी यात्रा तय की है, राष्ट्रीय संघर्ष के दिनों से ही, जिसके फलस्वरूप विभिन्न समूहों और वर्गों के लिए हमारी भावनाओं और दिलों में जो जगह किसी समय थी, वे बदल गई हैं। तो फिर ताज्जुब नहीं कि हमारी जनता के विभिन्न तबकों की आय में असमानना की खाई, जो ब्रिटिश हुकूमत के दिनों में ही काफी चौड़ी थी, पिछले 15 वर्षों के हमारे कार्यकाल के दौरान और भी चौड़ी हो गयी है।

अन्त में; अब यह कहा जा रहा है कि यह विधेयक इस चरण में वापस ले लेना चूंकि राजनीतिक दृष्टि से अविवेकपूर्ण होगा, इसलिए सबसे उत्तम उपाय यह होगा कि अनार्थिक जोतों को इससे मुक्त रखा जाए, और इस प्रकार सिर्फ उन्हीं पर कर लगे जो आसानी से चुका सकते हैं। यह स्थिति हालांकि नहीं आती अगर एकाधिक बार किये गये इस अनुरोध को मुख्यमंत्री ने स्वीकार कर लिया होता कि विधान सभा में विधेयक पेश करने से पहले पार्टी की स्वीकृति ले ली जाए। इसलिए कि यह कोई साधारण कराधान विधेयक नहीं था बल्कि इसने कांग्रेस संगठन के सामने जीवन–मरण का सवाल खड़ा कर दिया था। हालांकि उनके अनुसार 'स्थापित कार्यविधि' यह है कि किसी विधेयक पर पार्टी में ब्यौरेवार चर्चा उसके विधान सभा में पेश या प्रस्तावित किये जाने के बाद ही हो तथा उन्होंने अगर पेश किये जाने से पहले पार्टी को कराधान प्रस्तावों के बारे में बता दिया होता तो वह विशेषाधिकार हनन के दोषी माने जा सकते थे। फिर भी हमारी पार्टी के संविधान और व्यवहार के अनुसार नीतिगत महत्त्वपूर्ण सवालों से जुड़े विशिष्ट उपायों के बारे में स्थापित कार्यविधि कुछ और तरह की है, उदाहरण के लिए जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक (1949), और विकास शुल्क विधेयक पर पार्टी में बहस पहले हुई थी।

कराधान उपायों को पोशीदा रखने की बात जहां तक है, यह जाहिर तौर पर सिर्फ उन उपायों पर पर लागू होती है जो बाजार या स्टॉक एक्सचेंज को तुरन्त प्रभावित करने वाले हों। विचाराधीन विधेयक के साथ ऐसा कुछ भी नहीं है।

फिर, कॉमन सभा (ब्रिटेन) और लोक सभा में यह नियम रहा है कि कोई नीतिगत विषय यदि पहले या चालू सत्र के दौरान ही सदन को विश्वास में लिए बिना बाहर घोषित किया जाता है तो वह विशेषाधिकार का हनन नहीं, अधिक–से–अधिक 'शिष्टाचार' का उल्लंघन हो सकता है। यह स्थिति सार्वजनिक घोषणाओं और संवाददाता सम्मेलनों के बारे में है। जहां तक पार्टी की बैठकों का सम्बन्ध है, वे विशेषाधिकार के दायरे में आती ही नहीं। कहीं ऐसा होता तो फिर लोकतंत्र में राजनीतिक दलों का कार्य करना ही असम्भव हो जाता।

फिर भी, यह तो विगत की बातें हुईं। पार्टी का परामर्श लिए बिना विधेयक विधान सभा में पेश किया जा चुका है। लेकिन पेश किए जाने के बावजूद इसे वापस ले लिये जाने के मार्ग में कोई बाधा नहीं है। ऐसे अवसर आए हैं जब सरकार ने गलत कदम उठाए जाने का अहसास होते ही सदन में विचाराधीन विधेयक वापस ले लिए। जब भी उच्चतर विवेक ने प्रेरित किया, हमारा नेतृत्व अपने कदमों पर पुनर्विचार से नहीं हिचका। सिर्फ एक उदाहरण दिया जाता हैः प्रधानमंत्री उस समय व्यापक जनभावना के समक्ष ही झुके थे, जब 1957 के आम चुनाव के बाद वह बम्बई के विभाजन के लिए राजी हुए थे। इससे उनकी प्रतिष्ठा कम नहीं हुई।

अब, अनार्थिक जोत की बात। हम इसे कैसे परिभाषित करें? कुछ लेखकों ने इसे भूमि की उस इकाई के रूप में परिभाषित किया है जो एक किसान और उसके परिवार को उचित स्तर के जीवन की सुनिश्चितता सुलभ करे। औरों ने इसे ऐसे भू–क्षेत्र के रूप में परिभाषित किया है जो पूरे साल भर एक जोड़ी बैलों और एक औसत परिवार यानी 22 व्यक्तियों के श्रम संसाधनों को व्यस्त रख सके। भूमि की किस्म, सिंचाई की उपलब्धता, विपणन और अन्य सुविधाओं, बैलों की खींचने की क्षमता और खुद किसान की कुशलता के अनुसार ये क्षेत्र अलग–अलग तरह के होंगे। इस प्रकार मेरे विचार से राज्य के अधिकांश भागों में ये भिन्न–भिन्न क्षेत्र 6.25 एकड़ से 12.5 एकड़ तक के होंगे। बुंदेलखण्ड क्षेत्र में यह आंकड़ा अलग–अलग 10 से 20 एकड़ तक हो सकता है। अक्सर यह आरोपित किया जाता है कि मेरी दृष्टि में 6.25 एकड़ भूमि सभी स्थितियों में आर्थिक या लाभकारी जोत होती है, चाहे उसकी गुणवत्ता और अन्य तथ्य जो भी हों। मैंने ऐसा कभी नहीं कहा, और जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून (1952) में कहीं भी आर्थिक जोत को परिभाषित नहीं किया गया है। इस क़ानून के तहत सिर्फ एक प्रावधान में 6.25 एकड़ के क्षेत्र का उल्लेख है जो कहता है कि भूमि की कमी और इसके लिए

मचती हाय–तौबा को देखते हुए गांव समाज इससे बड़ा भू–क्षेत्र पट्टे पर नहीं दे सकता।

जमींदारी उन्मूलन समिति की रिपोर्ट (1948) बताती है कि अपने एक नोट में कृषि निदेशक ने उस भू–क्षेत्र के बारे में निम्नांकित राय जाहिर की जो दो बैलों की जोड़ी से पर्याप्त रोजगार सुलभ करेगीः

> प्रदेश के पश्चिमी भाग में किसान आमतौर पर उम्मीद रखता है कि दो अच्छे बैलों की जोड़ी से साधारण सघन खेती के तहत 10–15 एकड़ तक खींच लेगा। प्रदेश के पूर्वी हिस्से में साधारण बैलों से वह 5–8 एकड़ पर नियंत्रण रख पाता है। इस तरह खेती की किस्म और मवेशियों की क्षमता के मुताबिक बैलों की एक जोड़ी 6 से 15 एकड़ तक की खेती के लिए पर्याप्त है। ज्यादा छोटे क्षेत्र के लिए एक जोड़ी रखना अलाभकारी है, लेकिन बहुसंख्यक मामलों में यही किया जाना है। (पृ०–23)।

विचार–विमर्श के बाद समिति इस निष्कर्ष पर पहुंची कि प्रदेश के विभिन्न हिस्सों में प्रत्येक हल से जोते जाने वाले वास्तविक औसत कृषि क्षेत्र को औसत लाभकारी जोत के प्रतिनिधि के रूप में नहीं लिया जा सकता। यह माना गया कि "5 से 8 एकड़ की निम्नतर सीमा को आर्थिक (लाभकारी) इकाई नहीं समझा जा सकता, क्योंकि जोतें अधिक बड़ी होंगी तो हलों की संख्या घटेगी। इसलिए लगभग 10 एकड़ की औसत इकाई पूरे प्रदेश के लिए स्वीकार की जा सकती है, जिसे अवश्य ही हम लक्ष्य बनाकर चलें।" (पृष्ठ–24)।

हदबंदी तय करने के क्रम में सलाह देते समय योजना आयोग ने 'आर्थिक' जोत से बचते हुए सिर्फ पारिवारिक जोत की चर्चा की है। फार्मों के आकार पर रिपोर्ट देने के लिए योजना आयोग के भूमि सुधार पैनल द्वारा नियुक्त समिति ने सुझाव दिया कि जो फार्म पारिवारिक श्रम के पारिश्रमिक सहित 1200 रुपये की शुद्ध आय देता हो और एक हल हकाई–यानी वह भू–क्षेत्र जिस पर एक औसत परिवार बैलों की एक जोड़ी से खेती कर सके–से छोटा नहीं हो, तो उसे पारिवारिक जोत समझा जा सकता है।

उत्तर प्रदेश फार्म प्रबन्धन सर्वेक्षण के अनुसार, जिसका उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है (स्टडीज इन इकोनॉमिक फार्म मैनेजमेंट इन उत्तर प्रदेश, 1954–55), मेरठ और मुजफ्फरनगर में यह 10–15 एकड़ वाले आकार–समूह की जोत है जो प्रति एकड़ रु० 120.21 की शुद्ध आय प्रतिवर्ष देती है (देखें–तालिका संख्या–13.8)।

उत्तर प्रदेश में लागू जोतभूमि हदबंदी क़ानून, जिसे 1961 में विधि–पुस्तिका में दर्ज किया गया, के तहत 'औसत' किस्म के 40 एकड़ के न्यूनतम क्षेत्र को तीन–परिवारी जोत माना गया, जिससे 13.3 एकड़ का एक इकाई क्षेत्र होता है। ज़मीन घटिया हो तो यह क्षेत्र और बड़ा होगा।

अतः अगर यह सोचा जाए कि इस विचार को एकदम छोड़ देना प्रतिष्ठा के प्रतिकूल होगा और अतिरिक्त राजस्व की उगाही 'सीधे' भूमि से की जानी है–

यह ध्यान रखे बिना कि कृषक समुदाय की आर्थिक स्थिति इसकी इजाजत देती है या नहीं अथवा भूमि पर कर–भार, जो, दुबारा कहें तो यहां का पहले से ही देशभर में उच्चतम है, नहीं बढ़ाने से राज्य की तीसरी योजना गड़बड़ा जाएगी–तो मैं विनम्रता और अपनी पूरी संजीदगी के साथ अर्ज करूंगा कि 'बड़ी जोत–भूमि–कर क़ानून' (1957) की तर्ज पर कोई दूसरा क़ानून इस विधेयक की जगह ले जिसमें रकबे की छूट सीमा 30 एकड़ से 12.5 एकड़ (या 20 मानक बीघा) पर नीचे लाई जाए और आय या वार्षिक मूल्य की सीमा को सालाना 3,600 रु० से बढ़ाकर 12,000 रुपये किया जाए। सीमा 12.5 एकड़ निश्चित किये जाने के पीछे एक बढ़िया कारण यह है कि यही वह सीमा है जो हमारे राज्य में भूमि के भावी अधिग्रहण पर लागू होगी। फिर, कर का निर्धारण इस ढंग से हो कि भू–राजस्व के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहे। भू–राजस्व जो आज देय है, उसके पीछे कोई युक्तिमूलक आधार नहीं है। यह मिट्टी की उत्पादकता पर आधारित नहीं है बल्कि पुराने क़ानून के तहत किसान की जो काश्तकारी थी उससे भिन्न किस्म का है जैसे, वह कोई दखलकार था या पूर्व–स्वामित्व वाला, वंशानुगत था या गैर–दखलकार, शिकमी काश्तकार था या अतिक्रमणकारी, पूर्व–जमींदार की भूमिका में वह परम लोभी था या उसमें एक तरह की मानवीय उदारता थी, तथा यह भी कि खास ज़िले या क्षेत्र में भूमि के लिए तुलनात्मक मांग कैसी है। अतएव वार्षिक मूल्यांकन भू–राजस्व की बहुगुणितता के जरिये नहीं, बल्कि चालू 'स्वीकृत दर' से होना है, जिसका निर्धारण पिछले बंदोबस्ती अभियान के दौरान मिट्टी की उत्पादकता को ध्यान में रखते हुए किया गया था। फिर यह भी कि इस उपाय को सिर्फ 2 या 3 वर्षों की अवधि तक प्रभावी रहना चाहिए। एक ही दिन में इस विधेयक का मसौदा तैयार किया जा सकता है और उसी दिन मौजूदा विधेयक को वापस लेकर विधान सभा में इसे पेश किया जा सकता है। मेरे अनुमान के मुताबिक करदाताओं की संख्या तकरीबन 3.0 लाख होगी और उनके पास की फालतू या कर योग्य भूमि

लगभग 40 लाख एकड़ तक जा पहुंचेगी।। मैं निश्चित तो नहीं हूं, लेकिन यह उपाय हमारे पास औसतन 5 रुपये प्रति एकड़ की दर से लगभग 2 करोड़ रुपये ले आएगा।

मैं फिर भी यह उल्लेख करना चाहूंगा कि ऊपर दिये गये तरीके से लगाया गया कर जहां हमें विश्वासघात के आरोप से 'सम्भवतः बचा लेगा, वहीं यह राजनीतिक और आर्थिक खतरों से भी भरा होगा। व्यवहारतः किसान इसे इस बात की अग्रिम सूचना के तौर पर लेंगे कि सरकार अब उनसे दूर भविष्य में 12.5 एकड़ से या जो भी रकबा हम तय करें, उससे फालतू ज़मीन छीन लेना चाहती है। उनके अनुभव उन्हें बतायेंगे कि यह बहुत लम्बे समय पहले की बात नहीं है कि सामाजिक न्याय के आधार पर 30 एकड़ की न्यूनतम छूट सीमा और वार्षिक 3500 रुपये की आय के साथ सामान्य भू–राजस्व से कहीं ज्यादा रकम चुकाना उनके लिए आवश्यक था। किसानों में अगर यह भावना घर कर ले कि बड़ी जोत और सामाजिक न्याय की हमारी परिभाषा बदल गई है, तो उन्हें और किसी भी तरीके से मानना आसान नहीं होगा। "ये 12.5 एकड़ से अधिक वाले जोतदार ही हैं जो देहातों में राजनीतिक प्रभाव रखते हैं। यह प्रभाव भविष्य में हमारे खिलाफ काम करेगा। आर्थिक परिणामों की जहां तक बात है: यह किसानों में अनिश्चितता की भावना पैदा करेगी और इसीलिए उन्हें अनुत्साहित करेगी, इस बात के प्रति कि वे कृषि उत्पादन बढ़ाएं जो कि हमारा लक्ष्य है। राज्य में जो गिनी–चुनी आर्थिक (लाभकारी) जोतें अभी भी मौजूद हैं, वे बंटकर अनार्थिक (अलाभकारी) जोतें हो जायेंगी ताकि जोतदार भारी कराधान से बच निकलें।"

लखनऊ,
29 सितम्बर 1962

हस्ताक्षर
(चरण सिंह)
कृषि मंत्री, उत्तर प्रदेश

१४

श्रीमती सुचेता कृपलानी का दौर

कथित 'कामराज योजना' (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष तमिलनाडु के श्री कामराज के नाम पर) के फलस्वरूप सितम्बर 1963 में श्रीमती सुचेता कृपलानी राज्य की मुख्यमंत्री बनीं, जो उत्तर प्रदेश के लिए बिल्कुल अजनबी थीं। श्री सी० बी० गुप्ता मुख्यमंत्री बनने में सफल नहीं हुए और श्री चरण सिंह कांग्रेस हाई कमान के लिए अस्वीकार्य व्यक्ति थे, व्यवहारतः जिसका अर्थ था कि श्री जवाहरलाल नेहरू सहकारी खेती पर श्री चरण सिंह के विचारों को लेकर उन पर खफा थे। बहुत से कांग्रेसी नेताओं की तरह श्रीमती कृपलानी को भी दोष नहीं दिया जा सकता कि उन्हें देश की भूमि और कृषि की समस्याओं की जानकारी नहीं थी या यही पता नहीं था कि गांव की जिन्दगी कैसे चलती है। इसलिए किसी को चकित नहीं होना चाहिए कि उन्होंने भी भूमि सुधार क़ानून की प्रभाविता को कम करने के गम्भीर प्रयास किये, जो उनके आगमन से कई वर्ष पहले उत्तर प्रदेश में लागू हो चुका था। उनके द्वारा किये या आगे बढ़ाये गये दो प्रस्तावों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी जैसे—पहला, इस बात को ध्यान में रखे बिना कि उनके कब्जे की भूमि का रकबा कितना है तथा इस पर भी गौर किये बिना कि वे तन—मन से स्वस्थ हैं और किसी प्रकार की विकलांगता के शिकार नहीं हैं, सभी सीरदारों और भूमिधरों को अपनी ज़मीनें पट्टे पर देने की अनुमति नहीं दी जा सकती है, और दूसरा, भविष्य में किसी भी व्यक्ति को कम—से—कम बाग लगाने के लिए 12.5 एकड़ से ज्यादा भूमि अर्जित करने की अनुमति रहे (मौजूदा क़ानून के तहत उत्तर प्रदेश में कोई व्यक्ति जो भूमि अर्जित कर सकता था उसकी सीमा 12.5 एकड़ थी, जिसमें वह भूमि भी शामिल थी जो पहले से उसके पास रही हो)।

राजस्व सचिव ने जब उन प्रस्तावों पर राय मांगते हुए वह फाइल चरण सिंह के पास भेजी, तो उन्होंने स्पष्टतः लिखा कि अगर इन प्रस्तावों को मंजूर किया गया तो परिणाम यही होगा कि जमींदारी प्रथा का फिर उदय होगा और भूमि चन्द लोगों के हाथों में सिमट कर रह जाएगी तथा एक दशक से भी अधिक समय तक तन—मन से संघर्ष करने के बाद

सामंती या जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के जरिये जो कुछ हासिल किया गया था, वह सब व्यर्थ हो जाएगा।

पहले प्रस्ताव के बारे में चरण सिंह ने उस फाइल में जो विशेष सचिव (कृषि) द्वारा उनके पास भेजी गयी थी, यह टिप्पणी दर्ज कीः

> मुझे भय है कि मैं असहमत रह गया हूं। देहाती अर्थव्यवस्था में ऐसा कोई बदलाव आया ही नहीं है कि क़ानून में परिवर्तन की अनिवार्यता हो, मैं राजस्व विभाग या कृषि सचिव की टिप्पणियों को स्वीकार नहीं करता, मगर यहां ब्यौरे में नहीं जाना चाहता। शिकमी देने या इससे सम्बद्ध बातों के पक्ष में कुछ तर्क हैं और हमेशा रहे हैं, लेकिन किसी निर्णय पर पहुंचने से पहले हमें समस्या के दोनों ही पहलुओं के गुण–दोषों पर बारीकी से विचार करना है। मेरा दिमाग इस मामले में बिल्कुल साफ है कि क़ानून में प्रस्तावित संशोधन मौजूदा क़ानून की अपेक्षा ज्यादा बड़ी समस्याएं उपस्थित करेगा। सम्बद्ध भूमि का प्रतिशत उतना अधिक है ही नहीं और कृषि उत्पादन में वृद्धि के नाम पर हमें ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जो हमारे भूमि सुधारों के पूरे आधार को उलट–पुलट डाले। बल्कि हमारा ध्यान क़ानून के बेहतर ढंग से अमल पर जाना चाहिए। योजना आयोग की राय या किसी पंचवर्षीय योजना का हवाला देना मेरे लिए कोई वजन नहीं रखता। जमींदारों द्वारा रैय्यतों की ज़मीनों के बारे में हमने उनकी वह सलाह ठुकरा दी थी, जिसके कारण अन्य राज्यों को कई परेशानियां उठानी पडी थीं। पैकेज ज़िलों में काश्तकारी की दशाओं के बारे में वुल्फ लेंडजिस्की की जो रिपोर्ट योजना आयोग को दी गई थी, उसके अनुसरण से मेरे विचार की पुष्टि होगी। अतः हमें गुणों के आधार पर फैसला करना है, न कि इस आधार पर कि योजना आयोग क्या कहता है या नहीं कहता है।
>
> हस्ताक्षर
> (चरण सिंह)
> 25 जून, 1974

राजस्व विभाग ने, जो अप्रैल 1959 में चरण सिंह के इस्तीफा देने के बाद से ही ठाकुर हुकुम सिंह के अधीन था, भूमिधरों और जमींदारों को अपनी ज़मीनें शिकमी पर उठाने का अधिकार प्रदान किये जाने पर बल देते हुए एक अन्य नोट के साथ वह फाइल वापस भेज दी। चरण सिंह फिर भी अपनी बात पर अडिग रहे और उन्होंने दूसरी बार यह टिप्पणी कीः

मुख्यमंत्री

मुझे खेद है कि मैं इस फाइल को इतने लम्बे समय तक अपने पास रोके रहा। फिर भी मैं नहीं समझता कि इससे जनहित को जरा भी क्षति पहुंची है।

मैं सहमत था कि कृषि उत्पादन से सम्बन्धित मंत्रिमंडलीय उपसमिति की बैठक की कार्य–सूची में इस विषय को शामिल किया जाए, क्योंकि विशेष सचिव (कृषि) ने मुझसे कहा था कि राजस्व विभाग यही चाहता है।

इस प्रस्ताव से मैं बहुत ही बेचैन हूं। मुझे पता नहीं कि क्या–क्या बातें सामने आने वाली हैं। खेती के लिए अपनी भूमि दूसरों को शिकमी पर देने का भू–स्वामी का यह अधिकार ही है जो अन्ततः जमींदारी प्रथा की ओर ले जाता है। यही कारण है कि काफी सोच–विचार के बाद क्यों ऐसे भूमिधरों और सीरदारों को यह अधिकार नहीं दिया गया जो शरीर और मन से पूरी तरह स्वस्थ थे। उन्हीं को अब यह अधिकार प्रदान किये जाने का मतलब वह सब कुछ बेकार कर देना होगा जो स्वाधीनता के उदय के साथ ही बड़े जोश–खरोश से हमने शुरू किया था।

मैं यह समझ पाने में भी असमर्थ हूं कि भूमिधर या सीरदार के अपनी–अपनी भूमि शिकमी पर देने के अधिकार को मायन्ता देने के फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि कैसे होगी। दुनिया भर में मान्यता है कि जितना मालिक उपजाता है, उतना किसान नहीं। भू–स्वामी को शिकमी करने का अधिकार प्रदान कर हम विश्वव्यापी आर्थिक सत्य के विरुद्ध जा रहे हैं। अपने पिछले नोट में जैसा कि पहले ही कह चुका हूं, आवश्यकता क़ानून के प्रासंगिक प्रावधान को सख्ती से लागू करने की है, जिसका उल्लंघन 5 प्रतिशत से ज्यादा भूमिधर और सीरदार कर रहे हैं–न कि प्रावधान को ही रद्द कर देने की, जिससे हमारी पूरी भूमि व्यवस्था मजाक बनकर रह जाएगी।

हस्ताक्षर
(चरण सिंह)
11 जनवरी 1965

मुख्यमंत्री द्वारा दूसरे प्रस्ताव की पहल मुख्य सचिव को सम्बोधित इस नोट के जरिये की गईः

मुख्य सचिव

यह सज्जन मुझसे मिलने आये और फलोद्यानों की समस्याओं की तरफ मेरा ध्यान आकर्षित किया। इनका यह कहना सही है कि 12.5 एकड़ की हदबंदी के तहत फलोद्यानों के विकास की उम्मीद रखना मुश्किल है। मैं हैरान हूं कि इस मामले में हम क्या कर सकते हैं। मुख्य सचिव शायद इस पर कुछ सोच–विचार करें।

हस्ताक्षर
(सुचेता कृपलानी)
20 जुलाई 1965

मुख्यमंत्री

सवाल यह है कि फलोद्यानों को क्या उस क़ानूनी प्रावधान से मुक्त रखना चाहिए कि भविष्य में किसी को भी इतनी भूमि अर्जित करने की छूट नहीं रहे, जिससे उसकी कुल जोत मिलाकर 12.5 एकड़ से अधिक हो जाए? यह तर्क कि कोई फलोद्यान इससे छोटे क्षेत्र में विकसित नहीं किया जा सकता, वैध नहीं है, अर्थात् तर्क या अनुभव के आधार पर इसके औचित्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह फलोद्यान और फलोद्यान का फर्क है। फलोद्यान आम तौर पर साधारण फसलों की खेती से ज्यादा उपज देते हैं। इसलिए अगर फलोद्यानों के लिए छूट दिया जाना जरूरी समझा जाता है तो कोई कारण नहीं कि हदबंदी के प्रावधान को एकबारगी रद्द ही क्यों नहीं कर दिया जाए।

वह मैं ही था जो प्रावधान को लागू किये जाने के लिए जिम्मेदार था। जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून (1952) में आवश्यक संशोधन जब किया जा चुका था, तब भारत सरकार द्वारा कृषि के अध्ययन के लिए चीन और जापान भेजे गये एक प्रतिनिधि मण्डल की रिपोर्ट मुझे देखने को मिली। रिपोर्ट में कहा गया था कि जापान में भावी प्राप्तियों के लिए 7.5 एकड़ की हदबंदी निश्चित की गई है। जैसा कि हममें से बहुतों को पता है कि जापान में औसत जोत 2.5 एकड़ या इसी के आसपास है, इसलिए वहां औसत जोत के तीन गुना बराबर हदबंदी तय की गई है। उत्तर प्रदेश में औसत जोत मुश्किल से 4.00 एकड़ होती है, इस तरह हमारी 12.5 एकड़ की हदबंदी बिल्कुल ठीक और समुचित है तथा एक ऐसे देश के उदाहरण द्वारा समर्थित है जो प्रति एकड़ कृषि उत्पादन

के मामले में दुनिया के ज्यादातर देशों को सही रास्ता दिखा रहा है।

एक और बात विचारने की है। इस प्रावधान के पीछे भावना यह थी कि भूमि के गिने–चुने लोगों के हाथ में सिमट जाने पर रोक लगी रहे। हदबंदी का आंकड़ा जितना ऊंचा रहेगा, उतने ही कम लोग होंगे जिनके हाथों में भूमि धीरे–धीरे सिमट आएगी और जिसके फलस्वरूप ज्यादा–से–ज्यादा लोग नीचे श्रमिक के दर्जे पर चले जायेंगे, जैसा कि शायद हममें से कोई नहीं चाहता।

राज्य में जो इधर नई प्रवृत्तियां उभर रही हैं, उन्हें देखकर मुझे पीड़ा होती है। यहीं पिछले दिनों मैं ऐसे प्रस्ताव से रूबरू हुआ था कि सभी किसानों को अपनी जोत की ज़मीनें जिसे चाहें शिकमी पर देने की इजाजत दे दी जाए–ऐसे किसानों को भी जो किसी भी तरह से विकलांग नहीं हों। अब दूसरे शब्दों में यह जमींदारी प्रथा को पूरी तरह से लाने का उपक्रम है जिसे कांग्रेसियों ने कभी पसन्द नहीं किया था। इसका मतलब है कि जमींदारी के उन्मूलन के लिए जितनी सारी हमारी भावनाएं थीं और जितने सारे प्रयास हमने किये थे, वे सब व्यर्थ गये। मेरा दिमाग इस मामले में बिल्कुल साफ है कि शिकमी वाले प्रस्ताव के साथ–साथ विचाराधीन प्रस्ताव भी पीछे की ओर ले जाने वाले कदम हैं।

हस्ताक्षर
(चरण सिंह)
22 मार्च 1965

यहां यह उल्लेख करना शायद अप्रासंगिक नहीं होगा कि मुख्यमंत्री बनने के–बाद श्रीमती सुचेता कृपलानी ने लखनऊ ज़िले में बाराबंकी मार्ग के किनारे फलों का एक निजी बाग लगवाया था।

सीरदारों और भूमिधरों को अपनी ज़मीनें शिकमी पर उठाने की इजाजत के बारे में जो प्रस्ताव था, उस पर अन्ततः मुख्यमंत्री ने स्वयं 17 नवम्बर 1965 को राजस्व मंत्री ठाकुर हुकुम सिंह (जिन्हें चरण सिंह के इस्तीफे के बाद अप्रैल 1959 में राजस्व विभाग की जिम्मेवारी सौंपी गई थी), कृषि मंत्री श्री गेंदा सिंह और श्री चरण सिंह के साथ बैठकर चर्चा की। राजस्व मंत्री और कृषि मंत्री दोनों प्रस्ताव के पक्के समर्थक थे। यह एक बहुत बड़ी बात थी कि श्रीमती सुचेता कृपलानी ने श्री चरण सिंह को महसूस कराया कि वह प्रस्ताव को वापस ले रही हैं।

उस चर्चा के बाद चरण सिंह ने सम्बद्ध फाइल में, जो उन्हीं के पास पड़ी थी, यह टिप्पणी दर्ज कीः

फाइल में नीचे दो टिप्पणियां मेरे द्वारा दर्ज की गई थीं जिनका सम्बन्ध जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून में संशोधन के एक प्रस्ताव से था, इस प्रभाविता के साथ कि कृषि उत्पादन में वृद्धि के हित में सीरदारों और भूमिधरों को अपनी ज़मीनें शिकमी पर उठाने की इजाजत दे दी जाए।

प्रस्ताव पर मुख्यमंत्री श्रीमती सुचेता कृपलानी ने आज ठाकुर हुकुम सिंह, श्री गेंदा सिंह और मेरे साथ चर्चा की। राजस्व मंत्री और कृषि मंत्री दोनों ने ही प्रस्ताव का जोरदार समर्थन किया। खुद मुख्यमंत्री का जबर्दस्त झुकाव प्रस्ताव के पक्ष में ही था, लेकिन मुझे सुन लेने के बाद उन्होंने इसे वापस लेने का फैसला किया।

हस्ताक्षर
(चरण सिंह)
17 नवम्बर 1965

फिर भी, पांच दिन बाद ही यानी 22 नवम्बर 1965 को राज्य मंत्रिमंडल की बैठक में चरण सिंह की गैर–हाजिरी में इस प्रस्ताव का जिक्र फिर से किया गया। खबर है कि मंत्रिमंडल के तीन सदस्यों में से एक हरगोविन्द सिंह ने भी प्रस्ताव का समर्थन किया था, उन्होंने 1954 में अधिवासियों को स्थायी अधिकार दिये जाने का विरोध किया था। चरण सिंह स्तब्ध रह गये थे, जब 27 नवम्बर को उन्हें मुख्यमंत्री का एक नोट मिला, जिसमें कहा गया था कि वह "मुख्य सचिव और राजस्व सचिव को इस विषय पर चर्चा के लिए बुला सकते हैं।" फिर भी उन्होंने उन महत्त्वपूर्ण सवालों पर अफसरों के साथ चर्चा करना उचित नहीं समझा जिन्हें काफी सोच–विचार और श्रम के बाद एक दशक से भी पहले निपटा लिया गया था और मुख्यमंत्री को इस प्रकार लिख भेजाः

मुख्यमंत्री

मैं उस दिन यह प्रभाव लेकर लौटा था कि मुख्यमंत्री प्रस्ताव को वापस ले लेने के लिए रजामंद हो चुकी हैं। फिर भी लगता है कि मैं गलत था। बहरहाल, ऐसा कुछ भी नहीं है कि उपयोगी ढंग से मैं मुख्य सचिव और राजस्व सचिव के साथ चर्चा कर सकूं। निश्चित मामलों को छोड़ शिकमी पर रोक एक नीतिगत निर्णय था जिसे सरकार, कांग्रेस पार्टी और विधायिका ने ब्यौरेवार विचार–विमर्श के बाद लिया था। जैसा कि मैं दोनों टिप्पणियों में कह चुका हूं, उस निर्णय को उलट देना जनहित

में घातक होगा और यह जमींदारी उन्मूलन के प्रभावों को बहुत ही बड़े पैमाने पर व्यर्थ कर देगा।

हस्ताक्षर
(चरण सिंह)
4 फरवरी 1965

यह विषय अभी स्थगित रहे।

हस्ताक्षर
(सुचेता कृपलानी)
10 फरवरी 1965

हस्ताक्षर
(चरण सिंह)
22 फरवरी 1965

१५

सारांशतः

उत्तर प्रदेश में भूमि सुधारों की प्रकृति के बारे में और कैसे उन्हें लागू किया गया था, इसके बारे में सबूत के तौर पर हम फिर 'कृषि की अवस्थाएं और पैकेज कार्यक्रम' शीर्षक वाली उस रिपोर्ट का उल्लेख करना चाहेंगे जो 1963 में श्री वुल्फ लेडजिंस्की ने हमारे योजना आयोग को दी थी। श्री लेडजिंस्की कृषि–विशेषज्ञ थे, जिन्हें फोर्ड फाउण्डेशन टीम ने भारत में कृषि उत्पादन पर भूमि काश्तकारी के प्रभाव का अध्ययन के लिए प्रतिनियुक्त किया था। भारत सरकार ने गहन कृषि विकास कार्यक्रम को–जिसके लिए वित्त की व्यवस्था फोर्ड फाउण्डेशन ने की थी–लागू करने के लिए देश में पांच ज़िले चुने थे। यथाः मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, बिहार, पंजाब और उत्तर प्रदेश राज्यों से एक–एक ज़िला।

श्री लेडजिंस्की जापान में, जबकि वह अमेरिका के अधीन था, भूमि–सुधारों की शुरूआत के लिए जिम्मेवार थे और इसलिए यह अपेक्षा की जाती थी कि जो कुछ वह कह रहे थे, उसका उन्हें पता था। पांच राज्यों में किये गये भूमि–सुधारों का उल्लेख करते हुए श्री लेडजिंस्की ने अपने विचार का खुलासा इस प्रकार कियाः

> मद्रास और आन्ध्र प्रदेश में मौजूदा भूमि सुधार क़ानून अस्थायी और कामचलाऊ ढंग का है और व्यापक क़ानून अभी बनाया जाना है। बिहार में अभी भी कुछ संशोधनों के साथ 1885 का टेनेंसी एक्ट ही लागू है जो पूरी तरह से अपर्याप्त है। पंजाब में लागू क़ानून बहुत ही दोषपूर्ण है तथा उसमें पूरे फेरबदल की जरूरत है। सिर्फ उत्तर प्रदेश में ही एक सुविचारित और व्यापक क़ानून बनाया तथा अमल में लाया गया है। वहां लाखों रैय्यतों और शिकमीदारों को मालिकाना हक दिया था तथा जिन हजारों को बेदखल किया जा चुका था, उनके अधिकारों को बहाल कर दिया गया। (पृष्ठ 2–3)
>
> श्री लेडजिंस्की ने फिर अपनी रिपोर्ट के अंतिम अध्याय में यह भी कहाः अलीगढ़ के (उत्तर प्रदेश में पैकेज ज़िला अलीगढ़ ही था) कृषि ढांचे की तरफ फिर नजर डालें तो भूमि सुधारों के डेढ़ दशक बाद हमारे पास

> सीरदार* के बारे में पहले ही दिये जा चुके सुझाव के अलावा न तो जोड़ने के लिए कुछ और न ही देने के लिए कोई संशोधनात्मक सुझाव है। भारत में कृषि सुधार क़ानून काफी हद तक गतिहीन रहा, किन्तु उत्तर प्रदेश में इसे चुस्ती से अमली रूप दिया और महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां हासिल की गई। इससे यही एक सीख मिलती हैः जहां कर डालने की इच्छा होगी वहां इसे किया जा सकता है। खाते में दर्ज लाखों जाली प्रविष्टियों को काटा जा सकता है, भूमि के सही सत्वाधिकारियों के नाम दर्ज किये जा सकते हैं और काश्तकारी के अधिकारों को सुरक्षा प्रदान की जा सकती है। (पृष्ठ 57–58)
>
> श्री लेडजिंस्की जोतों की चकबंदी की योजना को 'प्रभावशाली और सफल कार्यक्रम' कहते हैं और आगे यह टिप्पणी करते हैं कि "उन गांवों में इस कार्यक्रम का असर बिल्कुल स्पष्ट था जहां दो वर्ष पहले चकबंदी का काम पूरा कर लिया गया था। किसानों द्वारा अपनी चकबंद भूमि पर बना लिये गये कुओं की संख्या के रूप में इसके सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम को देखा जा सकता है।" (पृष्ठ 57)
>
> 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के 9 सितम्बर 1964 के अंक में प्रकाशित एक लेख में दक्षिण–पूर्व एशिया के अनेक देशों में भूमि सुधार क़ानून की चर्चा करते हुए लेडजिंस्की ने पुनः उत्तर प्रदेश का हवाला इन शब्दों में दियाः
>
> सुधारों के कार्यान्वयन में प्रशासकीय समस्याएं एक विकट अवरोध हैं। दूसरी तरफ, भारत के एक सबसे बड़े और बहुत ही सघन आबादी वाले उत्तर प्रदेश के अनुभव को देखते हुए कहा जा सकता है कि अगर काबू पाने की इच्छा दृढ़ हो तो यह कोई दुर्निवार कठिनाई नहीं है। बहुत से विधायी क़ानूनों में पाठ का दोषपूर्ण होना ही मुख्य मुद्दा है।

भूमि सुधार क़ानून का इतिहास सम्भवतः उत्तर प्रदेश के 'जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून' जैसे ठोस दूरगामी उपाय का दूसरा उदाहरण प्रस्तुत नहीं करता।

छोटी तराई और उससे लगा भाभर क्षेत्र ही उत्तर प्रदेश का वह एकमात्र भाग था जहां काश्तकारी की कुछ जटिलताओं के चलते और

---

* लेडजिंस्की जिस दिये जा चुके सुझाव का यहां उल्लेख करते हैं, उसमें यह था कि भूमिधर की तरह सीरदार को चूंकि भूमि के हस्तांतरण का अधिकार नहीं है, इसलिए सहकारियां या सरकार उसे ऋण नहीं दे सकतीं। यह खामी हालांकि बाद के संशोधन द्वारा दूर कर दी गई थी।

इस कारण भी कि चरण सिंह के पास पर्याप्त समय नहीं था, 'जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार क़ानून' तथा 'भूमिधरी योजना' को उनके राजस्व मंत्रित्व वाले कार्यकाल के दौरान लागू नहीं किया जा सका, जिसकी समाप्ति अप्रैल 1959 में हुई थी। न तो राजस्व विभाग का कार्यभार संभालने वाले महानुभाव के पास और न ही 1959–67 की अवधि में राज्य के शासन की बागडोर हाथ में लेने वाले तीन मुख्य मंत्रियों में से किसी एक के पास भी समस्या को सुलझाने की दृष्टि या चाहत थी। चरण सिंह देश की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के प्रति बहुत कुछ गांधीवादी नजरिया रखने वाले एक दल की स्थापना के उद्देश्य से 1967 में कांग्रेस से अलग हो गये थे।

एक और भी उदाहरण बड़े शहरों के 'पुरवास' (आसपास वाले क्षेत्र) के घरों में रहने वालों को स्वामित्व के अधिकार दिलाने के लिए उन्होंने एक क़ानून बनाना चाहा था –और इस दिशा में एक फाइल उन्होंने आगे बढ़ाई थी। रैय्यत या दखलकार हालांकि घर और घर में लगी सामग्री के स्वामीं थे, फिर भी किसी–न–किसी बहाने या घरों को कच्चे से पक्के बना लेने पर बेदखल किये जा सकते थे या उनके भाड़े में बढ़ोतरी की जा सकती थी। लेकिन यह साधारण–सा सवाल अन–सुलझा रह गया और बातें 1959 में जहां थीं, वहीं की वहीं 1967 में भी रहीं।

सिर्फ यही नहीं पाठक ने अवश्य ही यह देखा होगा कि भूमि सुधारों की दिशा में चरण सिंह द्वारा उठाये गये तकरीबन हर बड़े कदम को कांग्रेस के ही छोटे–बड़े नेताओं के घोर विरोध का सामना करना पड़ा था। जब वास्तविकता सामने आई और उनके अपने ही या उनके वर्ग के हित प्रभावित होने लगे तो कई चोटी के कांग्रेसी नेता –यहां तक कि अपने–आपको 'प्रगतिशील' और 'समाजवादी' कहने वाले, यानी सामान्य कांग्रेसजनों की अपेक्षा दलितों के ज्यादा बड़े हितैषी भी–दलितों के विरुद्ध मोर्चाबंदी करते पाये गये।

चरण सिंह ने बार–बार बताया कि उन्होंने उत्तर प्रदेश में जो भूमि सुधार प्रस्तावित किये, वे सामाजिक न्याय की मांग को पूरा करने के अलावा लोकतंत्र के बचाव के लिए दीवार का काम करेंगे। उनके राजनीतिक विरोधियों के लिए यह तर्क बहुत कम या बिल्कुल ही असर नहीं रखता था। लेकिन उन कांग्रेसी विधायकों के दबाव के चलते चरण सिंह को अपनी नीतियां कार्यान्वित कराने में कामयाबी हासिल हुई, जो विदेशी शासकों के विरुद्ध संघर्ष के कठिन दौर से गुजर चुके थे। विदेशी शासन को मुख्य समर्थन बड़े जमींदारों–तथाकथित राजाओं और नवाबों से मिलता था जो बदले में ग्रामीण जनता का निर्ममता से शोषण करते

थे। जैसा कि समय ने सिद्ध कर दिया है, भूमि सुधार ही वह मुख्य कारण है जिसके चलते भारतीय संघ का सबसे बड़ा राज्य उत्तर प्रदेश–जहां की औसत जोत–भूमि सबसे छोटी यानी 1.16 हेक्टेयर है। अपवाद दो छोटे राज्य केरल और जम्मू–कश्मीर हैं, जहां के आंकड़े क्रमशः 0.70 हेक्टेयर और 0.94 हेक्टेयर हैं–कृषिक्षेत्र की अशांति से दूर रहा तथा बावजूद इसके कि राज्य की राजनीतिक और प्रशासनिक अवस्थाएं बदतर रहीं, यहां के देहातों में साम्यवाद अपनी जड़ें जमाने में असमर्थ रहा, जबकि कई दूसरे राज्यों मे उसे कामयाबी मिली है।

चरण सिंह जब संसदीय सचिव या राजस्व मंत्री थे, उस अवधि के दौरान राजस्व विभाग द्वारा लिये गये निर्णय केवल राज्य विधान सभा की बहसों या सचिवालय की फाइलों और सरकारी परिपत्रों तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि उन्हें जनता में प्रचारित और वास्तविक रूप से क्षेत्र में कार्यान्वित किया गया था। प्रचार कार्य ने भीतरी इलाकों में अनगिनत सार्वजनिक सभाओं के अलावा ये रूप लिये भूमिधारी अभियान, नये क़ानून और अन्य सुरक्षात्मक कदम जो यह सुनिश्चित करने के लिए उठाये गये कि असली जोतदार का नाम किसी भी रूप में राजस्व के खातों में दर्ज है या नहीं, उनकी विस्तृत जानकारी देने के उद्देश्य से प्रशिक्षण शिविर चलाये गये जिनमें सरकारी और गैर–सरकारी दोनों तरह के लोग शामिल थे, पटवारियों की बर्खास्तगी और कम अधिकार वाले लेखपालों की बहाली, भूमि प्रबंधन समितियों के निश्चित दायित्व और अधिकार, चकबंदी और इससे मिलने वाली सुविधाओं आदि की जानकारियां इस उद्देश्य से सुलभ की जा रही थीं कि लोगों को मौजूदा ढांचे में किये जा रहे भारी फेरबदल का पता चले। इसी उद्देश्य से अखबारों में लेखों के प्रकाशन और आकाशवाणी द्वारा वार्ताओं के प्रसारण की व्यवस्था की गई। वस्तुतः हर नये विचार, अवधारणा और योजना को देहातों में पहुंचाया गया।

चरण सिंह द्वारा राजस्व मंत्री के रूप में किये गए विभिन्न ज़िलों के दौरे तथा उनके तद् विषयक ज्ञान ने ज़िला अधिकारियों और उन कांग्रेसी कार्यकर्ताओं के लिए भी प्रेरणास्त्रोत का काम किया जिनकी संख्या कांग्रेस के भीतर घुसी काली भेड़ों की अपेक्षा बहुत ज्यादा थी। कोई भी अधिकारी चाहे कितना ही सक्षम क्यों न हो, चरण सिंह की अनदेखी या अपनी मनमानी नहीं कर सकता था; क्योंकि वे नीतियों और सिद्धान्तों के साथ–साथ सम्बद्ध विषय की ब्यौरेवार जानकारी रखने में कुशल थे। कोई भी गलत या गैर–जानकार अफसर उनकी चौकन्नी नजर से बच नहीं सकता था। जो गलती करते थे, उनका चढ़ी हुई भौंहों या नापसंदगी जाहिर करने वाली नजर से सामना होता। गम्भीर मामलों में समुचित दंड

दिये जाने की नौबत आती, जिसे ऊंचे–से–ऊंचे पद पर आसीन किसी बाहरी व्यक्ति की पैरवी या मध्यस्थता भी कम नहीं करा सकती थी, न ही बदलवा सकती थी। फलस्वरूप दंडों की संख्या निम्नतर होती और काम–काज की स्थिति गुणात्मक और संख्यात्मक दोनों ही दृष्टियों से बेहतर थीं।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, राज्य के किसी दूरवर्ती अंचल में अदना–से–अदना व्यक्ति को बेदखल करने के लिए परेशान किये जाने का समाचार जैसे ही मिलता, राजस्व विभाग की पूरी मशीनरी तुरन्त सक्रिय हो उठती थी या सक्रिय बना दी जाती थी। हर तहसील अधिकारी या राजस्व अधिकारी अनुभव करता कि राजस्व मंत्री की निगाहें खास तौर से उसी पर गड़ी हुई हैं।

जब हम कहते हैं कि राज्य की ठोस और रचनात्मक सेवा का चरण सिंह का रिकार्ड बिल्कुल अतुलनीय है, तो हम नहीं समझते कि बढ़ा–चढ़ाकर कहने का दोष हम पर लग सकता है। बजट के लिए धन जुटाना और फिर कोई नई सड़क, कोई नया स्कूल, कोई नया अस्पताल, कोई नया नलकूप, कोई नया कारखाना खोल देने के लिए ज्यादा या जरा भी विशेष बुद्धि लगाने की जरूरत नहीं पड़ती। जबकि कोई नया विचार सोच निकालने, कोई नई योजना की रूपरेखा तैयार करने, कोई नया क़ानून बनाने, कोई नई व्यवस्था खड़ी करने, किसी पुरानी व्यवस्था को सुधारने, लाखों–करोड़ों लोगों को एक साथ प्रभावित करने वाली समस्याएं सुलझाने और नये मूल्यों को जन्म देने के लिए न केवल बुद्धि की बल्कि कल्पनाशीलता, राजनीतिक कुशलता और मन तथा शरीर को पूरी तरह से प्रयोग में लाने की जरूरत पड़ती है। अप्रैल 1967 से पूर्व की अवधि में इस दूसरी तरह के लगभग सारे काम जो उत्तर प्रदेश में किये गये, उनके मूल प्रेरणास्त्रोत चरण सिंह ही थे।

चरण सिंह का यह सौभाग्य था कि उत्तर प्रदेश में उन्हें राजस्व सचिव के रूप में श्री जहूरूल हसन जैसे योग्यतम आई० ए० एस० अधिकारी तथा भूमि सुधार आयुक्त के रूप में श्री जे० निगम जैसे योग्यतम आई० सी० एस० अधिकारी मिले। वह उनके कठोर परिश्रम, कर्तव्यनिष्ठा तथा दायित्वों के प्रति समर्पण–भाव के लिए, सदैव, उन्हें गर्व और स्नेह से याद करते रहे।

राजस्व सचिव ने अपने कार्यालय को जो नीचे दिया गया आदेश जारी किया था, वह इस तथ्य का एक प्रमाण पेश करता है कि सामने उपस्थित समस्याओं और उनके सम्भावित समाधानों को लेकर, सरकारी नीतियां लागू की जाने की गति और क्षमता को लेकर तथा जिस कल्पनाशीलता

से एक नया ढांचा सुनियोजित और रूपायित किया गया था, उसको लेकर चरण सिंह कैसे दिन–रात एक किये हुए थे।

कार्यालय

राजस्व मंत्री चाहते हैं कि निम्न बातों को अभी से प्राथमिकता देते हुए सारे काम निपटाए जाएं। वह हर मामले में तीन सप्ताह के भीतर हुई प्रगति की रिपोर्ट देखना पसंद करेंगे। वह चाहते हैं कि रिपोर्ट महज औपचारिक न हो जिसमें दिखाया जाता है कि रिपोर्ट के लिखे जाने तक कितना कुछ किया जा चुका है, बल्कि उसमें निश्चित रूप से यह दिखाया जाना चाहिए कि राजस्व मंत्री द्वारा निर्धारित तीन सप्ताह के दौरान क्या प्रगति की गई:

(1) निम्नांकित क्षेत्रों में 'जमींदारी' का उन्मूलन–
   (क) कुमाऊं डिवीजन के अलावा सरकारी भू–सम्पत्तियां,
   (ख) कुमाऊं डिवीजन की पहाड़ी पट्टियां,
   (ग) परगना जौनसार बावर,
   (घ) रामपुर ज़िले की सरकारी भू–सम्पत्तियां,
   (ङ) शहरी क्षेत्र,
   (च) टी० एंड बी० और गढ़वाल भाबर सरकारी भू–सम्पत्तियां।
(2) गांवों की अखंडता।
(3) अनुच्छेद 117–ए जे० ए० एल० आर० एक्ट में उल्लेखित क्षेत्रों के सम्बन्ध में स्थानीय अधिकरणों को अधिकार प्रदान किये जाने के बारे में आदेश।
(4) जमींदारी उन्मूलन के फलस्वरूप वन विभाग को प्रदान किये जाने वाले बंजर क्षेत्रों और निजी वनों की मुक्ति में प्रगति।
(5) चकबंदी कर्मचारियों की नियुक्ति।
(6) सर्वेक्षण अमीनों का प्रशिक्षण।
(7) 100 नये क़ानूनगो और तहसीलदारों की नियुक्ति।
(8) मुआवज़ा बांड जारी करने में प्रगति।
(9) पुनर्वास अनुदान के भुगतान के लिए एक नई संस्था का गठन।
(10) सकलाना मुआफियों का निपटान।
(11) निजी एजेंसियों द्वारा राजस्व विभाग के फार्मों की छपाई।
(12) ऋणग्रस्त भू–सम्पत्ति (संशोधन) क़ानून का लागू किया जाना।
(13) उन प्रावधानों को तैयार करने के लिए एक संस्था का गठन, जिन्हें जमींदारी उन्मूलन (कुमाऊं में) सम्बन्धी अध्यादेश में शामिल किया जाएगा।

(14) राजस्व मंत्री के संसदीय सचिव द्वारा अदालत और कार्यालय से सम्बंधित नियमों और निर्देशों का संशोधन तथा राजस्व मंत्री के संसदीय सचिव द्वारा किये गये निरीक्षण के फलस्वरूप कलेक्ट्रेटों में पाया गया आवश्यक कार्य।

(15) जमींदारी उन्मूलन क़ानूनों की नई बुलेटिन जारी करना। जहां तक अंत में उल्लेखित विषय का सवाल है, मैं यह कह सकता हूं कि मैंने राजस्व मंत्री से वादा कर लिया है कि उनके कश्मीर से वापस आते ही नये क़ानूनों की एक प्रति उन्हें तैयार मिलेगी। मुझे उम्मीद है कि कार्यालय वह सब कुछ करेगा जो मेरे वायदे की पूर्ति के लिए जरूरी है।

हस्ताक्षर
(जहरूल हसन)
12 जुलाई, 1954

चरण सिंह ने जो सार्वजनिक सभाओं में अनगिनत भाषण दिये, अखबारों में लेख लिखे और आकाशवाणी पर वार्ताएं दीं, उनसे ही वे संतुष्ट नहीं थे बुद्धिजीवी वर्ग के शिक्षण के लिए भी उन्होंने अनेक पुस्तकें और पुस्तिकाएं भी लिखीं। अन्त में कोई भी इस निष्कर्ष पर पहुंचे बिना नहीं रहेगा कि चरण सिंह को दो दशकों से भी अधिक लम्बे समय (1946–67) तक अथक भाव से संघर्षरत रहना पड़ा था, उन 'कुलकों' के विरुद्ध जो कांग्रेसी और यहां तक कि समाजवादी नेतृत्व का नाम ओढ़े हुए थे।

परिशिष्ट

सरकारी सेवाओं में किसान-संतान के लिए 50 प्रतिशत आरक्षण क्यों?

1931 की जनगणना के अनुसार जो व्यक्ति या अर्जक वास्तविक रूप से रैय्यत या मालिक के रूप में अपनी ज़मीन पर खेतीबारी करते थे, वे उन श्रमिकों अथवा उन लोगों को छोड़कर जो केवल या मूलतः कृषि लगान पर निर्भरशील थे, प्रदेश के कुल अर्जकों में सबसे बड़े समूह यानी 57.75 प्रतिशत थे। जब खेतिहर श्रमिक भी इसमें जोड़ दिए जाते हैं तो यह आंकड़ा बढ़कर 75.50 प्रतिशत हो जाता है। व्यवसायगत आंकड़े 1931 की जनगणना में एकत्र नहीं किए गए थे, लेकिन यह मान लेने का कोई कारण नहीं कि 1931 के बाद से इसके अनुपात में कोई भारी–बदलाव आया है। इसलिए, ये खेतिहर किसान ही हैं जो संयुक्त प्रान्त (उत्तर–प्रदेश) की जनता–विशाल जनसमुदाय–कहलाने के अधिकारी हैं। सरकार के सारे विभाग जनता के ही हितों की देख–रेख की दृष्टि से बनाए गए हैं। आबादी में उनके इस अत्यधिक प्रतिशत को देखते हुए कोई भी यह अपेक्षा रख सकता है कि संयुक्त प्रांत की सरकारी सेवाओं में खेतिहरों के बेटे ही बड़ी तादाद में लगाए जाएं अथवा सरकारी सेवाओं में उनकी संख्या कम–से–कम पूरी आबादी में उनके बल को तो प्रतिबिम्बित करे ही। लेकिन यह वस्तुस्थिति से कहीं दूर की बात है, माता–पिता या अभिभावकों के पेशे के अनुसार सरकारी कर्मचारियों की संगणना के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है, लेकिन बिना प्रतिवाद की आशंका के निश्चितता के साथ कहा जा सकता है कि जो सेवाएं या तो जोखिम वाली हैं या बहुत ही कम वेतन वाली हैं, उनका अनुपात किसी भी तरह से 10 प्रतिशत से ज्यादा नहीं है। अर्ज यही है कि इस स्थिति को पूरी तरह से बदला जाना है।

आंकड़ों पर आधारित तर्क का उल्लेख किया जा चुका है। फिर भी मैं जिसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण और विचारणीय समझता हूं, वह है किसान

और उन वर्गों के बीच सहानुभूतियों और हितों में टकराव की स्थिति का मौजूदा होना, जिन्होंने अब तक सरकारी सेवाओं में अफसरों और अन्य पदों की आपूर्ति की है। आदमी के विचार काफी हद तक उसके आसपास के वातावरण से बनते और नियंत्रित होते हैं। शिक्षा से उसके वास्तविक विचारों में अगर अन्तर आता भी है तो बहुत कम आता है, बल्कि यह उनकी पुष्टि ही करती है। उसके माता–पिता, उसका परिवेश, उसका व्यवसाय, उसका पिछला पेशा, उसके वर्तमान मित्र, परिचय और नाते–रिश्ते–ये ही कुल बातें हैं जो जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को निर्धारित करते हैं। 'किसी मनुष्य का सामाजिक दर्शन' में साइमन हैरी लिखते हैं... "दर्शन उन्हीं लोगों का होता है जिनके बीच वह रहता है। अनुदार दल (कंजरवेटिव पार्टी) का कोई सांसद लिमिटेड कम्पनियों के डाइरेक्टरों, अपने ही विशिष्ट क्लबों के बराबरी वाले समृद्ध सदस्यों तथा शिकार और निशानेबाजी के शौकीन मित्रों के साथ सम्पर्क रखता है। उसकी जीवनशैली इस बात की गुंजाइश नहीं रहने देती कि वह साधारण लोगों की वास्तविक समस्याओं को समझ सके उसके राजनीतिक विचार उस वर्ग के हितों को प्रतिबिम्बत करेंगे ही जिससे वह आता है।" (देखें: 'टोरी एम० पी०', पृष्ठ 193)

हमारे देश में जिन वर्गों के वंशज सार्वजनिक सेवाओं पर प्रभुत्व रखते हैं, वे या तो साहूकार, बड़े जमींदार या ताल्लुकेदार, आढ़तिया या व्यापारी जैसों के ब्रिटिश लोगों द्वारा 'लाजवाब ढंग से प्रमुख और महत्त्वपूर्ण बना दिए गए' वर्ग हैं, अथवा कहा जाए तो वकील, डॉक्टर, ठेकेदार कहलाने वालों के वर्ग। इन वर्गों ने पिछले दो सौ वर्षों के दौरान विदेशियों की मातहती में उन्हीं के सहयोग के बल पर हर तरह से यहां की जनता का शोषण किया है। इन वर्गों के विचार और हित इसीलिए कुल मिलाकर घोषित रूप से सामान्य जनता के विचारों और हितों के विरुद्ध जाते हैं। गैर–खेतिहर शहरी वर्गों के सदस्य का सामाजिक दर्शन उससे बिलकुल भिन्न होता है जो खेतिहर ग्रामीण वर्गों के किसी व्यक्ति का हो सकता है।

विधि आयोग को पंजाब एसोसिएशन द्वारा दिए गए एक ज्ञापन में बल देकर यह कहा गया है कि "भारत में एक तरफ किसान वर्गों और दूसरी तरफ शहरों–कस्बों के व्यापारी वर्गों के बीच एक बहुत ही चौड़ी दरार विद्यमान है।" फिर यथासम्भव पूरा जोर डालते हुए इसमें कहा गया है कि "शहरी मध्यमवर्ग, जिसमें उससे मिलता–जुलता साहूकार वर्ग भी शामिल है, की कृषक वर्गों के साथ किसी भी तरह की सहानुभूति नहीं है तथा यह कि दोनों वर्गों के हित पूरी तरह से एक–दूसरे के विरुद्ध जाते हैं। शैक्षिक योग्यता प्राप्त शहरी मध्यम वर्ग कृषक वर्ग को नीची निगाह से देखते हुए

सोचता है कि वह तो महज ज़मीन जोतने वाला, अन्न पैदा करने वाला, राजस्व की आपूर्ति करने वाला तथा क़ानून के भीतर ही रहने वाला है जिसका हर तरह से शोषण होना है।" ज्ञापन की भाषा कइयों के कानों को कुछ कठोर और रूखी लग सकती है, लेकिन यह तथ्य छिपाने से कोई लाभ नहीं कि शहरी लोग किसानों पर अपने बड़प्पन का रौब गांठते है। पंजाब एसोसिएशन का आकलन सही है, इस तथ्य की पुष्टि दूसरे ही दिन हो गई जब मैं संयुक्त प्रांत के बड़े शहर के विधायक के साथ सरकारी नौकरियों में कृषकों को ज्यादा प्रतिनिधित्व दिए जाने के अपने प्रस्ताव के बारे में चर्चा कर रहा था, जिस पर तुरन्त प्रतिक्रिया के तौर पर उन्होंने सवाल दागा–"तो फिर ज़मीन कौन जोतेगा?" यह तो रोज–रोज देखने की बात है कि शहर में पैदा हर गैर–कृषक आदमी गांवों के अपने ही देशवासियों को 'देहाती', 'गंवार' या 'दहकानी' उसी तिरस्कारपूर्ण लहजे में कहता है जैसे स्वर्गजात यूरोपियन बिना किसी भेदभाव के हम सभी भारतवासियों को 'नेटिव' या 'निगर' कहते हैं, या कहा करते थे।

इस सच को स्वीकार किया जाना है कि जिस वातावरण में देहात के लोग काम करते और रहते हैं, वह शहर से सर्वथा भिन्न है। कृषि "एक खास तरह के नागरिक, एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति और विशिष्ट जीवनशैली का" जन्म देती है जो किसी अन्य उद्योग या व्यवसाय की देन से बिलकुल अलग होती है। 'क्योंकि कृषक', काउन्ट रिसर्च काउन्डेनहोव कालेर्गी अपनी पुस्तक 'टोटेलिटेरियन स्टेट एगेन्स्ट मैन' में कहते हैं, "पशुओं और वनस्पतियों के साथ सहजीविता की स्थिति में प्रकृति के बीच, प्रकृति के साथ और प्रकृति के द्वारा रहता है। इसी कारण उसकी दुनिया की तस्वीर प्रकृति से दूर रहने वाले नगरवासी की तस्वीर से बुनियादी तौर पर भिन्न होती है जो तरह–तरह की मशीनों के बीच अपने दिन गुजारता है और अक्सर खुद आधी मशीन होकर रह जाता है। किसान की गति मौसमों की तरह धीमी होती है, मोटरकारों की तरह तीव्रगामी नहीं। दुनिया और दुनिया की चीजों के प्रति उसका दृष्टिकोण जैविक होता है, यांत्रिक नहीं।"

इसलिए किसानों से भरे देश में ज्यादा कामयाब प्रशासक या क़ानून का व्याख्याता वही हो सकता है जिसने देहाती वातावरण का लाभ उठाया हो और कृषक–जीवन के तीखे अनुभव का स्वाद लिया हो, क्योंकि उसके जीवन–मूल्य किसी अन्य की अपेक्षा उन लोगों के साथ कहीं ज्यादा मेल खाएंगे जिनके मामले निपटाने के लिए वह नियुक्त होगा। केवल वही किसी ग्रामवासी की मानसिकता और जरूरतों को समझ सकता है। उसे किसान के अभिप्राय–स्रोतों का पता होता है और देहाती जीवन के

पिछड़ेपन के प्रति वह सजग होता है। इस समय ज्यादातर नगरवासियों या दुकानदारों, साहूकारों या वकीलों और डॉक्टरों, बड़े ताल्लुके–दारों और वार्षिक वृत्तिभोगियों के बेटे ही श्रेणीबद्ध सरकारी सेवाओं में हैं, जो यदि पूरे मन से चाहें भी तो इस कृषिप्रधान प्रदेश में आम लोगों के हितों की देख–रेख नहीं कर सकते। इन वर्गों में से लिया गया कोई अफसर आम आदमी के जूते में न तो समा सकता है और न ही यह अनुभव कर सकता है कि जूता कहां काट रहा है। बल्कि उसके सारे हित और सहानुभूतियां दूसरी तरफ होगी, वे अचेतन रूप से उसके विचार को उसी वर्ग के पक्ष में ले जाएंगी जिससे वह खुद आया है, और अपने अधिकार का उपयोग वह उसी की बेहतरी के लिए करेगा। मानव प्रकृति पर यह बहुत ही ज्यादा जोर डालना होगा अगर ऊपर वाले वर्गों से आए किसी अफसर या विधायक से अपेक्षा की जाए कि उन समस्याओं पर सही नजरिया रखे जिनके सही समाधान का मतलब उन्हीं वर्गों को खत्म कर देना या बुरी तरह प्रभावित करना हो, जिनसे वह खुद आया है। मेरी यह धारणा संयुक्त प्रान्त के शिक्षा मन्त्री माननीय श्री सम्पूर्णानन्द के इस विचार से परिपुष्ट हुई हैः

'न्यायाधीशों और विधायकों को', वह कहते हैं, 'जान–बूझकर पक्षपाती होने की जरूरत नहीं है, मनुष्य होने के नाते उन्हें उन सीमाओं से आगे जाना लगभग असम्भव लगेगा जो उनके वर्ग–सम्बन्धों और सामूहिक हितों ने उन पर थोपी है।' (देखेंः 'दि इंडीविजुअल एण्ड द स्टेट', पृष्ठ 121–122)

जिन लोगों को क़ानूनी अदालतों का कोई तजुरबा है, वे अच्छी तरह जानते होंगे कि न्यायिक अधिकारियों के विचार और आचरण में क्या अन्तर होता है–समाज के उन वर्गों के अनुसार ही जिनसे वे आते हैं। एक जैसी परिस्थितियों वाले मुकदमे में किसी साहूकार या ताल्लुकेदार परिवार से आए न्यायाधीश की प्रतिक्रिया उस न्यायाधीश की प्रतिक्रिया से काफी भिन्न होगी, जो किसान परिवार से सम्बन्ध रखता होगा। देखने के लिए जिनके पास आंखें हैं वे 'द पंजाब पीजेन्ट इन प्रास्पेरिटी एण्ड इन डेब्ट' (डार्लिंग, 1932) के लेखक के साथ उस तबाही पर अवश्य ही विलाप करेंगे जो उन दीवानी अदालतों द्वारा लाई गई थी जिनकी अध्यक्षता ऐसे लोग कर रहे थे जो "ज्यादातर शहरों में पैदा हुए थे, जिनकी गांव के बारे में जानकारी बहुत कम थी और अगर वास्तविक रिश्तेदारी से नहीं तो जाति से साहूकारों के साथ जुड़े हुए थे।" क़ानूनी अदालत में, खास तौर से लेन–देन वाले मुकदमे में किसान पाता है कि तुलादंड भारी वजन से उसके विरुद्ध झुका हुआ है। सचमुच ही गैर कृषकों ने अपने निजी हितों

को सबसे ऊपर रखा है। मैं अपनी इस बात को एक ब्रिटिश पत्रिका से लिए गए उद्धरण द्वारा और भी बल प्रदान करूंगाः

> "यह तेजी से स्वीकार किया जाने लगा है कि अगर न्यायाधीशगण सन्तोषजनक ढंग से अपना काम करने के लिए हैं तो न केवल उन्हें उस क़ानून का अच्छा ज्ञान हो जिसकी वे देखभाल करते हैं, बल्कि उन्हें उन लोगों की कठिनाइयों और समस्याओं का अहसास भी हो जिनके मामले वे निपटाते हैं। यह कहा जाता है कि कृषि प्रधान ज़िले से आए न्यायाधीशों की न्यायपीठ खदान वाले शहर या औद्योगिक केन्द्र की स्थितियों को समझ पाने में असमर्थ रहेगी और इसी तरह शहरी लोग कृषि समुदाय की समस्याओं की गुरुता को समझ नहीं पाएंगे।"

ऊपर दिए गए निष्कर्ष गैर–न्यायिक अफसरों के लिए भी उतने ही सच हैं। अगर कोई पिछले रिकार्डों को देखने की जहमत उठाए तो सूखा या आंधी–तूफान या बाढ़ से मची तबाही के अवसरों पर नहर विभाग और राजस्व विभाग के अफसरों द्वारा छूट के आकलनों में उसे साफ भेद दिखाई देंगे–कृषि और गैर–कृषि वर्गों के मुताबिक, गैर–कृषि वर्गों से आए अफसरों के पास खेतिहर की दुर्दशा का अहसास कराने वाली अन्तर्दृष्टि ही नहीं। उनका आर्थिक पूर्वाग्रह उनकी पूरी मानसिक संरचना–सही तस्वीर प्रस्तुत करने की राह में बाधक बन जाता है। कृषि विभाग का एक कारण इस तथ्य में निहित है कि इसमें ज्यादातर ऐसे ही लोग अफसर हैं जिनका पीढ़ियों से कृषि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा, विभाग में आने से पहले गांव के किसान की जिन्दगी जिनके लिए एक बन्द किताब की तरह थी। इसीलिए वे अक्षम कृषक, कल्पनाहीन संगठन और सहानुभूतिरहित अफसर होकर रह गए। कृषि विभाग में ऐसे भी अफसर हैं जो जौ और गेहूं के पौधों में अंतर नहीं कर पाते और उधर नहर विभाग के वे अफसर हैं जिन्हें पता नहीं कि किसी खास फसल को कितनी बार और कब सिंचाई की जरूरत पड़ती है। सहकारिता और ग्राम विकास विभाग की सभी शाखाओं और उनकी गतिविधियों का मामला भी इसी से मिलता–जुलता है। यह देखकर और दुःख होता है कि 1937 में कांग्रेस मंत्रिमंडल के उदय के बाद भी इस मामले में कोई सुधार नहीं हुआ। अगर हम यह अच्छी तरह समझ लें जल्द समझें तो बेहतर कि देहात में अपनी जड़ें रखने वाले लोग ही इन और अनेक अन्य विभागों को उतना सफल बना सकते हैं जितना कि इन्हें होना चाहिए, कि सार्वजनिक नियोजन के लिए उम्मीदवार की ग्रामीण जिन्दगी में कितनी दिलचस्पी

है, यही वह बुनियादी सिद्धान्त हो जिसके आधार पर उसका चयन निर्भर होना चाहिए तथा किसी पद की पात्रता पर निर्णय लिया जाना चाहिए। न्याय और सहकारिता मंत्री माननीय डॉ० कैलाशनाथ काटजू द्वारा प्रस्तुत 'संयुक्त प्रान्त के लिए सहकारिता योजना' की रूपरेखा पर टिप्पणी करते हुए श्रीधर मिश्र ने 29 दिसम्बर 1946 के 'लीडर' में लिखा है:

> अंततः यह कहा जा सकता है कि सहकारिता कर्मचारियों की भर्ती की पद्धति में भी भारी परिवर्तन की जरूरत है। शहरी 'साहब' लोग गांव में अगर गए भी होंगे तो सिर्फ पिकनिक मनाने या स्थल–विशेष देखने गए होंगे। वे चाहे कितनी भी ऊंची योग्यता रखते हों, गांव के लोगों की कठिनाइयों को नहीं समझ सकते और न ही उनका समर्थन या विश्वास जीत सकते हैं जो कि देहाती क्षेत्र में सामाजिक सुधारक के लिए एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अत्यावश्यक शर्त है। इसलिए चयन पूरी तरह से उन लोगों में होना चाहिए जो ग्रामीण क्षेत्र से सम्बद्ध रखते हों और वहां की जिन्दगी से जुड़े हों। ये ही वे लोग हैं जो ग्राम पुनर्गठन के किसी आन्दोलन के प्रति उपेक्षा या सन्देह के भाव उगाए बिना ग्रामीण इलाकों में अपने प्रभाव जमा सकते हैं।

मैं सोचता हूं कि लोगों के विचार औसत तौर पर उनकी आय के स्रोतों पर निर्धारित होते हैं, यह बात तभी पूरी तरह से स्थिर हो जाती है जब कहा जाता है कि पिछली पंजाब विधान सभा में कांग्रेस पार्टी के सभी सदस्यों ने, जिनमें से लगभग सारे शहरी हितों या गैर–कृषि वर्गों का प्रतिनिनित्व करते थे, मौलाना अबुल कलाम आजाद के स्पष्ट निर्देशों के बावजूद बंधक भूमि प्रत्यर्पण विधेयक और कृषि विपणन विधेयक का समर्थन करने से इंकार कर दिया था। टिप्पणी करना बेकार है, मैं यह पाठकों पर ही छोड़ता हूं कि वे उनके इंकार के कारणों के बारे में अटकल लगाएं। जब एक ऐसे युग में जिसमें हमारे नेता जी–जान से ग्रामीणों में नवजीवन का संचार करने में लगे हुए हैं और जबकि 'किसानों और मजदूरों का राज' की स्थापना हमारे सारे राजनीतिक कार्य का लक्ष्य है, इस तरह का आचरण उन लोगों का है जो समाजसेवी होने का दावा करते हैं, जो अपने को कांग्रेसी कहते हैं, तो हम उन साधारण लोगों से क्या अपेक्षा रख सकते हैं जो न तो सामाजिक कार्यकर्त्ता हैं न ही कांग्रेसी और जाहिर तौर पर जिनका जीवन लक्ष्य है खुद को बढ़ाना और चेतन या अचेतन रूप से अपने समूह की सहायता करना? मार्क्स ने यह विचार फैलाया था कि राज्य पर नियंत्रण रखने वाला वर्ग हमेशा अपने निजी हितों में

अपनी शक्ति का प्रयोग करेगा। हालांकि यह विचार चरम सिद्धान्त के रूप में अनौचित्यपूर्ण है, फिर भी सत्य का काफी बड़ा अंश इसमें निहित है।

यह कथन स्वतःसिद्ध है कि किसी सरकार की नीति और निश्चयों को केवल इच्छुक साधनों के जरिए ही लागू किया जा सकता है जो स्वयं ऐसी अन्तर्भावना से परिचालित होते हैं जिससे सरकारी प्रयासों को प्रेरणा मिलती है, क्योंकि महत्त्व हमेशा अन्तर्भावना का होता है, शब्द का नहीं जिसे आसानी से तोड़ा मरोड़ा जा सकता है। अपनी सूझबूझ से निर्णय लेने के अधिकार को आप परिपत्रों द्वारा चाहे जैसे भी और जितना भी सीमित करें या नियमों और अनुच्छेदों के जरिए नियंत्रित रखने के तरीके अपनाएं, वह काफी हद तक एक अफसर के पास हमेशा रहेगा। और यह एक तत्काल मान लेने योग्य बात होगी कि स्वविवेक सिर्फ सम्बद्ध अफसर की मानसिकता और वैयक्तिक साम्यता से परिचालित होगा—अवश्य ही मैं यह दुहराना चाहूंगा कि कुछ मान्य अपवादों को छोड़कर इस तरह के झुकाव आगे चलकर जाते या अनजाने खुद उसके या उसके समूह के हित द्वारा निर्धारित होने लगते हैं। और मैं यह कह दूं कि यही व्यक्तिगत और वर्गगत साम्यता पहले भी और आज भी विभिन्न राज्यों द्वारा जनता को राहत पहुंचाने या उसे केंचुली से बाहर निकलने में मदद करने के उद्देश्य से बनाए गए कई लाभकारी प्रावधानों और योजनाओं की व्यर्थता के लिए जिम्मेदार रही है। इसीलिए सरकार को चाहिए कि वह ऐसे ही प्रतिनिधि या एजेन्ट नियुक्त करे जो विश्वस्तता के साथ जनता की आकांक्षा को व्याख्यायित कर सकता हो, यानी इस कृषि प्रधान प्रदेश में ग्रामीण मानसिकता वाले अफसरों और कर्मचारियों की भर्ती आज की अपेक्षा कहीं ज्यादा बड़ी तादाद में की जाए।

अगर सार्वजनिक सेवाओं में ग्रामीण तत्त्व को पर्याप्त बल प्रदान किया जाता है तो इससे न केवल प्रदेश के प्रशासन को वांछित रूप से चलाया जा सकेगा, बल्कि आगे चलकर इसकी क्षमता में भारी वृद्धि होगी और ऐसा स्वस्थ आभामय वातावरण बनेगा जो किसी और उपाय से सम्भव नहीं। अपने आसपास के जिस वातावरण में किसान का बेटा पलता—बढ़ता है, वह उसे धैर्यशीलता, आंतरिक स्थिरता, दृढ़ मनोबल और ऐसी प्रशासनिक क्षमता प्रदान करता है जिन्हें निखारने या विकसित करने का कोई अवसर गैर—कृषक या शहरी आदमी के बेटे को सुलभ नहीं होता। कृषि एक ऐसा धन्धा है जिसमें प्रकृति से सामना होते रहने के कारण किसान को रोज सहनशीलता और धैर्य का सबक मिलता है और उसके भीतर कठोर श्रम झेलने की क्षमता विकसित होती है, यानी वह चारित्रिक गुण जो किसी अन्य धन्धे में लगे व्यक्ति के लिए सुलभ नहीं

होता। इसीलिए किसान के बेटे के पास कोई निर्णय लेने की वह क्षमता और दृढ़ता होती है जिसका गैर–कृषक में बहुधा अभाव होता है। संकट की स्थिति में उसके हाथों और दिल में कंपकंपी नहीं होती जैसा कि शहर के नाजुक मिजाज व्यक्ति के साथ अक्सर होता है। किसान का बेटा सिर्फ आदेश जारी कर ही निश्चिन्त नहीं होता बल्कि ईमानदारी और समुचित उत्साह के साथ उन्हें लागू कराता है, क्योंकि वह शहरी वर्गों से आए अपने साथी अफसरों की अपेक्षा ज्यादा सीधा–सादा और कम आडम्बर वाला और कम आरामपसन्द होता है। उसे पता नहीं होगा कि धोखा–धड़ी कैसे की जाती है या कम–से–कम इसे सफलतापूर्वक कैसे किया जा सकता है, क्योंकि उसके पिता (इसलिए कि वंशानुगत आधार को बिलकुल नकारा नहीं जा सकता) और वह खुद बचपन में ऐसे लोगों के साहचर्य में पले–बढ़े जो धरती, पौधों और पशुओं तक के साथ झूठ नहीं बोलते थे, जबकि गैर–कृषक और उसके बेटे को जीविकोपार्जन के क्रम में तकरीबन ऐसे ही लोगों से सम्बन्ध रखना पड़ता था जो एक–दूसरे से आगे बढ़ जाने की होड़ लगाए रहते और दुर्भाग्यवश, आपस में झूठ बोलते और छल करते थे। फिर, किसान का बेटा शायद शहरी आदमी की अपेक्षा भ्रष्टाचारी होने की कम गुंजाइश रखता है, क्योंकि उसका जीवन–स्तर अपेक्षाकृत निम्नतर और औसत जीवन–स्तर के ज्यादा करीब होता है तथा इसीलिए शहरी जीवन के आरामदेह वातावरण में पले आदमी की अपेक्षा उसे कम पैसे की जरूरत होती है। किसी तर्क को जीतना कठिन हो सकता है, लेकिन स्वस्थ आलोचना के स्वर को उस प्रसिद्ध अमेरिकी 'बिजनेसमैंस कमीशन ऑन एग्रीकल्चर' (कृषि का व्यवसासियों का आयोग) की नीचे दी गई राय से शांत हो जाना चाहिए जिसके सदस्यों में, जैसा कि नाम ही बताता है, एक भी कृषक नहीं थाः

> "सामाजिक दृष्टिकोण से ग्रामीण जीवन में वह अन्तर्निहित शक्ति है जो कहीं और नहीं मिल सकती। यह शायद स्पष्टतः साबित नहीं हुआ है कि जो मानवीय सामाजिक तत्व ग्रामीण परिवेश में विकसित होता है, वह शहर से निकलने वाले तत्व की अपेक्षा बेहतर किस्म का है, यद्यपि इस आशंका के कारण हैं कि यही सच है।" (पृष्ठ 152)।

मैं यहां एक और अकाट्य प्रमाण पेश करूंगा, जैसेः

> "लंदन में देहाती आबादी के लगातार आगमन पर अपने अध्ययन के फलस्वरूप सर नियुलिन स्मिथ ने आधी शताब्दी से भी ज्यादा पहले यह

बताया था कि कुल मिलाकर वे लोग शरीर से बहुत ही तगड़े हैं जो देहात को छोड़कर शहर आते हैं और उनकी बहुमूल्य मानसिक क्षमताएं इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि देहात में पले लोगों को लंदन में बहुधा ऐसे 'नियोजन' के लिए तरजीही दी जाती है जिसमें 'विशेष प्रकार की स्थिरता' की अपेक्षा रहती है और जिसके साथ 'विशेष दायित्व' जुड़े होते हैं।

"देहाती तत्त्व का प्रवाह जारी रहने से लंदन स्वस्थ और तगड़ा बना हुआ है यह बड़े शहर की जिन्दगी के हालात का परिणाम है कि पेशियों के बल और ऊर्जा की खपत हो जाती है, पहली की अपेक्षा दूसरी पीढ़ी के लंदनवासियों का शारीरिक गठन निम्नतर है और लगातार काम करने की क्षमता घटी हुई है।" (देखें: विलियम ऐश्ले द्वारा जुलाई 1923 में 'ब्रिटिश एग्रीकल्चरल ट्राइब्यूनल ऑफ इन्वेस्टिगेशन' को दिया गया ज्ञापन 'कंसीडरेशन ऑफ नेशनल हेल्थ')

एक दूसरा तर्क भी यह धरती को जोतने वाला ही है जो करों का बोझ झेलता है। सम्पत्ति का लगभग एकमात्र उत्पादक होने के नाते कर भी अंततः उसी पर लगते हैं। जहां तक प्रत्यक्ष कर की बात है, उसे लगान या भू–राजस्व और नहरी बकाये राज्य को चुकाने पड़ते हैं, उसके पास अधिक–से–अधिक 5 बीघा ज़मीन हो और उपर्युक्त बकाये चुकाने के बाद फालतू कुछ भी न बचे। दूसरी तरफ एक गैर–काश्तकार सिर्फ एक केन्द्रीय कर चुकाता है, वह भी तब जब उसकी सालाना आय 2,000 रुपये से आगे चली जाए। दोनों के बोझ में अन्तर इतना स्पष्ट है कि विस्तार में जाने की जरूरत नहीं। फिर भी यह घोर विषमता बहुत गम्भीर हो उठती है जब कोई यह अनुभव करता है कि रुपये का जो सबसे बड़ा भाग किसान की जेब से आता है, वह ऐसे युवकों को वेतन देने में खर्च हो जाता है जो उसके अपने नहीं हैं। इस तरह किसान के खेत की नमी सोख ली जाती है जो बजाए इसके कि उसकी कुटिया और गांव में लौटती, शहरों पर एक तरह से उर्वरशील बरसात बन जाती है। तो फिर यह दावा करना वाहियात होगा कि किसानों से उगाहे गये करों का कम–से–कम एक भाग तो उनके लड़कों के वेतन के रूप में उन्हें लौटा दिया जाए!

किसानों के बेटों के लिए सार्वजनिक नियोजनों में आरक्षण को उनके शैक्षणिक पिछड़ेपन के आधार पर भी उचित ठहराया जा सकता है, जिसके लिए खुद किसान नहीं बल्कि राज्य या समाज जिम्मेदार है। प्राथमिक के अलावा अन्य सारे शिक्षण संस्थान शहर में हैं और जहां

कम–से–कम माध्यमिक स्तर तक निःशुल्क शिक्षा सरकार की चिन्ता का विषय होना चाहिए, वहीं शहरी संस्थानों में इतने अधिक शुल्क लिये जाते हैं और छात्रावास का खर्च इतना अधिक होता है कि उसे वहन करना उस गरीब किसान के बस से बाहर की बात हो जाती है जो मुश्किल से अपने शरीर और जीवन की रक्षा कर पाता है। इन संस्थानों में दाखिला भी ग्रामीण क्षेत्रों से आये लड़कों को तभी मिल पाता है जब सारे शहरी लड़के दाखिल कर लिये जाते हैं। राजकीय कृषि महाविद्यालय, कानपुर जैसे संस्थान भी इसके अपवाद नहीं, जो खास तौर से ग्रामीणों या किसानों के हितों की देखरेख के लिए बने हैं।

क्यों? और यही हमें एक दूसरी दलील तक भी ले जाती है जो ऐसे आरक्षण के पक्ष में पेश की जा सकती है, जैसे कि 100 में से 90 प्रतिशत मामलों में संरक्षण के अधिकार शहरी या गैर–कृषकों के हाथों में हैं, सभी महत्त्वपूर्ण संस्थान ऐसे लोगों के हाथों में केन्द्रित हैं जिनका किसानों के साथ कोई नाता या दिलचस्पी नहीं है। दानशीलता हमेशा घर से शुरू होती है, जिन्हें दूसरों की सहायता करने का अधिकार है, वे पहले उनकी सहायता करेंगे जिनके साथ उनका खून का रिश्ता है या आर्थिक हित जुड़े हैं। नतीजा यह है कि ग्रामीण के बेटे को नौकरी पाने के लिये इस तरह की सुविधाएं नहीं हैं और ऐसे मामले कम नहीं होते जहां उससे कम योग्यता वाले को नौकरी मिल जाती है, क्योंकि ग्रामीण का बेटा ऊंचे–से–ऊंचे पद पर आसीन व्यक्तियों की सिफारिशें नहीं जुटा पाता। अतः खुले दरवाजे वाली मौजूदा नीति ज्यादातर मामलों में कोई अर्थ नहीं रखती, इसे तथ्यों से कोई वास्ता नहीं और इसे खत्म ही होना है।

ऐसे ही कारण हैं कि मैं उस वर्ग के हित में आरक्षण की बात पर जोर देता हूं जिन्हें राज्य के प्रशासन में उसकी अपेक्षा कहीं कम भागीदारी मिली, जो उन्हें मिलनी चाहिए थी और जिनके मामले में आज तक गलती की जा रही है।

जो लोग इस प्रस्ताव के विरोध में हैं वे कह सकते हैं कि खेतिहर वर्ग चूंकि मुख्यतः वंशानुगत आधार पर बनी कुछ जातियों के मेल से गठित है, इसलिए इससे तो एक और तरह का साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व देने जैसी बात हो जाती है–एक ऐसी बुराई जिसको प्रश्रय देने के बजाए कमजोर किया जाना है। इस प्रस्ताव को 'साम्प्रदायिक' कहना हालांकि जान–बूझकर लोगों को बहकावे में डालने का प्रयास है। उन लोगों की तरफ से तो विरोध का कोई स्वर उठता नहीं जिनका आज सार्वजनिक सेवाओं पर एकाधिकार है। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व सिर्फ वही है जो धर्म या जन्म से जानी जाने वाली जाति पर आधारित होता है। अगर कोई

चाहे तो इसे व्यावसायिक, कार्यकारी या पेशागत प्रतिनिधित्व कह सकता है, लेकिन किसी भी तरह से साम्प्रदायिक नहीं। आदमी जब तक आदमी है, एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच विचार–भेद हमेशा रहेगा। वर्गों या समूहों का भिन्न–भिन्न आर्थिक कार्यों में लगे रहना मानव समाज की एक अनिवार्य शर्त है, मानव जाति को सभी मामलों में बिलकुल एकरूप कभी नहीं बनाया जा सकता, न ही इस प्रकार की एकरूपता लाने का प्रयास वांछनीय है। फिर भी यह बात हमारे कहने की है कि हमारे राज्य या देश के सामाजिक या प्रशासनिक ढांचे में आदमी और आदमी के बीच जानने या पहचान करने का आधारभूत तत्त्व धर्म या जन्म होगा या कि उसका धन्धा और आर्थिक हित। जन्म पर आधारित जाति के दिन लद चुके हैं, इसे खत्म किया ही जाना है। मूलतः तिरस्कृत जाति तक का निर्धारण पेशे (प्रवृत्ति और खूबियां) के आधार पर किया जाता था, यह तो बहुत बाद में हुआ कि वह रूढ़िबद्ध हो गया और जन्म तक सीमित रह गया। यह सामान्य देखने योग्य बात है कि जाति का विचार किए बिना यदि लोगों को एक जैसे पेशे में या एक जैसी जीवन स्थितियों में डाल दिया जाए, तो उनकी प्रतिक्रिया लगभग एक जैसी होगी और समान आर्थिक जुड़ावों के चलते उनके भीतर भी वही मानसिकता विकसित होगी जो किसी पेशे के लिए आम होती है। चाहे जैसे भी हो; जो लोग कम–से–कम वर्ग संघर्ष में यकीन रखते हैं और हमेशा शोषकों के विरुद्ध किसानों और मजदूरों के अधिकारों की वकालत करते हैं, उन्हें इस प्रस्ताव समेत ऐसे सभी कदमों का समर्थन करना चाहिए जो आम लोगों के हितों को सुरक्षा प्रदान करने वाले हों। विभेदीकरण जन्म के बजाए पेशे से होने पर आधुनिक शक्तियों के कार्यों में गतिशीलता आती है। समाजवाद की दुहाई देने वाले शंकालुओं को शांत करने के लिए मैं सोवियत रूस का उदाहरण दे दूं। जून 1931 तक बुद्धिजीवियों, इंजीनियर, चिकित्सक, कॉलेज के प्रोफेसर, स्कूल अध्यापक के भी बच्चों को हालांकि उनके माता–पिता सरकारी सेवा में थे और नागरिक अधिकार उन्हें प्राप्त थे, विश्वविद्यालयों में दाखिला किसानों और कारखानों के मजदूरों का कोटा पूरा हो जाने के बाद ही मिलता था। (देखें: 'द ग्रेट ऑफेन्सिव', 1933, लेखकः मॉरिस हिंडस)

चाहे जैसे भी हो, यह व्यवहारिक नहीं है और न ही किसी न्यायसंगत तरीके से इसे उचित ठहराया जा सकता है कि लोक प्रशासन पर कुछ गैर–कृषक वर्गों के सदस्यों या शहर में रहने वालों का एकाधिकार रहे। लोकतंत्र का मतलब हर जगह आम लोगों की सरकार है न कि कतिपय भारत की तरह वंशपरम्परागत शासक जातियों या वर्गों, हिन्दुओं

या मुसलमानों का प्रभुत्व। इसीलिए विभिन्न आर्थिक और सामाजिक क्रियाशीलताओं वाले विभिन्न वर्गों के दावों का समानता के आधार पर समन्वय होना चाहिए, नहीं तो कटुता बनी रहेगी और बढ़ती जाएगी।

आलोचक टोक सकता है कि अगर आप सरकारी नौकरियों में किसानों के लिए आरक्षण की बात करते हैं तो बढ़ई, बुनकरों आदि के लिए क्यों नहीं? यह आलोचना उपहास की उपज है। प्रशासनिक सुविधा का सिद्धान्त सुनिश्चित और सभी प्रकार के तथ्यों और स्थितियों में लागू होने योग्य है; कोई भी ऐसा नहीं है जिसे इसका उल्लंघन करने पर हास्यास्पद स्थितियों में नहीं लाया जा सके। और, ग्रामीण या कृषक वर्ग के हित के लिए आरक्षण की वकालत जो यहां की जा रही है, वह इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं है। ये किसान ही हैं जो जनता–प्रजा–का रूप लेते हैं और सरकारी खजाने को भरते हैं और अगर रजामंद रहें तो किसी को भी दुःख नहीं पहुंचा सकते। बाकी सभी लोग बचे हुए 50 प्रतिशत में अपने अवसर तलाशें। बल्कि मैं तो कहूंगा कि कृषि विभाग और सहकारिता विभाग में खास तौर से कृषकों के बेटे ही नियुक्त किये जाएं। हमें इस सम्बन्ध में यह नहीं भूलना चाहिए कि यह प्रस्ताव अगर स्वीकृत हुआ तो इससे केवल भावी नियुक्तियां प्रभावित होंगी और सेवाओं के पूरे ढांचे में पचास या साठ प्रतिशत तक पहुंचते–पहुंचते एक पूरी पीढ़ी गुजर चुकी होगी।

सिद्धान्तकारों की यह दलील हो सकती है कि कैरियर का द्वार प्रतिभा के लिए, सिर्फ प्रतिभा के लिए खुला होना चाहिए, कि किसी वर्ग के पक्ष में आरक्षण की व्यवस्था होने पर क्षमता बुरी तरह प्रभावित होगी क्योंकि सर्वोत्तम लोगों के आने पर रोक रहेगी, कि लोकतंत्र का यह सार है कि सारे लोगों के साथ पूरी समानता बरती जाए, आदि–आदि। ऐसे कथन पर मेरा जवाब है कि प्रतिभा सिर्फ शैक्षिक या किताबी ज्ञान में नहीं होती, कि आदमी के सर्वोत्तम या कुछ और होने का निर्णय महज प्रश्न–पत्रों के उत्तरों के पूर्ववर्ती स्तर को देखते हुए नहीं बल्कि सिर्फ उसके उस काम के आधार पर किया जाना चाहिए जिसे निपटाने की उससे अपेक्षा की जाती है, और यह कि सार्वजनिक नियोजन में सभी लोगों के साथ समानता तब बरती जानी चाहिए जब समाज या लोकतांत्रिक सरकार अपने सारे लोगों को शिक्षा और प्रगति के समान अवसर दे चुकी हो। यह साफ–साफ अन्याय होगा कि पहले विशाल जनसमुदाय को आगे बढ़ने और ज्ञान प्राप्त करने के अवसरों से वंचित रखा जाए और फिर लोक प्रशासन से उन्हें अलग रखने को इस आधार पर उचित ठहराया जाए कि वे अयोग्य हैं। एकरूप शैक्षिक स्तर को तर्क–संगत तौर पर तभी

लागू किया जा सकता है जबकि समान सुविधाएं उपलब्ध कराई जा चुकी हों। क्षमता के मापदंडधारियों को यह भी गौर करना चाहिए कि कथित 'शैक्षिक योग्यता' की अनिवार्यता को बिल्कुल उपेक्षित कर देने का मेरा आग्रह नहीं है, केवल उन्हीं कृषक–पुत्रों को नियुक्त किया जाना चाहिए जिनके पास न्यूनतम शैक्षिक योग्यता हो या जिन्होंने किसी विशेष प्रकार का शैक्षिक स्तर प्राप्त कर लिया हो। यहां यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि कुछ खास क्षेत्रों में यह विश्वास जम चुका है कि पर्याप्त संख्या में अपेक्षित योग्यता रखने वाले युवक ग्रामीण क्षेत्रों से आगे नहीं आ रहे हैं; पहले तो यह बिल्कुल निराधार है, दूसरे, अगर वे नहीं आते तो खाली जगहें दूसरे वर्गों को मिलेंगी। मैं यह कह सकता कि खेतिहर वर्गों से उपयुक्त उम्मीदवार नहीं मिलने का तर्क केवल वे ही देते या दे सकते हैं जो संयुक्त प्रान्त के सिर्फ पूर्वी और मध्यवर्ती भागों से परिचित हैं, जहां शारीरिक श्रम को स्वर्ग से अवतरित ऊंची जाति के हिन्दू नीची निगाह से देखते हैं और इसीलिए सामाजिक श्रृंखला में धरती जोतने वाले किसान का स्थान वहां पश्चिमी भागों के किसान की अपेक्षा कहीं नीचे है।

एक आपत्ति यह भी उठाई जा सकती है कि यह अव्यावहारिक है; क्योंकि कई मामलों में यह निश्चित करना कठिन है कि कोई खास उम्मीदवार वास्तव में असली किसान का बेटा या आश्रित है या नहीं, इसलिए कि शहर में रहने वाले या किसी अन्य प्रकार का व्यवसाय करने वाले भी पटवारी के कागजात में किसान की हैसियत से दर्ज होते हैं। मेरा उत्तर है कि एक तो जिन लोगों ने जनगणना के दौरान खेती को अपने पूरक धंधे के रूप में दर्ज कराया, उनकी कुल संख्या आठ प्रतिशत से आगे नहीं जाती, दूसरे नियुक्तिकर्ता के मार्ग–दर्शन के लिए अनुभव के आधार पर क़ानून आसानी से बनाये या सुधारे जा सकते हैं। दुनिया–भर के राजनेताओं को अपने–अपने देश में इससे कहीं अधिक गम्भीर प्रशासनिक समस्याओं से जूझना पड़ा है और सन्तोषजनक ढंग से वे सुलझा भी ली गयी हैं। ध्यान देने योग्य बातों में प्रमुख यह कठिनाई ही थी जिसके चलते पंजाब सरकार को, जिसने 1938 से ही कृषक वर्गों के लिए सरकारी नौकरियों में 60 प्रतिशत आरक्षण देने की व्यवस्था कर रखी थी, जाति या धर्म का हवाला देते हुए कृषक की परिभाषा देनी पड़ी थी। मुझे उम्मीद है कि संयुक्त प्रान्त की सरकार वैसी गलती नहीं करेगी और राष्ट्रीय एकता की अपेक्षाओं के अनुरूप समस्या को सुलझाते हुए कृषकों के साथ न्याय करेगी।

मैं जानता हूं कि इस प्राचीन भूमि के शहरी लोग और देहाती लोग तथा सारे वर्गों के लोग हर अच्छे या बुरे काम में एक साथ रहने के लिए

बाध्य हैं और यह कि उनके बीच द्वेष उत्पन्न करना एक अपराध हैं लेकिन किसी–न–किसी बहाने ग्रामीण और खेतिहर वर्गों को–हमारे स्वास्थ्य की विरासत लिये चलने वाले और हमारे राष्ट्र की युवा शक्ति के स्रोत–अपने देश के प्रशासन में उनकी उचित भागीदारी से और इसी से सम्बद्ध सत्ता और संरक्षण से वंचित करना उससे बड़ा अपराध है। सार्वजनिक सेवा जहां हजारों–लाखों लोगों को आम जनता के औसत सदस्य से कहीं अधिक सुविधाएं देकर उनकी आर्थिक समस्या का समाधान करती है, वहीं यह राजनीतिक सत्ता और सर्वोच्चता का औजार भी है। इससे राष्ट्रवाद के उद्देश्य को रुकावट नहीं बल्कि गतिशीलता मिलेगी अगर सभी वर्गों के लोगों को यह अनुभव करने दें कि प्रशासनिक मशीनरी महज शहरी या गैर–कृषक लोगों का बन्द सुरक्षित स्थान नहीं है या शिक्षा और जीवन की सारी अच्छी चीजों पर मुट्ठी भर लोगों का एकाधिकार नहीं है, बल्कि वे धरती की सारी सन्तानों की विरासत हैं। अतः मौजूदा असन्तुलन को खत्म होना ही है।

यह हो सकता है कि पक्के लोकतंत्रवादी या दूसरे लोग व्यंग्यपूर्ण ढंग से ऊपर वर्णित आपत्तियों के अलावा कुछ और आपत्तियां गढ़ लें। हालांकि दलीलों पर दलीलें भी हैं, मैं सिर्फ यही कह सकता हूं कि कृषक समाज के जायज दावों को बहुत ही लम्बे समय से सम्पत्तिशाली और शिक्षित वर्गों–सुविधाभोगी और गैर–कृषक वर्गों–के हितों का पिछलग्गू बनाकर रखा गया है कि यह किसान ही हैं जो हर व्यक्ति के हित का मूल्य चुकाता है और प्रांतीय प्रशासन का लगभग पूरा बोझ अपने कंधों पर उठाता है। इसलिए ऐसे सभी लोगों को, जिनका प्रदेश के भाग्य–निर्माण में किसी प्रकार का नियंत्रण है तथा जो दिल से किसानों का हित चाहते हैं, यह देखना चाहिए कि सरकारी सेवाओं में नियुक्ति के मामले में उसके साथ न्याय हो। 'ह्वीट मार्केटिंग रिपोर्ट' के लेखक किसी अन्य सन्दर्भ में कहते हैं, "इस तरह के कार्य के अभाव में किसान के कल्याण की भावना को शक की नजर से देखा जा सकता है।" रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर के एक सदस्य और 'इण्यिन पीजेण्ट' के लेखक डॉ० एन० गांगुली भी उसी भाव से यह शिकायत करते हैं:

> "देश के सार्वजनिक क्षेत्र में शहरी तत्त्व का प्रभुत्व है। किसान की आवाज यहां सुनी नहीं जाती। फिर भी भारतीय जनता के लगभग पचहत्तर प्रतिशत का प्रतिनिधित्व करता है। ग्रामीण क्षेत्रों से आये कुछ कांग्रेस जनों को छोड़ यहां हर आदमी किसान की बस मुंह से सेवा करता है। कोई भी उसके हितों की चिन्ता करने वाला नहीं है।"

मैं जिस उद्देश्य की वकालत कर रहा हूं उसकी पूर्ति में मेरा यह कहना सहायक होगा कि मैंने कुछ भी नया या विस्मयकारी नहीं कहा है; कांग्रेस सरकार खुद अपने पिछले अल्पकालीन कार्यकाल के दौरान कुछ नौकरियों में आरक्षण के सिद्धान्त को स्वीकार किया था, इस रूप में कि विभिन्न विभागों की दस नौकरियों में से एक किसानों की सन्तानों के लिए आरक्षित रहे। यह आरक्षण हालांकि बहुत कम था और उस पर तुरंत ही यह एक बड़ा मजाक बनकर रह गया क्योंकि व्यवहारतः प्रशासन के सुर से इसका कोई मेल नहीं है। अगर इसे महज यों ही निष्प्रभावी नहीं रहने देना है और अगर यह वास्तव में कृषक वर्ग के लिए लाभकारी है, तो मैं चाहूंगा कि इसका विस्तार हो, उन्हीं कारणों से जिनसे हमारे नेता इस दिशा में सोचने लगे थे।

अन्त में, यही पिछली 29 जनवरी 1947 की बात है जब माननीय प्रधानमंत्री* पंडित गोविन्दबल्लभ पंत ने विभागीय अधिकारियों के लखनऊ में आयोजित विकास सम्मेलन के अवसर पर अपने उद्घाटन भाषण में सभी मानवीय सन्दर्भों में मनोवैज्ञानिक तत्व का प्रथम स्थान होने पर बल दिया था। राष्ट्र–निर्माण विभागों की लक्ष्यपूर्ति में विफलता पर बोलते हुए उन्होंने कहाः

> सारे विभाग यहां हवाबन्द डिब्बे की तरह हैं। हर विभाग एक कृत्रिम वातावरण में काम कर रहा है और बेचारा गरीब ग्रामीण कुछ ऐसे लोगों की परस्पर–विरोधी अपीलों से हैरान है जो वास्तव में न तो उसके खुद के जीवन में भागीदारी रखते हैं और न ही उसकी सेवा की भावना से अनुप्राणित हैं। आपको उसे यह अहसास करा देना है कि आप और हम उसके शुभचिन्तक हैं और उसकी सेवा के इच्छुक हैं। जब तक आप यह नहीं करेंगे, हमारी अपीलें व्यर्थ जायेंगी, इनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी। और, यह कहने के लिए मुझे क्षमा करें कि आप अपने कालरों, पैण्टों और टोपों से कोई सहज प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकते... मैं व्यक्तिगत रूप से सोचता हूं कि समय आ गया है जब हमारे अफसर दौरे पर निकलें तो सरकारी बंगलों (इन्सपेक्शन हाउस) में जाने के बजाए किसान परिवार के साथ रहें। इससे निश्चय ही कुछ असुविधाएं और दिक्कतें होंगी, लेकिन उनका काम बहुत ही आसान हो जाएगा। ये सब मामूली और छोटी–छोटी बातें हैं जो वास्तव में व्यक्तियों और समूहों की मानसिक रुझान को बड़ी और कठिनतम समस्या की तरफ ले जाती हैं। आप बस

---

* उन दिनों प्रदेशों के मुख्यमंत्री भी प्रधानमंत्री कहलाते थे।

> बटन दबाइए और देखें कि मीलों तक फैले क्षेत्र पर रोशनी जगमगा रही है। इसी तरह का मामला यहां है। अगर आप ठीक ढंग से बटन का प्रयोग करेंगे तो अपने चारों तरफ चमकता प्रकाश पायेंगे और आपको यह देखकर विस्मय होगा कि कितनी आसानी से आपने उसके मन और सोचने के ढंग को बदल दिया है।

प्रधानमंत्री ने उंगली सही जगह पर रखी है। हमारी सेवाएं जिस बीमारी से ग्रस्त हैं, उसका सही निदान किया गया है। लेकिन आदर के साथ मैं यह बताना चाहूंगा कि उनकी यह अपील हमारे अफसरों पर बेकार जाएगी। सिर्फ वे ही लोग किसान की जिन्दगी में भागीदारी कर सकते हैं या उसके साथ रात गुजार सकते हैं, जो घुटने तक धोती पहनने वाले किसान के घर में पला है। वे ही लोग आज सही बटन दबाकर उसके जीवन को आलोकित कर सकते हैं और उसके आस–पास के अंधेरे को दूर कर सकते हैं जो उसके आर्थिक हितों, सांस्कृतिक सम्बन्धों और मनोवैज्ञानिक सदृश्यता के जरिये जुड़े हुए हैं। वे ही लोग किसान या ग्रामीण के दिल को या उसकी कल्पना को छू सकते हैं जिनकी हर चीज के प्रति प्रतिक्रिया ठीक वैसी होगी जैसी उसकी, किसी भी तरह से भिन्न नहीं। अतः हमें एक कदम आगे बढ़ना है और उपदेश सुनने के लिए रुक नहीं जाना है; नियोजन के स्रोत को बदलना है।

लखनऊ

चरण सिंह
21 मार्च 1947

चौधरी चरण सिंहः एक परिचय

चौधरी चरण सिंह का जन्म 23 दिसम्बर 1902 को मेरठ उत्तर–प्रदेश के नूरपुर ग्राम में हुआ था। चौधरी साहब देश के उन प्रमुख राजनेताओं में थे, जो आजादी के पूर्व पैदा हुए थे। आजादी के बाद से 1970 के मध्य तक, वह उत्तर प्रदेश के बेहद प्रख्यात नेता रहे। इस दौरान उन्होंने उत्तर–प्रदेश विधान सभा में संसदीय सचिव, राजस्व मंत्री, सूचना, विधि एवं न्याय, कृषि, वन, सिंचाई एवं गृह जैसे महत्त्वपूर्ण मंत्रालयों का दायित्व संभाला और दो बार वह प्रदेश के मुख्यमंत्री रहे। 1977 में केन्द्र में आने से पूर्व वह उत्तर–प्रदेश विधान सभा में विरोधी दल के नेता थे।

चौधरी चरण सिंह ने उत्तरी भारत की पिछड़ी जातियों में राजनीतिक चेतना पैदा की और उन्हें सत्ता के नये शक्ति केन्द्र के रूप में उभारा। इसके परिणामस्वरूप हिन्दी भाषी क्षेत्रों में विपक्ष को सबल आधार मिला और छठे दशक के उत्तरार्द्ध में उत्तर–प्रदेश, मध्य प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान आदि राज्यों में संविद सरकारें अस्तित्व में आईं।

आपातकाल के बाद वह राष्ट्रीय राजनीति के फलक पर आये और देश के गृहमंत्री, वित्त मंत्री, उप प्रधानमंत्री तथा प्रधानमंत्री बने। जीवन के अंतिम 16 वर्षों में वह राष्ट्रीय स्तर पर किसानों, पिछड़ों और दलितों के निर्विवाद नेता रहे।

क्योंकि वह एक साधारण किसान परिवार से आए थे, अतः अभिजात्य वर्ग के लोगों ने, जिनका आर्थिक–सामाजिक रूप से आधिपत्य कायम है, उनका लगातार विरोध किया तथा उनके विरुद्ध प्रचार किया।

देश की बुनियादी समस्याओं पर चौधरी साहब की पकड़ थी। इन समस्याओं के बुनियादी चरित्र को दृष्टिगत रखते हुए ही उन्होंने अपने आर्थिक दर्शन की रचना की और उसका विकास किया। युवावस्था से ही चौधरी साहब ने देश की सामाजिक–आर्थिक समस्याओं पर लेख लिखने शुरू कर दिए थे। आर्थिक विचार–धारा पर लिखी उनकी पुस्तकें काफी लोकप्रिय हुई हैं, जिसमें 'इकोनॉमिक नाइटमेयर ऑफ इंडियाः इट्स कॉजेज एण्ड क्योर' (भारत की भयावह आर्थिक स्थितिः कारण एवं निदान) मील का पत्थर मानी जाती है। उल्लेखनीय है कि यह पुस्तक अमेरिका

के हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम में शामिल है।

दरअसल चौधरी साहब केवल राजनीतिज्ञ ही नहीं, एक चिंतक भी थे। किसान ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'चौधरी चरण सिंहः विशिष्ट रचनाएं' नामक पुस्तक इस बात का जीवंत प्रमाण है, जिसमें 50 वर्षों के दौरान सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों पर लिखे उनके लेखों को संकलित किया गया है। इस पुस्तक में लिखे लेख इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक मुद्दों पर उनके विचार कितने गम्भीर और व्यापक थे।

चौधरी चरण सिंह द्वारा रचित कृतियां

शिष्टाचार (1941)
एबोलिशन ऑफ जमींदारी (1947)
जमींदारी उन्मूलन (अनुदित)
हाउ टू एबोलिश जमींदारीः ह्विच एल्टरनेटिव
सिस्टम टू एडॉप्ट (1958)
एग्रेरियन रिवोल्यूशन इन यू० पी० (1958)
उत्तर–प्रदेश की भूमि व्यवस्था में क्रांति (1958)
हमारी गरीबी कैसे मिटे? (1961)
इंडियाज पॉवर्टी एण्ड इट्स सोल्यूशन (1964)
इण्डियाज इकोनॉमिक पॉलिसीः दि गांधियन ब्ल्यूप्रिंट (1978)
भारत की अर्थनीतिः गांधीवादी रूपरेखा (अनुदित)
इकोनॉमिक नाइटमेयर ऑफ इंडियाः इट्स कॉजेज एण्ड क्योर, प्रथम संस्करण (1981), द्वितीय संस्करण (1984)
भारत की भयावह आर्थिक स्थितिः कारण एवं निदान (अनुदित)
भारत का आर्थिक पतनः कारण एवं समाधान (1984)
राष्ट्र की दशा
प्रथम संस्करण (1985), द्वितीय संस्करण (1986)
लैण्ड रिफॉर्म्स इन यू० पी० एण्ड दि कुलक्स (1986)
आर्थिक विकास के सवाल और बौद्धिक दिवालियापन (1986)

'उत्तर प्रदेश में भूमि सुधार और कुलक वर्ग' चौधरी चरण सिंह की अंतिम कृति १९८७ में उनके निधन से एक साल पूर्व प्रकाशित हुई। यह पुस्तक तीन दशकों (१९३३–६९) के दौरान छोटे खेतों और काश्तकारों के पक्ष में चौधरी चरण सिंह के अथक संघर्ष और जमींदारी उन्मूलन के लिए उनकी लड़ाई का वर्णन करती है। उन्होंने यह लड़ाई जमींदारी अभिजात वर्ग के कड़े विरोध के बावजूद लड़ी और जीती।

चौधरी चरण सिंह ने भारत के सबसे बड़े भू–क्षेत्रफल और सर्वाधिक जनसंख्या वाले राज्य उत्तर प्रदेश में जमींदारी प्रथा को समाप्त करने के आंदोलन का नेतृत्व किया – पहले १९४६ में संसदीय सचिव और फिर १९५२ में राजस्व मंत्री के रूप में। उत्तर प्रदेश में भूमि स्वामित्व कानूनों का उनका अद्वितीय ज्ञान राजनीतिक विरोधियों के दृढ़ हमलों को रोकने में सहायक था। मुख्यमंत्री गोविंद बल्लभ पंत ने इस कार्य में उनका पूर्ण राजनैतिक और व्यक्तिगत समर्थन किया। चौधरी साहब ने १९५१ के जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार अधिनियम का हवाला देते हुए, जिसे उन्होंने शोध करके लिखा, कानून का रूप दिया और लागू किया, १९७९ में पंडित पंत के जन्मदिन के अवसर पर एक भाषण में कहा कि यह उनके राजनीतिक जीवन की सबसे गौरवपूर्ण उपलब्धि थी।

जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार अधिनियम ने छोटे पट्टेदार किसानों को उनके द्वारा जोती गई भूमि पर स्थायी और अविभाज्य अधिकार प्रदान किया। चौधरी चरण सिंह ने चकबंदी कानून १९५३ में पारित कराया और सुनिश्चित किया कि छोटे किसान लोकतंत्र और उच्च कृषि उत्पादकता का आधार बनें। उन्होंने दर्शाया कि किस प्रकार यह क़ानून ग्रामीणों और दलितों के हितों की रक्षा करते हुए शहरी व्यवस्था के भ्रष्टाचार और बड़े जमींदारों द्वारा किए गए दमन के विरुद्ध प्रभावशाली सिद्ध हुआ।

चौधरी चरण सिंह के लेखन में जोतदारों के दृष्टिकोण की गहरी समझ के साथ–साथ भारतीय ग्रामीण इलाकों के मनोविज्ञान और लोकाचार की गहन जानकारी भी है। चौधरी साहब ने अपने राजनीतिक समकालीनों में इस सहानुभूति की कमी महसूस की, चाहे वे पूंजीवादी थे या समाजवादी, और उन्होंने इन आलोचकों पर इस पुस्तक में कुलक होने का आरोप लगाया।

चरण सिंह अभिलेखागार
www.charansingh.org

ISBN 978-81-978355-7-5

Price ₹799